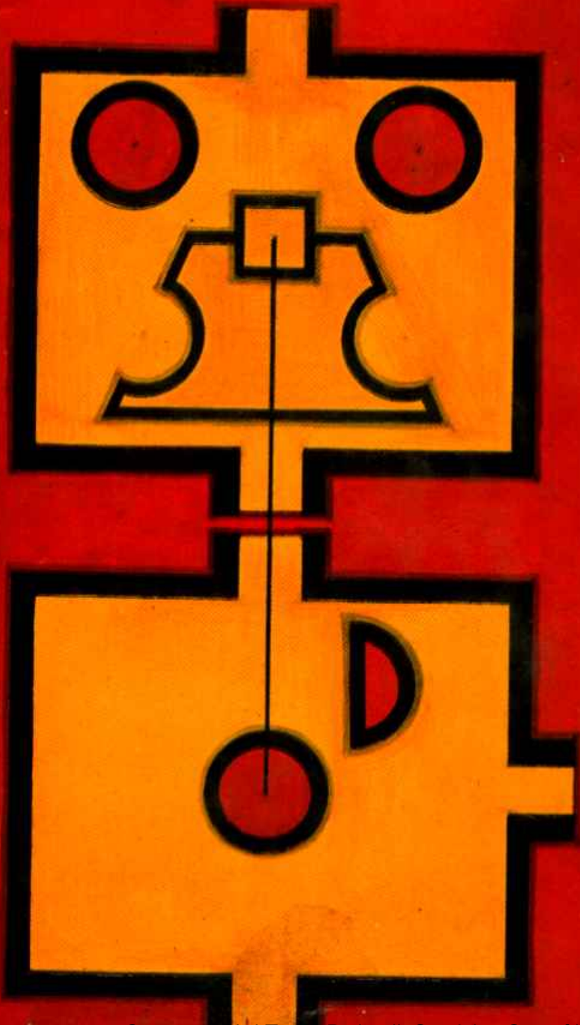
निगमागम संस्कृति

व्रजवल्लभ द्विवेदी





धर्म ग्रन्थमाला—३७

निगमागम संस्कृति

[निगमागम दर्शन, साहित्येतिहास, संस्कृत-संस्कृति और यात्राविषयक निबन्धों का संग्रह]

लेखक

प्रा० व्रजवल्लभ द्विवेदी दर्शनाचार्य

शास्त्रचूडामणि विद्वान्

राष्ट्रपति-पुरस्कृत राष्ट्रिय पण्डित, भूतपूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य, सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

वीरशैव अनुसन्धान संस्थान

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी

संवत् २०४९ वि०

प्रकाशक

वीरशैव अनुसन्धान संस्थान

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी।

प्रथम संस्करण

५५० प्रतियाँ

सन् १९९२

मूल्य — सजिल्द रु० १००.
अजिल्द रु० ७५.

मुद्रक

केशव मुद्रणालय

खजुरी, वाराणसी।

काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासन के ८६ वें पीठाधीश्वर

श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य

महास्वामीजी के करकमलों में पीठारोहण के

तृतीय वर्धापनोत्सव के शुभ अवसर पर

सादर समर्पित

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
(मनु० ३।५६)

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी॥
(मनु० ८ १३)

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥
(मनु० ८।१४)

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥
(मनु० १२।१०)

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
(मनु० १२।९१)

श्रीमत्काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु
डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का

शुभाशीर्वचन

आगम और तन्त्रशास्त्र के चूडामणि विद्वान् राष्ट्रिय पण्डित प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी के 'निगमागम संस्कृति' नामक ग्रन्थ का आमूलाग्र निरीक्षण किया गया। इसमें कुल ३७ उत्कृष्ट निबन्धों का संग्रह है। इनमें ९ निगमागमोक्त तत्त्वसम्बन्धी, १० इतिहास-साहित्य सम्बन्धी, ४ व्यक्तित्व और कृतित्व सम्बन्धी, ११ संस्कृत और संस्कृति सम्बन्धी तथा ३ यात्रा सम्बन्धी निबन्ध हैं। ये सभी निबन्ध निगम, आगम और भारतीय संस्कृति के परिचायक हैं, अतः इस ग्रन्थ का 'निगमागम संस्कृति' जो नाम रखा गया है, वह अत्यन्त उचित है।

संसार के चौरासी लाख जीवों में मानव को शास्त्रकारों ने श्रेष्ठ माना है। फिर भी मानवोचित धर्माचरण के अभाव में मानव मनुष्यत्व को खोता जा रहा है। इसे सुधारने के लिये ही भगवान् शिव के द्वारा निगमागमों का प्रादुर्भाव हुआ। निगम शिव के श्वासोच्छ्वास से निःसृत हैं, तो आगम उनके मुखारविन्द से उपदिष्ट हैं। निगमों में केवल त्रैवर्णिकों का मोक्षाधिकार प्रतिपादित है, लेकिन आगम मानवमात्र को मोक्षाधिकारी मानते हैं।

मोक्ष की प्राप्ति के लिये सदाचार और आत्मज्ञान की आवश्यकता होती है। इन दोनों का आधार किसी जाति को नहीं माना जाता। इसीलिये—

द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः॥

मुकुटसंहिता के इस वचन को उद्धृत करते हुए लेखक ने—"द्विज भी यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिये और म्लेच्छ यदि पवित्र मन का है, तो उसका संग्रह होना चाहिये" इस तरह आगमोक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है। यह सार्वभौम सिद्धान्त है।

आगम-साहित्य विपुल है। श्री सिद्धान्तशिखामणि में—

आगमा बहुधा प्रोक्ताः शिवेन परमात्मना।
शैवं पाशुपतं सोमं लाकुलं चेति भेदतः॥ (५।९)

इस तरह शिवोक्त आगमों को शैव, पाशुपत, सोम एवं लाकुल के नाम से चार प्रमुख भागों में विभक्त किया गया है। इनको पुनः वाम, दक्षिण, मिश्र और सिद्धान्त

के नाम से विभाजित किया गया है (सि० शि० ५।१०)। इनमें कामिक से वातुल पर्यन्त जो अठ्ठाईस शैवागम हैं, वे ही सिद्धान्तागम कहे जाते हैं। यह बात अघोर-शिवाचार्य के—"सिद्धान्तशब्दः पङ्कजादिशब्दवद्योगरूढ्या शिवप्रणीतेषु दशाष्टादशतन्त्रेषु प्रसिद्धः" इस उक्ति से सिद्ध होती है। इन अठ्ठाईस आगमों में कामिकादि १० शिवागम और विजयादि १८ रुद्रागम कहे जाते हैं। सिद्धान्त शैव इन अठ्ठाईस आगमों को द्वैतप्रतिपादक मानते हैं और काश्मीर शैव इनमें प्रारम्भिक १० आगमों को द्वैतपरक और अन्तिम १८ आगमों को द्वैताद्वैतपरक कहते हैं। समन्वयवादी वीरशैव आचार्य इन अठ्ठाईस आगमों की द्वैताद्वैतपरक व्याख्या करते हैं।

किसी भी सिद्धान्त के साथ विरोध प्रकट करने की अपेक्षा उनमें समन्वय साधन की दृष्टि अधिक लोकोपयोगी प्रतीत होती है। इसीलिये महर्षि व्यास ने पुराणसाहित्य में निगमागमों में बताये गये तत्त्वों को समन्वित करने की चेष्टा की है। यह समन्वय-प्रधान दृष्टि श्रीमद्भागवत, श्रीसिद्धान्तशिखामणि तथा तुलसीदास कृत रामचरित मानस आदि अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलती है। प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी जी का कहना है कि इस समन्वय दृष्टि को आगे कर हम आज भी धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष को दूर कर सकते हैं।

लेखक का यह विचार अत्यन्त उदार और लोकोपयोगी है। हम आशा करते हैं कि इस ग्रन्थ में समाविष्ट प्रत्येक निबन्ध में वाचकगण निगम, आगम, संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध श्रेष्ठतम विचारों से परिचित हो सकेंगे। हमारी दृष्टि में १-५, ४७-४८, ५४, ९१, १२८, १८०-१८१, १९२-१९३, २१९, २२४, २२७, २३१, २४९-२५०, २५५-२५६ इन पृष्ठों पर तथा अन्यत्र भी लेखक द्वारा प्रस्तुत निष्कर्ष विशेष रूप से अवधेय हैं। हम यह भी आशा करते हैं कि प्रो० द्विवेदी जी के द्वारा इसी तरह के उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना होती रहेगी और उसका समुचित लाभ समाज को मिलता रहेगा। इसके लिये भगवान् विश्वेश्वर, माता अन्नपूर्णा और जगद्गुरु श्रीविश्वाराध्य की कृपा से इनको आयुष्य और आरोग्य की प्राप्ति हो—

इत्याशिषः।



राज भवन
लखनऊ
दिसम्बर 8, 1992

दो-शब्द

पं० ब्रज-वल्लभ द्विवेदी द्वारा लिखित 'निगमागम संस्कृति' नामक पुस्तक 37 निबन्धों का एक संकलन है । सभी निबन्ध भारतीय संस्कृति एवं भारतीय दर्शन के परिचायक हैं। इनसे आत्मज्ञान, सदाचार एवं आध्यात्मिकवाद की शिक्षा मिलती है । इन लेखों में विभिन्न विषयों पर गहन जानकारी देते हुए वर्तमान समय से तुलना करते हुए अपने स्वच्छन्द विचारों की अभिव्यक्ति भी लेखक द्वारा की गई है। अधिकांश लेखों में विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों एवं धर्मावलम्बियों को समन्वित करने पर जोर डाला गया है।

आशा है इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकों को निगम, आगम, संस्कृत भाषा, भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध लोकोपयोगी विचारों को जानने एवं उनसे परिचित होने का लाभ प्राप्त होगा । इस पुस्तक की रचना लेखक का एक अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है और इसके लिये मैं उन्हें बधाई देता हूं ।

(बी० सत्यनारायण रेड्डी)
राज्यपाल, उ०प्र०

अपनी बात

मेरी प्रारम्भिक शिक्षा दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनों की संस्था में हुई। श्री मूलचन्द्र शास्त्री (श्रीमाली जैन) संस्कृत भाषा व व्याकरण के प्रथम गुरु थे। हमारे पितामह प० रघुनाथ द्विवेदी अजमेर के मैयो कॉलिज में प्राध्यापक व छात्रावास के संरक्षक थे। सजातीय होने के नाते इनका आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्दजी से तथा प्रसिद्ध इतिहासविद् और लिपिविशेषज्ञ म० म० श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी से निकट का सम्पर्क था। सन् १९३८ में वाराणसी आने से पहले मैं इनके सभी ग्रन्थों के अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता की ज्ञानेश्वरी टीका के गुजराती अनुवाद को तथा सम्पूर्ण महाभारत के हिन्दी अनुवाद को पढ़ चुका था। काशी आकर मैंने व्याकरण की शिक्षा प० श्री गोपालभट्ट भट्ट जी से ग्रहण की। दुर्भाग्य से ये अल्पायु हो गये। अनेक प्रकार के दबावों के बावजूद मैंने शास्त्री परीक्षा में व्याकरण के स्थान पर दर्शन विषय लिया। मेरे दर्शनशास्त्र के गुरु प० श्री ढुण्ढिराज शास्त्री जी तथा प० श्री रघुनाथ शर्मा जी थे। अध्ययनकाल और सेवाकाल में मेरा डॉ० मंगलदेव शास्त्री, श्रद्धेयचरण पद्मविभूषण म० म० प० गोपीनाथ कविराज, प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर, प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रो० डॉ० वे० राघवन् जैसे विद्वानों से विशेष सम्पर्क रहा है। बौद्ध धर्म-दर्शन और अभिधर्मकोश के प्रकाशन के प्रसंग में मेरा आचार्य नरेन्द्रदेव जी से परिचय हुआ। इनके साथ ही मैं प्रो० राजाराम शास्त्री और प्रो० मुकुटबिहारीलाल जी से भी परिचित हो सका। जगन्नाथपुरी के शंकराचार्य परमादरणीय श्री निरंजनदेव तीर्थ जी की तथा अनन्तश्री सनातनधर्म सम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज की मेरे ऊपर विशेष अनुकम्पा रही है। प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय मेरे वरिष्ठ शुभचिन्तक मित्र थे। मेरे विचारों पर इनमें से किसका कितना प्रभाव पड़ा, इसको बताने की स्थिति में मैं नहीं हूँ, किन्तु इतना स्पष्ट है कि मेरे लेखन में इनमें से प्रत्येक की स्पष्ट अथवा अस्पष्ट छाप मिल सकती है। मैं इन सबके प्रति नतमस्तक हूँ।

सन् १९४८ में मेरी नियुक्ति सरस्वतीभवन पुस्तकालय में हुई थी। बाद में "सारस्वती सुषमा" का सहसम्पादक बना। इन दिनों विविध विषयों पर मैं लिखा करता था। उनमें से अधिकांश निबन्ध इस संग्रह में संगृहीत हैं। ये निबन्ध प्रथमतः दैनिक 'आज' में छपे थे। इसके लिये मैं सर्वश्री लक्ष्मीशंकर व्यास, मोहनलाल गुप्त और विद्याभास्कर जी का आभारी हूँ। सन् १९५७ के बाद मैंने श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी का आशीर्वाद प्राप्त कर आगम और तन्त्रशास्त्र को अपने

अनुशीलन का विषय निश्चित कर लिया। तब मैंने देखा कि भारतीय संस्कृति का समग्र रूप तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि में ही तैयार हो सका है। श्रद्धेय कविराज जी के प्रयत्न से अब यह निश्चित हो चुका है कि सिद्धों, नाथों, सन्तों, गुरुओं और सूफियों के साहित्य का अजस्र प्रेरणास्रोत महाभारत, पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र से ही प्रवाहित हुआ है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में इस पूरे प्राचीन साहित्य का सतर्क अध्ययन अपेक्षित है। इसके लिये हमें आधुनिक विचारकों के उत्कृष्ट अवदानों को ग्रहण करने में भी किसी प्रकार का परहेज नहीं होना चाहिये। तभी हम अभिनव भारतीय संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। हिन्दी निबन्धों के मदीय दो संग्रहों को इस ओर किये गये लघु प्रयास के रूप में लिया जा सकता है। संस्कृत निबन्धों के प्रकाशनाधीन द्वितीय संग्रह में यह प्रयास अधिक मुखरित हो सका है।

भारतीय संस्कृति पर जाने-अनजाने चतुर्दिक् प्रहार हो रहे हैं। सुधारवादी आन्दोलन वेदान्त दर्शन के इर्द-गिर्द घूमा है और इसके कारण अनेक विसंगतियाँ उठ खड़ी हुई हैं। श्रमण-ब्राह्मण, आर्य-द्रविड़, वर्णव्यवस्था जैसी अनेक समस्याओं को जान-बूझ कर पुनः जिला दिया गया है, जिनका कि समाधान तान्त्रिक वाङ्मय ने एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया था। आज हम वेद-वेदान्त और आगम-तन्त्रशास्त्र की बुराइयों से घिर गये हैं और इनके उत्कृष्ट अवदानों को भुला बैठे हैं। बहुत स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि हमारी आक्रमणशील कुसंस्कारों को हजम करने की शक्ति अजीर्ण से ग्रस्त हो गई है। एक हजार वर्ष तक साथ रहने पर भी हम इसलाम की क्रूरता, हठवादिता और असहिष्णुता जैसे कुसंस्कारों को दूर नहीं कर सके हैं और उनके चिरप्रचारित भाईचारे के संदेश को भी इसलामिक घरौंदे से बाहर नहीं निकाल सके हैं। उलटे हम भी उन दूषणों से घिरते चले जा रहे हैं। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता को देखने वाले भारतीय दर्शन को एकेश्वर-वाद के समक्ष तुच्छ सिद्ध करने का अबाध प्रचार चल रहा है और ये एकेश्वरवादी कुसंस्कार इस पूरी दुनिया पर केवल अपना ही एकछत्र आधिपत्य जमाने को उद्यत हैं। छल-छद्म अथवा नकली दयाभाव के सहारे धर्मपरिवर्तन का चक्र इस संकल्प की पूर्ति के लिये निरन्तर चल रहा है। हम मूक दर्शक बने हुए हैं और चिरपुरातन होते हुए भी चिरनवीन उदारवादी भारतीय संस्कार इनका प्रतीकार करने में अपने को असहाय सा अनुभव कर रहे हैं। राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, सन्त कबीर, गुरु नानकदेव और महात्मा गांधी के देश की क्या यही नियति लिखी गई है?

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की कल्पना की गई है। धर्म इनमें प्रधान है। धर्मनियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मानव जाति सुख-शान्ति से रह सकती है। लौकिक दृष्टि से इसी को हम मोक्ष मान सकते हैं। योगी अरविन्द की कल्पना तभी साकार हो सकती है। किन्तु न मालूम किस



राज भवन
लखनऊ
दिसम्बर 8, 1992

दो-शब्द

पं0 ब्रज वल्लभ द्विवेदी द्वारा लिखित 'निगमागम संस्कृति' नामक पुस्तक 37 निबन्धों का एक संकलन है । सभी निबन्ध भारतीय संस्कृति एवं भारतीय दर्शन के परिचायक हैं। इनसे आत्मज्ञान, सदाचार एवं आध्यात्मिकवाद की शिक्षा मिलती है । इन लेखों में विभिन्न विषयों पर गहन जानकारी देते हुए वर्तमान समय से तुलना करते हुए अपने स्वच्छन्द विचारों की अभिव्यक्ति भी लेखक द्वारा की गई है। अधिकांश लेखों में विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों एवं धर्मावलम्बियों को समन्वित करने पर जोर डाला गया है।

आशा है इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकों को निगम, आगम, संस्कृत भाषा , भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध लोकोपयोगी विचारों को जानने एवं उनसे परिचित होने का लाभ प्राप्त होगा । इस पुस्तक की रचना लेखक का एक अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है और इसके लिये मैं उन्हें बधाई देता हूं ।

बी॰ सत्यनारायण रेड्डी

(बी0 सत्यनारायण रेड्डी)
राज्यपाल, उ0प्र0

अशुभ घड़ी में किये गये 'सेक्युलर स्टेट' के 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' अनुवाद ने पूरे देश को अनियन्त्रित अर्थ और काम के शिकंजे में फँसा दिया है। तथाकथित राजनेताओं और बुद्धिजीवियों में इसका प्रभाव तीव्र गति से बढ़ा है। धीरे-धीरे पूरा देश नैतिकता-विहीन होता चला जा रहा है। धन और विद्या को संमान मिले, इसमें किसको एतराज हो सकता है, किन्तु नैतिकताविहीन धन और विद्या से समाज का क्या कल्याण हो सकेगा? आज देश को चरित्रवान् अर्थपरिशुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता है। आगमिक संस्कृति ने कुल, जाति, धन और विद्या की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी है। आज उसी की देश को आवश्यकता है। इसके अभाव में नैतिकताविहीन अर्थ और अहंकार भरी विद्या से देश का हित कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

पुरातन की आज किस प्रकार उपेक्षा हो रही है, इसका एक अच्छा उदाहरण मनुस्मृति है। सनातन धर्म में विद्यमान सारे अनर्थों की जड़ आज इस स्मृति को मान लिया गया है। ऐसे महानुभाव आचार्य नरेन्द्रदेव की दी गई सनातन धर्म (भारतीय संस्कृति) की परिभाषा से अपरिचित हैं। सनातन धर्म के परिष्कार के लिये सम्पन्न हुए अन्य अनेक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में ही हम आर्यसमाजी विचारों की भी समीक्षा कर सकते हैं। भारत में सम्पन्न हुए, आजीवक, लोकायत, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि आन्दोलनों के उदात्त तत्त्वों को ग्रहण करने में सनातन धर्म ने कभी परहेज नहीं किया। सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने इसी दृष्टि का अनुसरण किया है। महात्मा गांधी और आचार्य नरेन्द्रदेव इसी परम्परा के प्रतिनिधि हैं। "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते" इसका आदर्श वाक्य है। यह किसी एक ग्रन्थ पर आधारित नहीं है, अथ च सभी उत्कृष्ट अवदानों को स्वीकार करने में कभी संकोच नहीं करता। जेन्दावेस्ता, बाइबिल और कुरान को भी वह उतनी ही महत्ता देता है। इसे हम विश्व का उदारतम धर्म (संस्कृति) मान सकते हैं। इस उत्कृष्ट अवदान को दिखाने के लिये ही हमने मनुस्मृति के कुछ महनीय वचनों को क्रम अथवा अक्रम से यहाँ संगृहीत किया है। आधुनिक प्रबुद्ध विचारक थोड़ा ठहर कर सोचेंगे कि क्या ये शाश्वत मूल्य कभी उपेक्षणीय हो सकते हैं?

अन्त में हम सर्वप्रथम इस संग्रह को विज्ञ जनता के समक्ष प्रस्तुत करने वाले जंगमवाड़ी मठ के वर्तमान कर्मठ चरित्र के धनी विद्यानुरागी ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी के पीठारोहण के तृतीय वर्षायनोत्सव के शुभ अवसर पर वाक्कुसुमों से अर्चना करते हैं। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री सत्यनारायण रेड्डी महोदय ने हमारी प्रार्थना पर 'दो शब्द' लिखना स्वीकार कर इस ग्रन्थ का जो गौरव बढ़ाया, इसके लिये हम उनके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय के सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग के प्राध्यापक डॉ० शीतला प्रसाद उपाध्याय ने पाठकों की सुविधा के लिये

इस ग्रन्थ की एक सुन्दर विषयानुक्रमणी तैयार कर दी है। इस शुभ कार्य के लिये हम उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं। इस संग्रह के दर्शन खण्ड के सभी निबन्ध तथा अन्यत्र के भी कुछ निबन्ध ग्रन्थ की प्रस्तावना के रूप में अथवा विभिन्न शोधपत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। कुछ निबन्ध विद्वद्गोष्ठियों में पढ़े गये हैं। यहाँ यथासम्भव उन-उन संस्थाओं और शोधपत्रिकाओं के नाम पादटिप्पणियों में देने का प्रयत्न किया गया है। हम उन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

निगमागम वाङ्मय और संस्कृति के उद्भट विद्वान् एवं अभिनव व्याख्याता श्रद्धेय गुरुचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज महोदय का नमन किये बिना यह वाक्कुसुमांजलि अधूरी ही रह जायगी, जिन्होंने कि ज्ञानांजनशलाका से हमारे चक्षुओं का उन्मीलन कर हमें अनुगृहीत किया। ज्ञानगुरु भगवान् काशी विश्वनाथ से हम यही प्रार्थना करेंगे कि योगी अरविन्द और श्रद्धेय कविराज जी की कल्पना की दिव्य मानवता इस धरा पर शीघ्र अवतरित हो। अखण्ड भारतीय संस्कृति ही इस दिव्य अवतरण का दृढ आधार बन सकती है।

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी — विद्वद्वशंवद

मार्गशीर्ष कृष्ण पंचमी, संवत् २०४९ — **व्रजवल्लभ द्विवेदी**

(१५-११-९२)

प्रकाशकीय

काशी जंगमवाडी मठ के शैवभारती भवन के द्वारा संचालित "शिवधर्म ग्रन्थमाला" के ३७वें पुष्प के रूप में "निगमागम संस्कृति" नामक ग्रन्थ को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थ के लेखक इस मठ के संमानित प्राध्यापक राष्ट्रिय पण्डित प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी हैं। समय-समय पर लिखे गये निगमागम दर्शन, इतिहास-साहित्य, व्यक्तित्व-कृतित्व, संस्कृत-संस्कृति और यात्रा सम्बन्धी हिन्दी भाषा में लिखे गये ३७ निबन्ध यहाँ संगृहीत हैं। श्री द्विवेदी जी के आगम-तन्त्रशास्त्र और संस्कृत-संस्कृति सम्बन्धी २६ हिन्दी निबन्धों का संग्रह पहले "आगम और तन्त्रशास्त्र" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसी तरह से "तन्त्रयात्रा" के नाम से इनका २९ संस्कृत निबन्धों और ४७ सामयिक टिप्पणियों का भी संग्रह प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत संग्रह एक प्रकार से उनका पूरक है।

प्रो० द्विवेदी जी ने आगम और तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध शाखाओं के ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद के साथ दो खण्डों (लगभग २३०० पृष्ठ) में वेदार्थपारिजातभाष्य की भूमिका का और आठ खण्डों में प्रकाशित वेदार्थपारिजात-भाष्य का भी सम्पादन किया है। यह भाष्य अनन्तश्री धर्ममूर्ति स्वामी करपात्री जी महाराज की अपूर्व कृति है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता पर यह भाष्य है। भाष्यभूमिका में स्वामी जी महाराज ने प्राचीन और आधुनिक वेदविषयक सभी मतों की समीक्षा करते हुए प्राचीन वैदिक सिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठा की है। इसी पद्धति पर निगमागम वाङ्मय के इस निष्णात विद्वान् के द्वारा उपस्थापित यह ग्रन्थ अपने में अपूर्व है। इसमें निगम और आगम संबन्धी अनेक तथ्यों की उद्भावना की गई है। इसके संस्कृति खण्ड में प्राचीन और नवीन मतों की समालोचना कर एक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति के स्वरूप को निखारने का प्रयत्न किया गया है।

हमें आशा है कि विद्वद्गण और आधुनिक विचारक भी यहाँ प्रदर्शित विचारों की तथ्यपरक समीक्षा प्रस्तुत कर इन विचारों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे, जिससे कि भारतीय संस्कृति सम्बन्धी आज की ज्वलन्त समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत किया जा सके। अन्त में हम उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल महोदय; संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के परम अनुरागी, माननीय श्री सत्यनारायण रेड्डी के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं कि उन्होंने इस ग्रन्थ पर 'दो शब्द' लिख कर हमें गौरवान्वित किया।

महेश्वरदेव, कार्यदर्शी
शिवधर्म ग्रन्थमाला, शैवभारती भवन
व मैनेजर जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी।

महाशिवरात्रि, संवत् २०४९

विषय सूची

निगमागम-दर्शन

इतिहास-साहित्य

व्यक्तित्व-कृतित्व

संस्कृत-संस्कृति

यात्रा

●

निगमागम संस्कृति

निगमागम-दर्शन

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
(मनु० १२।१०६)

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम्॥
(मनु० १२।१२२)

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥
(मनु० १२।१२३)

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥
(मनु० १२।१२४)

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥
(मनु० १२।१२५)

न्यायसिद्धांजन समीक्षा[1]

मानव जाति को धरोहर के रूप में प्राप्त ज्ञान और विज्ञान का, संकीर्ण परिधि को छोड़, निष्पक्षभाव से अध्ययन किया जाना चाहिये। प्राच्य और पाश्चात्त्य देशों के दर्शनों की अपनी अपनी परम्परा रही है एवं इनकी अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। इनका विकास परस्पर निरपेक्ष भाव से हुआ अथवा एक को दूसरे ने प्रभावित किया, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस विवाद में न पड़ कर प्राच्य और पाश्चात्त्य दर्शनों के सिद्धान्तों का यदि ऐतिहासिक क्रम से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो वह अधिक कल्याण-कारी होगा। समय और परिस्थिति के अनुसार मनुष्य के विचारों में परिवर्तन होता रहता है। दर्शनशास्त्र भी इस नियम से मुक्त नहीं है। आपाततदृष्ट्या भारतीय दर्शन इस नियम के अपवाद से प्रतीत होते हैं। रूढिवादी दार्शनिकों की कम से कम ऐसी धारणा है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। सूत्रकार कणाद और गौतम के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही आज नैयायिक को सर्वात्मना स्वीकार हों, ऐसी बात नहीं है। वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन, गंगेश आदि अनेक आचार्यों का उनके विकास में योगदान रहा है। भारतीय दर्शनों की यह विशेषता अवश्य है कि उनकी एक लम्बी परम्परा रही है और वह अब भी सुरक्षित है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि उस निश्चित रेखा पर चलने के कारण उनमें कोई विकास न हुआ हो, कोई नवीनता न आई हो। भारतीय चिन्तकों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का, उनके परस्पर के मतभेदों का सयूथ्यवाद के नाम से उल्लेख किया है। यदि किसी विशिष्ट आचार्य के मत से वे सहमत नहीं हैं, तो उनका अनादर नहीं करते, किन्तु ऐसे स्थलों पर वे 'प्रौढिवाद' पद का प्रयोग करते हैं। 'प्रौढिवादमात्रम्' पद का प्रयोग कर भारतीय दार्शनिकों ने सूत्रकारों और भाष्यकारों की भी आलोचना की है और इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर पूरी श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को आगे बढ़ाया है।

भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दो विभागों में बांटा जाता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा की आस्तिक दर्शन में तथा चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन की नास्तिक दर्शन में गणना की

१. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित न्यायसिद्धांजन की प्रकाशनाधिकारी के पद से चैत्रपूर्णिमा २०२३ वि० (५-४-१९६६) को पूरी की गई भूमिका।

जाती है। आस्तिक दर्शन के समान नास्तिक दर्शन की भी छः संख्या को पूर्ण करने के लिये बौद्ध दर्शन के चार उपभेदों—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—का परिगणन किया गया है। भारतीय दर्शनों का यह विभाग उनके क्रमबद्ध अध्ययन में अधिक सहायक नहीं हो सकता। कणाद, गौतम, कपिल, पतंजलि, जैमिनि और बादरायण के द्वारा छः दर्शनों की प्रवृत्ति हुई और इन दर्शनों का स्वतन्त्र विकास हुआ, किन्तु आज न्याय से वैशेषिक दर्शन की, सांख्य से योगदर्शन की अभिन्नता सी स्थापित हो गई है। पूर्व और उत्तर मीमांसा की भी अनेक मान्यताएँ समान हैं। परवर्ती काल में ब्रह्मसूत्रों पर अनेक भाष्यों की रचना हुई, किन्तु इनकी प्रमाण और प्रमेय मीमांसा पर न्याय-वैशेषिक दर्शन की प्रक्रिया की छाप अधिक स्पष्ट है। पूर्व मीमांसा से समानता आज शांकर वेदान्त की है। 'व्यवहारे भाट्टनयः' कहकर शांकर वेदान्तियों ने इसको स्पष्ट मान्यता दी है। बौद्ध दर्शन की चार धाराओं का पृथक् परिगणन नास्तिक दर्शन की भी संख्या को छः तक पहुँचा देने मात्र के लिये किया गया है, इसका अन्य कोई आधार या उपयोग नहीं है।

पालि साहित्य से ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय में अनेक दृष्टियाँ प्रचलित थीं। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में अजित केशकम्बल, पूरण कश्यप, पकुध कच्चायन, मंखलि गोसाल, संजय वेलट्ठिपुत्त और निगंठ नाथपुत्त आदि के सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। महाभारत और जैन साहित्य में भी उस काल में प्रचलित अनेक दृष्टियों का परिचय मिलता है। षड्दर्शनसमुच्चय[1] की गुणरत्न कृत टीका में ३६३ दृष्टियों का उल्लेख है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि औपनिषद दर्शन और सांख्यदर्शन की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी बुद्ध के समय में भारत में भी अनेक दृष्टियाँ उसी प्रकार प्रचलित और विकसित हो रही थीं, जैसे कि यूनान में। सूत्रकाल में भारतीय दर्शन ने नवीन परिवेष धारण किया। काल, स्वभाव, नियति और यदृच्छा तक को जगत् का कारण मानने वाली दृष्टियों का उल्लेख उपनिषदों[2] में भी मिलता है। सूत्रकारों

---

१. सूत्रकृदाख्ये द्वितीयेऽङ्गे परप्रावादुकानां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि परिसंख्यायन्ते। तदर्थसंग्रहगाथेयम्—

असिइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई।
अन्नाणिअ सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं॥ (पृ० १०)
[अशीत्यधिकं शतं क्रियावादिनामक्रियावादिनां भवति चतुरशीतिः।
अज्ञानिनां सप्तषष्टिर्वैनयिकानां च द्वात्रिंशत्॥ इति छाया।]

२. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
(श्वेताश्वतरोपनिषत् १।२)

के द्वारा विशिष्ट मतों की स्थापना किये जाने के बाद ये दृष्टियाँ धीरे धीरे लुप्त होने लगीं और इनमें से अनेकों का अब नाम भी उपलब्ध नहीं है। यूनान में भी इसी प्रकार अनेक दृष्टियों का उन्मेष हुआ था, किन्तु ग्रीक साम्राज्य और सभ्यता-संस्कृति के साथ ही वहाँ के दर्शन की धारा भी विच्छिन्न हो गई और उसको ऐसा कोई अवसर नहीं मिला, जिससे कि उसका निश्चित उद्देश्यों और लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर विकास होता। प्रकृतिगत वैचित्र्य भी इसमें कारण हो सकता है। भारतीय मनीषियों में व्यक्तिगत यशोलिप्सा की प्रवृत्ति नहीं रही है। अधिकांश भारतीय वाङ्मय में उसके यथार्थ रचयिता का नाम भी उपलब्ध नहीं होता। भारतीय साहित्य में व्यक्ति को महत्त्व न देकर परम्परा की महत्ता स्वीकार की गई है। इसके विपरीत पाश्चात्त्य साहित्य में व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। एक व्यवस्थित दार्शनिक परम्परा स्थापित करने की अपेक्षा उन्होंने व्यक्तिगत विचारों पर ही अधिक जोर दिया है। इसीलिये वहाँ न तो गुरु-शिष्य की ही कोई लम्बी परम्परा रही है और न किसी एक दर्शन या दृष्टि की ही परम्परा।

जिस काल में दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थों की रचना हुई, उस समय पांचरात्र और पाशुपत मत भी भारतीय साहित्य में पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनकी अपनी दृष्टि थी। परवर्ती शैव, शाक्त तथा वैष्णव आगम और दर्शन का इन्हींसे विकास हुआ। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हैं, उसको मिथ्या, क्षणिक या अलीक नहीं मानते। दर्शन की यह आगमिक धारा कुछ समय पहले तक यहाँ उपेक्षित सी थी। वस्तुतः इसके बिना भारतीय दर्शन का अध्ययन पूर्ण नहीं माना जा सकता। भारतीय दर्शन की सभी प्रवृत्तियों और धाराओं का वर्गीकरण करने के लिये इसका आस्तिक और नास्तिक भेद से किया गया विभाग अपर्याप्त है। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भेद से भी भारतीय दर्शनों का विभाग माना गया है। यह विभाग अधिक संग्राहक है। इसमें आगमिक दर्शनों का भी समावेश हो जाता है। सभी दर्शनों को निकट लाने में भी यह विभाग अधिक सहायक है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत दृष्टि में से किसी एक का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं को इन विभागों के अन्तर्गत बाँट कर यदि इनका ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन किया जाय तो वह अधिक तर्गसंगत, युक्तियुक्त और यथार्थ होगा। केवल भारतीय दर्शन ही नहीं, पाश्चात्त्य दर्शनों का भी इन्हीं दो वर्गीकरणों के अन्तर्गत अध्ययन नितान्त उपयोगी हो सकता है।

भारतीय दर्शन के उपर्युक्त वर्गीकरण के साथ ही उसके अध्ययन की रूढ़िवादी परिपाटी में भी परिवर्तन आवश्यक है। सुवर्ण तैजस है या पार्थिव ? वायु में गुरुत्व है या नहीं ? आदि अनेक विषयों को विज्ञान ने दर्शन की परिधि से हटा दिया है। भारतीय दार्शनिकों ने भी प्रत्यक्ष का प्रामाण्य सर्वोपरि माना है। प्रत्यक्षविरुद्ध तर्क या युक्ति का कोई अर्थ नहीं होता। यद्यपि नैयायिकों को प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान अधिक प्रिय है, किन्तु अनुमान का उपयोग वे [1]प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ में ही करते हैं। सांख्य[2] के मत से ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः गृहीत होता है। नैयायिक का कहना है कि यह परतः गृहीत होता है। बौद्ध कहते हैं कि अप्रामाण्य स्वतः गृहीत होता है और प्रामाण्य परतः। इसके विपरीत मीमांसक के मत में प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः गृहीत होता है। कुमारिल भट्ट अभिहितान्वयवादी हैं तो प्रभाकर अन्विताभिधानवादी। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं, तो मीमांसक नित्य। इस प्रकार के अनेक विषय हैं, जिन पर एक दार्शनिक से दूसरे दार्शनिक का मत भिन्न है। जयन्त भट्ट अपने पूर्ववर्ती स्वतःप्रामाण्यवादी दार्शनिकों की युक्तियों का खण्डन कर परतः प्रामाण्यवाद की स्थापना करते हैं, उसी प्रकार आज का नैयायिक भी परतः प्रामाण्यवाद पर किये गये आक्षेपों को सहन नहीं कर सकता। वस्तुतः इस खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया में ही भारतीय दर्शनों का विकास हुआ है। वाचस्पति मिश्र ने न्याय, योग, वेदान्त, मीमांसा, सांख्य सभी दर्शनों पर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इन सभी दर्शनों के साथ उन्होंने पूरा न्याय किया है। प्रत्येक दर्शन के समर्थन में उन्होंने अपनी नवीन युक्तियों की उद्भावना की है। यह सही है, किन्तु अब

---

१. प्रत्यक्षसिद्धमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः।

२. वदन्ति केचित् प्रामाण्यमप्रामाण्यमिति स्वतः।
उभयं परतः प्राहुरक्षपात्पक्षिलादयः॥
अप्रामाण्यं स्वतस्तत्र प्रामाण्यं परतो विदुः।
बौद्धा मीमांसकास्तत्र प्रामाण्यं तु स्वतो विदुः॥
अप्रामाण्यं तु परतः..............................।

(मानमेयोदय, पृ० १७६)

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥

(सर्वदर्शनसंग्रह, जैमिनिदर्शन, पृ० १०४)

केवल इतना ही पर्याप्त प्रतीत नहीं होता। नये शास्त्र, नये प्रश्न, नये तर्क, नई समस्याएँ हमारे सामने हैं। आज हमको अपनी पुरानी थाती का लेखा-जोखा कर आगे बढ़ना है। आज हमको देखना है कि किन-किन समस्याओं का समाधान इनमें हो चुका है और कौन दर्शन अधिक तर्कसंगत पद्धति से किस वस्तु को उपस्थापित करता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि कुछ समय के लिये हम नैयायिक और मीमांसक के घेरे से बाहर होकर ज्ञान के परतः प्रामाण्य और स्वतः प्रामाण्य जैसे अनेक विषयों के समर्थन और खण्डन में दी गई युक्तियों का अध्ययन करें और किसी स्वतन्त्र निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करें।[1] अध्ययन और विचार की इस पद्धति से नवीन भारतीय दर्शन का उद्भव होगा, जो कि नये प्रश्नों, नई समस्याओं को सुलझा सकेगा, जिसको कि आज का नवीन विज्ञान और चिन्तन नहीं कर पा रहा है।

पांचरात्र और पाशुपत आगम महाभारत काल में सुपरिचित थे। इनका अपना दर्शन था। वेद के समान ये भी स्वतः प्रमाण थे। इनके अनुयायी इन शास्त्रों का वेद से अधिक आदर करते थे। शैव, शाक्त और वैष्णव सभी आगमों में प्रायः यह मान्यता देखने को मिलती है। शैव, शाक्त और वैष्णव दर्शनों के विकास में प्रमुख स्थान इन्हीं शास्त्रों का रहा है। प्रस्थानत्रयी—वेद, उपनिषद् और भगवद्गीता—का सर्वोपरि प्रामाण्य शंकराचार्य ने स्थापित किया अथवा सम्भवतः इस स्थापना का आधार उनसे कुछ पहले ही बन चुका था। वैष्णव आचार्यों को भी अपने मत की प्रतिष्ठा के लिये इसको स्वीकार करना पड़ा। ब्रह्मसूत्र[2] की बोधायन वृत्ति, द्रमिलभाष्य और श्रीवत्सांक मिश्र

---

१. डॉ. सातकडि मुखोपाध्याय 'बौद्धन्याये प्रामाण्यविमर्शः' शीर्षक निबन्ध में उक्त विभाग से सहमत नहीं हैं। उनके मत में बौद्धों का एक अलग पक्ष है। इस मत से जैन, नैयायिक और वाचस्पति मिश्र भी सहमत हैं। इन पाँचों पक्षों में कौन पक्ष अधिक युक्तिसंगत है, इसको बताने का यहाँ प्रयास किया गया है। इसी पद्धति से भारतीय दर्शन का अध्ययन आज अपेक्षित है। द्रष्टव्य—सारस्वती सुषमा, वर्ष १५, अङ्क १–२, पृ० १–१७.

२. यतीन्द्रमतदीपिकाकार श्रीनिवासदास ने व्यास, बोधायन, गुरुदेव, भारुचि, ब्रह्मनन्दी, द्रविड़ार्य, श्रीपराङ्कुश (शठकोप), नाथ (मुनि), यामुनमुनि और यतीश्वर (श्रीरामानुजाचार्य) के मत के अनुसार अपने ग्रन्थ की रचना की है (द्रष्टव्य, पृ० २)। ग्रन्थ के अन्त में उन ग्रन्थों के भी नाम उल्लिखित हैं, जिनसे कि इस ग्रन्थ के निर्माण में सहायता ली गई हैं (द्रष्टव्य, पृ० १०१)। विशिष्टाद्वैत दर्शन में यतीन्द्रमतदीपिका का वही स्थान है, जो कि शांकर वेदान्त में वेदान्त-

का [1]विवरण आज उपलब्ध नहीं है। विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रेरणास्रोत ये ही ग्रन्थ थे। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी को अवश्य अंगीकार किया, किन्तु शांकर वेदान्त और वैष्णव वेदान्त के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर है। शांकर वेदान्त "व्यवहारे भाट्टनयः" कहकर व्यवहार में कुमारिल भट्ट की प्रमाण-मीमांसा को उसी रूप में स्वीकार करता है। सांख्यसम्मत पच्चीस तत्त्वों को भी वह अपने दर्शन में प्रायः उसी रूप में मान लेता है। इसके विपरीत वैष्णव वेदान्त की प्रमाण-प्रमेय-मीमांसा का आधार पांचरात्र संहिताएँ हैं। यहाँ आगम-सम्मत तीन ही प्रमाण-माने गये हैं। पच्चीस तत्त्वों का निरूपण सांख्य की प्रक्रिया से भिन्न पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुकूल है। पचीस तत्त्वों के अतिरिक्त नित्यविभूति, धर्मभूत ज्ञान आदि तत्त्वों का समावेश किया गया है, जिनकी कि सत्ता प्राकृत तत्त्वमण्डल से ऊपर आगमसंमत शुद्धाध्व में मानी गई है। रामानुज और माध्व दर्शन के तत्त्वों के प्रतिपादन की शैली पर न्याय-वैशेषिक प्रक्रिया का प्रभाव परिलक्षित होता है। नाथमुनि का न्यायतत्त्व आज उपलब्ध नहीं है। वेदान्तदेशिक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर इसको उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायसिद्धांजन की तत्त्वप्रक्रिया का मूल आधार यही ग्रन्थ था। नाथमुनि और वेदान्तदेशिक के बीच के काल में अनेक आचार्य[2] हुए हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि न्यायतत्त्व की रचना में यद्यपि पांचरात्र आगम-संमत तत्त्वप्रक्रिया को प्रधान स्थान दिया गया है, तथापि

परिभाषा और पञ्चदशी का, पूर्वमीमांसा में मानमेयोदय और अर्थसंग्रह का, सांख्य में सांख्यतत्त्वकौमुदी का और न्यायवैशेषिक में तर्कसंग्रह और कारिकावली का।

१. आत्मसिद्धि के प्रारम्भ में यामुनमुनि ने इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन इस प्रकार बताया है—"यद्यपि भगवता बादरायणेनेदमर्थान्येव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च तानि परिमितगम्भीरभाषिणा द्रमिडभाष्यकृता, विस्तृतानि च तानि गम्भीरन्याय-सारभाषिणा श्रीवत्साङ्कमिश्रेणापि; तथापि आचार्यटङ्क-भर्तृप्रपञ्च-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शङ्कर-श्रीवत्साङ्क-भास्करादिविरचितसितासितविविधनिबन्धनश्रद्धाविप्रलब्ध-बुद्धयो न यथावद् अन्यथा च प्रतिपद्यन्त इति युक्तः प्रकरणप्रक्रमः" (आत्मसिद्धि, पृ० १५-१७)। श्रीवत्साङ्क मिश्र और उनके विवरण का 'वेदान्तदेशिक ए स्टडी' में उल्लेख नहीं है। रामानुजाचार्य के शिष्य श्रीवत्साङ्क (कूरेश) निश्चय ही इनसे भिन्न हैं। विवरणकार राममिश्र द्वितीय भी यामुन के परवर्ती हैं, क्योंकि उन्होंने रामानुजाचार्य के वेदार्थसंग्रह की व्याख्या की है। श्रीवत्साङ्क मिश्र और उनके विवरण के सम्बन्ध में अभी खोज अपेक्षित है।

२. द्रष्टव्य—वेदान्तदेशिक ए स्टडी, पृ० ११४-१३६.

न्याय-वैशेषिक, भाट्ट एवं प्राभाकर मीमांसा का भी उसमें कम हाथ नहीं है। इसको आगे स्पष्ट किया जायगा।

ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य, योग, काणाद, बौद्ध और जैन दर्शन के साथ पाशुपत और पांचरात्र दर्शन का भी खण्डन किया गया है। यामुनमुनि ने आगमप्रामाण्य में पांचरात्र के प्रामाण्य की स्थापना का प्रयत्न किया है। रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य के पांचरात्राधिकरण की व्याख्या खण्डनपरक न करके मण्डनपरक ही की है और शंकराचार्य के द्वारा पांचरात्र आगम में उद्भावित दोषों का परिहार किया है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में नास्तिक धारा धीरे धीरे शुष्क होने लगी। आस्तिक धारा में भी स्वतन्त्र चिन्तन के स्थान पर प्रस्थानत्रयी का प्रामाण्य सर्वोपरि स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद के भारतीय दर्शन का विकास प्रस्थानत्रयी के घेरे में ही हुआ। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में समन्वय की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। जिज्ञासु के ज्ञान के विकास के लिये उसकी बौद्धिक स्थिति के आधार पर दर्शनों की श्रेणियाँ बना दी गईं। उदयन जैसा प्रसिद्ध नैयायिक भी "अलमार्द्रकवणिजो वहित्रचिन्तया"[1] (अदरख बेचनेवाला बनिया सामुद्रिक व्यापार की चिन्ता क्यों करे ?) कहकर वेदान्ती के सामने नैयायिक को छोटा मानने लगा था। इस परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि वेद का गौण प्रामाण्य स्वीकार करने वाले आगम-ग्रन्थों की स्थिति संदेह में पड़ जाय। इस क्षेत्र में भी समन्वय की प्रक्रिया काम करने लगी और स्वयं आगमानुयायियों ने ही वेद के बाद स्मृति के समान ही आगम के भी प्रामाण्य को स्वीकार कर लिया। वेदाविरोधी स्मृतिवचन ही प्रमाण माने गये। उसी प्रकार आगम के भी वे अंश ग्राह्य नहीं रहे, जो वेदविरोधी थे। आवश्यकता के अनुसार उनकी वेदानुकूल व्याख्या कर ली गई। आगम के अध्ययन में स्त्री-शूद्र का भी समान अधिकार था। ब्रह्मसूत्र के अपशूद्राधिकरण की व्याख्या वैष्णव आचार्य प्रस्थानत्रयी के नियन्त्रण में ही कर सके।

वेदान्तदेशिक के सामने दक्षिण भारत के सन्त आलवारों तथा उनके अनुयायियों की भक्तिभाव से पूरित तमिल रचनाओं और पांचरात्र संहिताओं का विशाल साहित्य एक ओर था, तो बादरायण के ब्रह्मसूत्र के बोधायन एवं द्रमिळाचार्य प्रभृति के भक्तिपरक व्याख्यानों के परिवेश में उपस्थित संपूर्ण वैदिक वाङ्मय, जिनमें कि उपनिषदों का प्राधान्य था, दूसरी ओर था। श्रीवैष्णव संप्रदाय में आलवारों के उपदेशों का भी वेदों के समान ही आदर है। ये द्रमिळोपनिषद् अथवा तमिलवेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। द्रमिळोपनिषद्

---

१. द्रष्टव्य—आत्मतत्त्वविवेक, पृ० २२३.

और वैदिक उपनिषदों में समन्वय स्थापित करने के कारण ही वेदान्तदेशिक को उभय वेदान्ताचार्य कहा गया है।

वेदान्तदेशिक वेंकटनाथ या वेंकटाचार्य के नाम से भी परिचित हैं। गुरु-परम्परा के अनुसार इनका जन्मकाल कलि संवत् ४३७१, शक संवत् ११९०, तदनुसार १२६८ ई० माना जाता है। माधवाचार्य (१३५० ई०) ने सर्वदर्शन-संग्रह[1] में वेंकटनाथ एवं उनके ग्रन्थ तत्त्वमुक्ताकलाप को उद्धृत किया है। वहाँ यह [2]ग्रन्थ तत्त्वमुक्तावली के नाम से उद्धृत है। संस्कृत भाषा में, तमिल भाषा और उसकी मणिप्रवाल शैली में वेदान्तदेशिक ने ११९ ग्रन्थ लिखे हैं। इनको मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, विशिष्टाद्वैत दर्शन और काव्य-नाटक आदि। इसमें श्रीवैष्णव संप्रदाय के धर्म और संस्कार सम्बन्धी छोटे छोटे ग्रन्थ, श्रीवैष्णव संप्रदाय को धार्मिक तथा दार्शनिक आधार प्रदान करने वाले सैद्धान्तिक ग्रन्थ, मौलिक दार्शनिक ग्रन्थ तथा टीका ग्रन्थ सभी समाविष्ट हैं। कांचीपुरी से वेदान्तदेशिक-ग्रन्थमाला का प्रकाशन हुआ है। इसमें वेदान्तदेशिक के संस्कृत भाषा के प्रायः सभी ग्रन्थों का उक्त तीन विभागों में प्रकाशन हुआ है। प्रथम विभाग में दार्शनिक ग्रन्थ और टीकाग्रन्थ, दूसरे विभाग में श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थ तथा तीसरे विभाग में स्तोत्र, काव्य, नाटक, आदि का समावेश है।

वेदान्तदेशिक ने पांचरात्ररक्षा में विरोधी वादों का निराकरण कर पांचरात्र का प्रामाण्य तो स्थापित किया ही है, इस ग्रन्थ से पांचरात्र आगम, उसके प्रतिपाद्य विषय और साहित्य का भी पूरा परिचय मिलता है। इनके निक्षेपरक्षा, सच्चरित्ररक्षा, द्रमिळोपनिषत्सार, द्रमिळोपनिषत्तात्पर्यरत्नावली आदि ग्रन्थों में श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, तमिलवेद और उनके सिद्धान्तों का विशद निरूपण हुआ है। वेदान्तदेशिक ने रामानुजाचार्य के सभी ग्रन्थों पर टीका-ग्रन्थ लिखे हैं। इनसे आचार्य के वैदिक साहित्य के बहुमुखी ज्ञान का परिचय मिलता है। शतदूषणी, तत्त्वमुक्ताकलाप, न्यायपरिशुद्धि और न्यायसिद्धांजन वेदान्तदेशिक के मौलिक ग्रन्थ हैं। शतदूषणी में शंकर, भास्कर और यादव-प्रकाश के मतों के खण्डन के प्रसंग में १०१ दोष उपस्थापित किये थे। आजकल इनमें से केवल ६६ दूषण उपलब्ध होते हैं। स्रग्धरा छन्द में निबद्ध ५०० श्लोकों का ग्रन्थ तत्त्वमुक्ताकलाप जडद्रव्यसर, जीवसर, नायकसर, बुद्धिसर और अद्रव्यसर नाम के पाँच विभागों में बँटा है। इस पर स्वयं आचार्य ने सर्वार्थ-

१. द्रष्टव्य—सर्वदर्शनसंग्रह, आनन्दाश्रम, पूना संस्करण, पृ० ४१-४३.

२. द्रष्टव्य—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४१.

सिद्धि नाम की व्याख्या की है। न्यायपरिशुद्धि में विशिष्टाद्वैत-संमत प्रमाण-मीमांसा का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रमेयाध्याय में ग्रन्थकार ने संक्षेप में प्रमेयमीमांसा भी की है। प्रमेयमीमांसा का विस्तार से निरूपण करने के लिये ग्रन्थकार ने न्यायसिद्धांजन की रचना की[1]। तत्त्वमुक्ताकलाप भी प्रमेयमीमांसा-प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कई ऐसे विषयों पर भी विचार किया गया है, जिनका कि न्यायसिद्धांजन में उल्लेख नहीं है। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में जैसे उनके पूर्ववर्ती अनेक शास्त्रों और आचार्यों का उल्लेख मिलता है, उसी तरह वेदान्तदेशिक के इन ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत के आचार्यों, उनके ग्रन्थों और मतों की एक लम्बी परम्परा सुरक्षित है, जो कि अन्यथा विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई होती।

न्यायसिद्धांजन में ६ परिच्छेद हैं—१. जडद्रव्य परिच्छेद, २. जीव परिच्छेद, ३. ईश्वर परिच्छेद, ४. नित्यविभूति परिच्छेद, ५. बुद्धि परिच्छेद और ६. अद्रव्य परिच्छेद। तत्त्वमुक्ताकलाप में नित्यविभूति का निरूपण नायकसर में ही किया गया है। न्यायसिद्धांजन के इन परिच्छेदों के प्रतिपाद्य विषय यहाँ संक्षेप में दिये जा रहे हैं।

१. जडद्रव्य परिच्छेद

सम्पूर्ण चेतन (चित्) और अचेतन (अचित्) विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म ही केवल एक तत्त्व है। तत्त्व पुनः द्रव्य और अद्रव्य भेद से दो प्रकार का होता है। द्रव्य ६ प्रकार का है—१. त्रिगुण अर्थात् प्रकृति, २. काल, ३. जीव, ४. ईश्वर, ५. नित्यविभूति और ६. धर्मभूत ज्ञान। कतिपय विद्वान् द्रव्य का तीन प्रकार से विभाजन करते हैं, यथा १. त्रिगुण, २. जीव और ३. ईश्वर। जो द्रव्य दूसरे से प्रकाशित होता है, वह जड है। प्रकृति और काल जड द्रव्य हैं, क्योंकि ये धर्मभूत ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। अजड द्रव्य में जीव, ईश्वर, नित्यविभूति और धर्मभूत ज्ञान का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि ये चारों स्वयं-प्रकाश पदार्थ हैं।

इस परिच्छेद में प्रकृति और काल का विस्तार से निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने बताया है कि बौद्ध दार्शनिक द्रव्य, अद्रव्य आदि विभागों को स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार शंकराचार्य के मत में निर्विशेष ब्रह्म ही एक-मात्र तत्त्व है, जगत् भ्रान्तिस्वरूप है—इन दोनों ही मतों का खण्डन कर ग्रन्थ-

---

१. यन्न्यायपरिशुद्धयन्ते संग्रहेण प्रदर्शितम् ।
पुनस्तद्विस्तरेणात्र प्रमेयमभिदध्महे ॥ (पृ० २)

कार ने द्रव्यों की स्थिरता को स्थापित किया है। इसी प्रसंग में प्रबल युक्तियों के आधार पर क्षणभंगवाद और शून्यवाद का निराकरण किया गया है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया और अविद्या के नाम से अभिहित है। प्रकृति ही अवस्था के भेद से २४ तत्त्वों के रूप में परिणत होती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रकृति तो निरवयव है, उसका परिणाम कैसे संभव है, यह कल्पना तो विवर्तवाद का स्मरण दिलाती है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। जिस प्रकार निरवयव अणु एवं विभु द्रव्यों में प्रदेश-विशेष में संयोग और शब्द इत्यादि की उत्पत्ति मानी जाती है, उसी प्रकार निरवयव प्रकृति में भी प्रदेश-विशेष में विकार उत्पन्न हो सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः वेदान्ती प्रकृति को सावयव मानते हैं। सांख्य-संमत प्रकृति से इनकी प्रकृति का स्वभाव भिन्न है। इस सावयव प्रकृति से ही निखिल जगत् की सृष्टि होगी। अतः इसके लिये परमाणु के उपादान की आवश्यकता नहीं है। जिसमें सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में हों, वही मूल प्रकृति है। गुणसाम्यावस्था के बने रहते ही मूलप्रकृति की स्वल्प अन्तराली अवस्थाएँ होती हैं। इनके नाम अव्यक्त, अक्षर, विभक्त तम और अविभक्त तम हैं।

महत्, अहंकार, इन्द्रिय आदि का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने एतत्सम्बन्धी सांख्य और शैवागम के मन्तव्यों की आलोचना की है। भट्ट पराशर के तत्त्वरत्नाकर तथा नाथमुनि के न्यायतत्त्व के आधार पर यहाँ प्राकृत मन एवं प्राकृत श्रोत्रेन्द्रिय की स्थापना की गई है तथा वैशेषिकों के इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं। वैशेषिक कर्मेन्द्रियों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार आचार्य यादवप्रकाश मानते हैं कि कर्मेन्द्रियों का प्रत्येक शरीर में उत्पत्ति-विनाश होता रहता है। इन मतों का खण्डन करने के बाद सौगत, चार्वाक आदि के द्वारा प्रस्तुत इन्द्रिय सम्बन्धी मतों की भी यहाँ आलोचना की गई है।

पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत की सृष्टि के प्रसंग में सांख्य और वैशेषिक मत का खण्डन कर इनका विशिष्टाद्वैत-संमत स्वरूप स्पष्ट किया गया है। प्रसंगवश आकाश आवरणाभाव रूप है, इस बौद्ध मत की आलोचना की गई है। पृथिवी के निरूपण के अवसर पर तम को पार्थिव द्रव्य माना गया है। यहाँ न्याय-वैशेषिक तथा प्राभाकर मत की युक्तियों का खण्डन कर ग्रन्थकार ने यह दिखलाया है कि तम का द्रव्यत्व आगम से भी सिद्ध होता है।

प्रकृति और प्राकृत तत्त्वों का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार ने शैवागम-संमत षट्त्रिंशत्तत्त्ववाद का खण्डन करते हुए शुद्ध तत्त्वों का ईश्वर में तथा अन्य तत्त्वों का प्राकृत तत्त्वों में ही अन्तर्भाव दिखाया है। शैवागम और

वैशेषिक संमत काल-स्वरूप का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत-संमत काल-स्वरूप का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार ने पुनः तत्त्वों की संख्या के सम्बन्ध में महाभारत का प्रमाण प्रस्तुत किया है। पंचीकरण प्रक्रिया और ब्रह्मांड का निरूपण करने के बाद दिक् तत्त्व का निरूपण किया गया है। विशिष्टाद्वैत-संमत पंचीकरण प्रक्रिया में नैयायिक जातिसंकर दोष की उद्भावना करते हैं। इसके परिहार के प्रसंग में नैयायिक-संमत अवयवी वाद का खण्डन किया गया है। अन्त में पुनः ब्रह्मांड के निरूपण के प्रसंग में नैयायिक-संमत शरीर-लक्षण का खण्डन कर शरीर के भेदोपभेदों का वर्णन किया गया है। व्यष्टि जीवों के शरीर में ईश्वरशरीरता किस प्रकार निष्पन्न होती है, इस सम्बन्ध में कई मतों का उल्लेख कर यह परिच्छेद समाप्त किया गया है।

२. जीव परिच्छेद

प्रारम्भ में जीव का लक्षण दिया गया है। इसके बाद इसकी देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, ज्ञान आदि से भिन्नता सिद्ध की गई है। ज्ञानात्मवाद के खण्डन के प्रसंग में ग्रन्थकार ने बौद्ध और शांकर अद्वैतवाद का निराकरण करके आत्म-स्वरूप के विषय में यामुनमुनि के वचनों को उद्धृत किया है। आत्मा में स्थिरता, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, स्वयंप्रकाशत्व, नित्यत्व, नानात्व और अणुत्व की सिद्धि के प्रसंग में श्रुति, स्मृति और युक्तियों पर आधृत यामुनमुनि, वरदनारायण, विष्णुचित्त, वरदविष्णु आदि के मन्तव्य उपस्थापित किये गये हैं। जीव ईश्वर से भिन्न है तथा परस्पर भी भिन्न है, इसका प्रतिपादन करने के प्रसंग में भास्कर के भेदाभेदवाद की आलोचना की गई है।

मोक्ष-प्राप्ति के उपाय की चर्चा के प्रसंग में भक्ति और न्यासविद्या, अर्थात् प्रपत्ति का निरूपण किया गया है। न्यासविद्या के महत्त्व को बताने के बाद उत्क्रान्ति और अर्चिरादि गति का निरूपण किया गया है। मोक्ष के सायुज्य आदि भेदों के प्रसंग में भगवत्कैंकर्य की परमपुरुषार्थता सिद्ध कर मोक्षविषयक मतान्तरों का निराकरण किया गया है। यामुनमुनि ने कैवल्य मोक्ष का प्रतिपादन किया है। कुछ आचार्यों के अनुसार श्रीभाष्यकार रामानुज भी इससे सहमत हैं। ग्रन्थकार ने इस सम्बन्ध में अपना विशिष्ट मत स्थापित किया है।

३. ईश्वर परिच्छेद

ईश्वर का लक्षण बताने के बाद प्रधान, ब्रह्मा, रुद्र आदि में ईश्वरत्व का खण्डन करके केवल नारायण को ही यहाँ ईश्वर माना गया है। भगवान् सर्वत्र अपने पूर्ण रूप में विराजमान रहते हैं। इस प्रसंग में आई अनेक शंकाओं का समाधान करने के बाद ग्रन्थकार ने वेदान्त-संमत निर्गुण ब्रह्मवाद

और ब्रह्म में प्रपंच के अध्यासवाद का खण्डन किया है। शंकर, भास्कर और यादवप्रकाश के मत में ब्रह्म में जगत् का उपादानत्व सिद्ध नहीं हो सकता, साथ ही इनके मतमें ब्रह्म और जगत् का सामानाधिकरण्य भी सम्भव नहीं है, इसका विस्तार से प्रतिपादन करने के बाद ग्रन्थकार ने भेदाभेदवाद का खण्डन किया है और कहा है कि हमारे मत में ब्रह्म त्रिविध परिच्छेद (देश, काल एवं वस्तु) से रहित है। पातंजल योग, शैव और वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को जगत् के प्रति केवल निमित्तकारण माना जाता है। इसको अस्वीकार करते हुए ग्रन्थकार ने नैयायिक-संमत ईश्वर की अनुमेयता का खण्डन किया है। इस प्रकार ईश्वर में जगत् की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता स्थापित करने के बाद अन्त में श्रीतत्त्व का संक्षेप में निरूपण हुआ है। साथ ही पांचरात्र आगम में प्रतिपादित ईश्वर सम्बन्धी कुछ उल्लेखनीय विषयों का भी दिग्दर्शन कराया गया है।

४. नित्यविभूति परिच्छेद

ईश्वर की नित्यविभूति क्या है ? इसमें क्या प्रमाण है ? आदि शंकाओं का समाधान इस परिच्छेद में किया गया है। ईश्वर की नित्यविभूति के अनन्त भेद हैं। यह अचेतन होते हुए भी स्वयंप्रकाश है। मुक्त जीव, नित्य सूरि और ईश्वर में कादाचित्क इच्छा और संकल्प इत्यादि का उन्मेष किन्हीं विशेष कारणों से ही होता है। पांचरात्र आगम में प्रदर्शित सूक्ष्म (पर), व्यूह और विभव इत्यादि भेद ईश्वर के शरीर में नित्यविभूति के कारण ही होते हैं।

५. बुद्धि परिच्छेद

विशिष्टाद्वैत दर्शन में बुद्धि अथवा ज्ञान धर्मभूत ज्ञान के नाम से अभिहित है। यह स्वयंप्रकाश है। भाट्ट मीमांसक ज्ञान को प्राकट्य से, अर्थात् विषयप्रकाश से अनुमित मानते हैं। विशिष्टाद्वैती इस मत को स्वीकार नहीं करते। भट्ट पराशर ने तत्त्वरत्नाकर में संवित् को स्वयंप्रकाश माना है। ज्ञान में संकोच और विकास इनको मान्य है। धारावाहिक ज्ञान के विषय में विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में दो मत प्रचलित हैं, एक मत वरदनारायण भट्टारक के प्रज्ञापरित्राण में देखने को मिलता है, दूसरा मत श्रीभाष्यकार रामानुज का है। ज्ञान में प्रत्यक्ष, अनुमान आदि विभाग औपाधिक हैं। इसका प्रतिपादन करने के बाद ग्रन्थकार ने बुद्धि से संबद्ध बारह प्रश्नों को उपस्थापित करके विस्तार से उनका समाधान किया है। सुखदुःखादि बुद्धि के ही विशेष प्रकार हैं, यह बताते हुए ग्रन्थकार ने नैयायिकों के इस मत का खण्डन किया है कि ये आत्मा के गुण हैं। ईश्वर का ज्ञान इच्छा आदि के रूप में किस प्रकार परिणत हो जाता है, यह बताने के बाद ग्रन्थकार ने सिद्ध किया है कि अदृष्ट ईश्वर की प्रीति और कोप से भिन्न

कोई अलग वस्तु नहीं है। अन्त में बताया गया है कि भरत के नाट्यशास्त्र एवं अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में प्रतिपादित रति आदि स्थायीभाव भी बुद्धि के परिणामविशेष ही हैं।

६. अद्रव्य परिच्छेद

विगत पाँच परिच्छेदों में द्रव्य पदार्थ का प्रतिपादन किया गया है। अब इस अन्तिम परिच्छेद के प्रारम्भ में अद्रव्य का लक्षण बताते हुए उसके १० भेदों का परिगणन किया गया है। वे हैं—सत्त्व, रज और तम; पाँच शब्दादि विषय, संयोग और शक्ति। दस प्रकार के इन अद्रव्य पदार्थों का विस्तार से वर्णन करने के प्रसंग में ग्रन्थकार ने शब्द के विषय में अनेक पक्षों की उपस्थापना की है। यहीं वर्ण और मन्त्र पर भी विचार किया गया है। इन सभी पदार्थों का प्रतिपादन यहाँ विशिष्टाद्वैत की दृष्टि से हुआ है। नैयायिकों और वैशेषिकों की दृष्टि से यह नितान्त भिन्न है। इनकी पाकज प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक प्रक्रिया से विलक्षण है। शक्ति को नैयायिक और वैशेषिक पृथक् पदार्थ नहीं मानते। प्रबल युक्तियों और शास्त्रवचनों के आधार पर यहाँ शक्ति की स्थापना की गई है। साथ ही शैव और शाक्तदर्शन-संमत शक्ति के स्वरूप का खण्डन किया गया है। शक्ति के विषय में विशिष्टाद्वैत के आचार्यों में मतभेद है। ग्रन्थकार ने इनका भी निरूपण किया है। इस प्रकार १० अद्रव्य पदार्थों का निरूपण करने के उपरान्त ग्रन्थकार ने गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वासना (संस्कार), संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, विभाग, परत्वापरत्व, कर्म और सामान्य का पूर्व प्रतिपादित अद्रव्य पदार्थों में समावेश किया है।

ग्रन्थ इसके आगे उपलब्ध नहीं होता। ग्रन्थकार ने अद्रव्य परिच्छेद के आरम्भ में गुरुत्व आदि जिन पदार्थों का अभी उल्लेख हुआ है, उनके साथ सादृश्य, विशेष, समवाय, अभाव और वैशिष्ट्य का भी उल्लेख किया है। ग्रन्थकार को अवश्य ही इन विषयों का भी निरूपण अभीष्ट था, किन्तु इस ग्रन्थ को वे पूरा न कर सके। न्यायपरिशुद्धि के अन्त में भी ग्रन्थकार ने संक्षेप में प्रमेय-मीमांसा प्रस्तुत की है। वहाँ विशेष और अभाव का संक्षिप्त विवेचन मिलता है। इसी प्रकार तत्त्वमुक्ताकलाप के अद्रव्यसर नाम के पाँचवें प्रकरण में वैशिष्ट्य को छोड़ कर और सभी पदार्थों का संक्षिप्त निरूपण हुआ है, तो भी ग्रन्थकार की प्रमेय-निरूपण शैली न्यायसिद्धांजन में एक विशिष्ट प्रकार से विकसित हुई है। उस शैली में इन विषयों का विवेचन हम देख न सके, यह हमारा दुर्भाग्य है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० सत्यव्रतसिंह ने "वेदान्तदेशिक ए स्टडी" नाम के अपने ग्रन्थ में वेदान्तदेशिक की जीवनी,

साहित्य, विशिष्टाद्वैत की परम्परा और दर्शन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। न्यायसिद्धांजन में वेदान्तदेशिक ने प्रसंगवश नाथमुनि के न्यायतत्त्व; यामुनमुनि के आगमप्रामाण्य और आत्मसिद्धि; राममिश्र द्वितीय के विवरण, वेदार्थसंग्रह-व्याख्यान, षडर्थसंक्षेप (षडर्थसंग्रह); पराशर भट्ट के तत्त्वरत्नाकर, अध्यात्म-खण्डद्वयव्याख्या; वरदविष्णु मिश्र के मानयाथात्म्यनिर्णय; विष्णुचित्त के प्रमेय-संग्रह, संगतिमाला; वरदनारायण भट्टारक के न्यायसुदर्शन, प्रज्ञापरित्राण; वात्स्यवरद के तत्त्वसार, तत्त्वनिर्णय को और नारायणार्य की नीतिमाला को उद्धृत किया है। इन सभी आचार्यों और ग्रन्थों का तथा इनके साथ ही पुण्डरी-काक्ष, राममिश्र प्रथम, श्रीवत्सांक मिश्र (कूरेश), सुदर्शन भट्टाकर आदि वेदान्तदेशिक के पूर्ववर्ती विशिष्टाद्वैत के आचार्यों का ऐतिहासिक परिचय "वेदान्तदेशिक ए स्टडी" (पृ० ११४-२३६) में दिया गया है। उसको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। वेदान्तदेशिक ने अपने पूर्ववर्ती इन सभी आचार्यों के मतों का पूरा आलोडन करके ही अपने ग्रन्थों की रचना की है, यह ग्रन्थ को देखने मात्र से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के रूप में यहाँ कुछ विषयों का निर्देश किया जायगा।

[1]विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रमेय, अर्थात् पदार्थ दो प्रकार का माना गया है—द्रव्य और अद्रव्य। जड और अजड भेद से द्रव्य भी दो प्रकार का है। प्रकृति और काल ये जड द्रव्य हैं। अजड द्रव्य पराक् और प्रत्यक् भेद से दो प्रकार का है। नित्यविभूति और धर्मभूत ज्ञान अजड पराक् द्रव्य हैं। जीव और ईश्वर ये अजड प्रत्यक् तत्त्व हैं। अद्रव्य पदार्थ दस प्रकार के हैं—सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति। विशिष्टाद्वैत दर्शन में परमाणु-वाद का खण्डन कर प्राकृतिक सृष्टिप्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है। अतः यहाँ पंचमहाभूत और मन के पृथक् प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं रहती। वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव भेद से सात प्रकार के पदार्थ मानते हैं। कुमारिल भट्ट विशेष और समवाय को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में प्रमेय पाँच प्रकार के ही हैं। प्रभाकर द्रव्य, गुण,

१. यहाँ चित् (जीव) और अचित् (जड) से विशिष्ट ब्रह्म का ही अद्वैत होता है, अर्थात् चित् और अचित् जिसमें अंशरूप से विद्यमान रहते हैं, ऐसा अंशीरूप विशिष्ट ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। 'विशिष्टाद्वैत' शब्द इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है। यहाँ चित् और अचित् की भी वास्तविक सत्ता है, शाङ्कर वेदान्त के समान मिथ्या नहीं। वास्तविक होते हुए भी वे ब्रह्म के अंश हैं। इनके अंशांशिभाव से सम्बद्ध होने के कारण इनकी पृथक् स्थिति नहीं रहती। अपृथग्भाव से स्थित होने के कारण ही इनका अद्वैतत्व अव्याहत रहता है।

कर्म, सामान्य और समवाय के अतिरिक्त शक्ति, सादृश्य तथा संख्या का भी प्रमेय में परिगणन करते हैं। वैशेषिक-संमत विशेष और अभाव पदार्थ की सत्ता ये स्वीकार नहीं करते। माध्व मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, शक्ति और सादृश्य के अतिरिक्त विशिष्ट और अंशी ये दो नये पदार्थ माने गये हैं[1]। न्यायसिद्धांजन[2] में वेदान्तदेशिक ने वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है। वह माध्व-संमत विशिष्ट पदार्थ से अभिन्न प्रतीत होता है। वैशेषिक के समान प्राभाकर भी ९ द्रव्य मानते हैं, किन्तु कौमारिल शब्द और तम का भी द्रव्य में परिगणन करते हैं। माध्व के मत में द्रव्यों की संख्या २० है। प्रायः इन सभी विषयों पर वेदान्तदेशिक ने न्यायसिद्धांजन में बड़े ऊहापोह के साथ अपने विचार प्रकट किये हैं। विशिष्टाद्वैत दर्शन के नित्यविभूति और धर्मभूत ज्ञान ये दो शब्द अन्य दार्शनिकों के लिये अपरिचित से हैं। इनमें से नित्यविभूति वैष्णवों का वैकुण्ठधाम और धर्मभूत ज्ञान ज्ञान का स्वयंप्रकाशत्व है।

वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं। उनके मत से ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है। कौमारिल ज्ञान को प्राकट्यानुमेय मानते हैं। प्राभाकरों को ज्ञान या संवित् का स्वयंप्रकाशत्व स्वीकार है। प्राभाकर भी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को पृथक् गुण मानते हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैती इनको ज्ञान का ही प्रकारविशेष कहते हैं। वरदविष्णु सुख-दुःख को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, किन्तु इच्छा, द्वेष और प्रयत्न के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इनका मानस प्रत्यक्ष होता है। वेदान्तदेशिक को यह मत स्वीकार नहीं है।

वैशेषिक तम को आलोक का अभावमात्र मानते हैं। प्राभाकर भी कहते हैं कि तम नाम का कोई द्रव्य नहीं है। इनके मत में नील पदार्थों में विद्यमान नीलरूप के विषय में होने वाली आश्रयविषयक अपूर्ण स्मृति ही तम अर्थात् अन्धकार के व्यवहार का कारण बनती है। कौमारिल के मत में तम रूपवान् तथा स्पर्शहीन है। केवल चक्षु से ही यह गृहीत होता है और आलोक के न रहने पर ही यह प्रकाशित होता है। इसका रूप कृष्ण है और यह एक पृथक् द्रव्य है। वेदान्तदेशिक ने इन सभी मतों का खण्डन कर तम को पार्थिव द्रव्य माना है। भाट्टमतानुयायी [3]मानरत्नावलीकार तम को पृथिवी का गुण मानते हैं। भट्ट पराशर ने तत्त्वरत्नाकर में मूल प्रकृति को ही तम माना है। यहाँ

---

१. यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने द्रव्य, गुण, परिमाण, सम्बन्ध, देश, काल, स्थिति, अवस्था, क्रिया और भोग ये दस पदार्थ माने हैं।

२. द्रष्टव्य—पृ० ५५९.

३. द्रष्टव्य—मानमेयोदय, अड्यार संस्करण, पृ० १९३.

वेदान्तदेशिक का कहना है कि भट्ट पराशर का ग्रन्थ पूरा उपलब्ध नहीं है। तम का निरूपण वहाँ पूरा नहीं हो पाया है, इसलिये भट्ट पराशर के ग्रन्थ का असली अभिप्राय क्या है, यह ठीक से कहा नहीं जा सकता। जितना ग्रन्थ उपलब्ध है, उसका इस प्रकार समाधान किया जा सकता है कि तम के पार्थिव द्रव्य होने पर भी उसे प्राकृत द्रव्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि विशिष्टाद्वैती सत्कार्यवादी हैं। अतः पार्थिव द्रव्य में भी प्राकृतत्व धर्म विद्यमान है ही। तत्त्वरत्नाकर का यह अभिप्राय माना जाय कि प्रकृति की ऐसी भी एक अवस्था होती है, जो मेघसमूह की तरह काली है, तथा स्पर्श, रस और गन्ध से रहित है, इसी अवस्था का नाम अन्धकार है। इस मत में भी अन्धकार स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध नहीं होता, किन्तु वह प्राकृत द्रव्य ही सिद्ध होता है। षडर्थसंक्षेपकार राममिश्र का कहना है कि अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है, यदि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य होता, तो नेत्रों के बन्द कर लेने पर इन्द्रिय के साथ उसका संनिकर्ष न होने से उसका भान नहीं होना चाहिये, परन्तु आँख बन्द कर लेने पर भी अन्धकार का अनुभव सबको होता है। इससे ज्ञात होता है कि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य नहीं है। वेदान्तदेशिक ने प्रबल युक्तियों के आधार पर इस मत का खण्डन कर आगम के वचनों से भी तम का द्रव्यत्व स्थापित किया है।

सभी दार्शनिक शब्द को दो प्रकार का मानते हैं—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। भाट्ट मीमांसक वर्णात्मक शब्द को नित्य एवं द्रव्य मानते हैं। प्राभाकर शब्द को गुण मानते हुए भी नित्य मानते हैं। वैयाकरण शब्द को स्फोटस्वरूप मान कर उसकी नित्यता स्वीकार करते हैं। नैयायिक शब्द को आकाश का गुण तथा उसे अनित्य मानते हैं। शब्द के विषय में सभी विशिष्टाद्वैती दार्शनिक एक मत नहीं हैं। कुछ ने शब्द को द्रव्य माना है, तो कुछ ने अद्रव्य। शब्द को द्रव्य मानने वालों में भी कुछ इसको वायवीय मानते हैं, तो कुछ अवायवीय। पाणिनीय शिक्षा आदि के प्रमाण पर वैयाकरण वायु को वर्ण का उपादान मानते हैं। यामुनमुनि भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। श्रीभाष्यकार ने शब्द को अहंकार का परिणाम माना है। वाक्यनिरूपण के अवसर पर भट्ट पराशर ने शब्द को आकाश का गुण माना है। इस सम्बन्ध में वेदान्तदेशिक ने अपना कोई अलग मत नहीं दिया है। इस ग्रन्थ में इन मतों की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की गई है, जिससे कि सभी मतों में समन्वय स्थापित हो सके और दोष का परिहार हो जाय।

प्राभाकर शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं। कौमारिल शक्ति को तो मानते हैं, किन्तु वे इसको पृथक् पदार्थ न मानकर द्रव्य, गुण और कर्म में इसकी सत्ता

मानते हैं। इनके मत में अर्थापत्ति प्रमाण से इसका बोध होता है। प्रभाकर के मत में यह अनुमानगम्य है। नैयायिक शक्ति की सत्ता स्वीकार नहीं करते। विशिष्टाद्वैत दर्शन में तर्क और आगम के आधार पर शक्ति की सत्ता स्थापित की गई है। शाक्त आगम का प्रतिपाद्य चरम तत्त्व तो शक्ति है ही, वैष्णव और शैव आगम में भी शक्ति का अस्तित्व अपरिहार्य है। विशिष्टाद्वैती दार्शनिक इसको द्रव्य न मानकर अद्रव्य, अर्थात् गुण मानते हैं और इसके लिये विष्णु-पुराण, अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि के वचनों को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं। यह द्रव्य में ही रहती है या अद्रव्य में भी, इस सम्बन्ध में इनमें आपस में मतभेद है। यामुनमुनि के आत्मसिद्धि के—"सर्वद्रव्येषु तत्कार्यसमधिगम्यस्तत्प्रतियोगी शक्त्याख्यो गुणः साधारणः" इस वचन की दो प्रकार से व्याख्या की गई है। वरदविष्णु द्रव्य के अतिरिक्त गुण और कर्म में भी शक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं। भाट्ट मत में भी यही स्वीकार किया गया है।

प्राभाकर संख्या को भी पृथक् पदार्थ मानते हैं। इनके इस मत को और किसी दार्शनिक ने स्वीकार नहीं किया। वैशेषिक, कौमारिल और विशिष्टाद्वैती भी इसको गुण ही मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक केवल द्रव्य में इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, तो कौमारिल और विशिष्टाद्वैती द्रव्य, गुण इत्यादि सभी पदार्थों में इसकी सत्ता मानते हैं।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

(द्वित्व संख्या, पाकज उत्पत्ति और विभागज विभाग की प्रक्रिया को समझने में जिसकी बुद्धि कुण्ठित नहीं होती, वही वैशेषिक है।)

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अध्येताओं के बीच यह श्लोक प्रसिद्ध है। यामुनमुनि संख्या को पृथक गुण मानते हैं। वे इस सम्बन्ध में वैशेषिकों से प्रभावित हैं। वरदविष्णु ने भी यामुनमुनि का ही अनुसरण किया है। भट्ट पराशर के तत्त्वरत्नाकर का प्रमेय निरूपण उपलब्ध नहीं है। इस लिये संख्या के सम्बन्ध में उनका क्या मत था, यह स्पष्ट नहीं है, किन्तु उन्होंने भी एक स्थान पर संख्या के गुणत्व की चर्चा की है। वेदान्तदेशिक का कहना है कि यह उचित नहीं है। नाथमुनि ने संख्या का संयोग में अन्तर्भाव किया है। नाथमुनि ही विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रथम प्रवर्तक हैं। वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थों में विवादास्पद विषयों पर उनके ग्रन्थ न्यायतत्त्व को ही प्रमाणतम माना है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव की मोक्षावस्था में उसका शेषरूपी पर्यंक पर आरोहण तथा स्वरूपाविर्भाव होता है। मोक्षपद पर पहुँचने पर जीव में ईश्वर

२

वेदान्तदेशिक का कहना है कि भट्ट पराशर का ग्रन्थ पूरा उपलब्ध नहीं है। तम का निरूपण वहाँ पूरा नहीं हो पाया है, इसलिये भट्ट पराशर के ग्रन्थ का असली अभिप्राय क्या है, यह ठीक से कहा नहीं जा सकता। जितना ग्रन्थ उपलब्ध है, उसका इस प्रकार समाधान किया जा सकता है कि तम के पार्थिव द्रव्य होने पर भी उसे प्राकृत द्रव्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि विशिष्टाद्वैती सत्कार्यवादी हैं। अतः पार्थिव द्रव्य में भी प्राकृतत्व धर्म विद्यमान है ही। तत्त्वरत्नाकर का यह अभिप्राय माना जाय कि प्रकृति की ऐसी भी एक अवस्था होती है, जो मेघसमूह की तरह काली है, तथा स्पर्श, रस और गन्ध से रहित है, इसी अवस्था का नाम अन्धकार है। इस मत में भी अन्धकार स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध नहीं होता, किन्तु वह प्राकृत द्रव्य ही सिद्ध होता है। षडर्थसंक्षेपकार राममिश्र का कहना है कि अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है, यदि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य होता, तो नेत्रों के बन्द कर लेने पर इन्द्रिय के साथ उसका संनिकर्ष न होने से उसका भान नहीं होना चाहिये, परन्तु आँख बन्द कर लेने पर भी अन्धकार का अनुभव सबको होता है। इससे ज्ञात होता है कि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य नहीं है। वेदान्तदेशिक ने प्रबल युक्तियों के आधार पर इस मत का खण्डन कर आगम के वचनों से भी तम का द्रव्यत्व स्थापित किया है।

सभी दार्शनिक शब्द को दो प्रकार का मानते हैं—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। भाट्ट मीमांसक वर्णात्मक शब्द को नित्य एवं द्रव्य मानते हैं। प्राभाकर शब्द को गुण मानते हुए भी नित्य मानते हैं। वैयाकरण शब्द को स्फोटस्वरूप मान कर उसकी नित्यता स्वीकार करते हैं। नैयायिक शब्द को आकाश का गुण तथा उसे अनित्य मानते हैं। शब्द के विषय में सभी विशिष्टाद्वैती दार्शनिक एक मत नहीं हैं। कुछ ने शब्द को द्रव्य माना है, तो कुछ ने अद्रव्य। शब्द को द्रव्य मानने वालों में भी कुछ इसको वायवीय मानते हैं, तो कुछ अवायवीय। पाणिनीय शिक्षा आदि के प्रमाण पर वैयाकरण वायु को वर्ण का उपादान मानते हैं। यामुनमुनि भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। श्रीभाष्यकार ने शब्द को अहंकार का परिणाम माना है। वाक्यनिरूपण के अवसर पर भट्ट पराशर ने शब्द को आकाश का गुण माना है। इस सम्बन्ध में वेदान्तदेशिक ने अपना कोई अलग मत नहीं दिया है। इस ग्रन्थ में इन मतों की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की गई है, जिससे कि सभी मतों में समन्वय स्थापित हो सके और दोष का परिहार हो जाय।

प्राभाकर शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं। कौमारिल शक्ति को तो मानते हैं, किन्तु वे इसको पृथक् पदार्थ न मानकर द्रव्य, गुण और कर्म में इसकी सत्ता

साहित्य, विशिष्टाद्वैत की परम्परा और दर्शन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। न्यायसिद्धांजन में वेदान्तदेशिक ने प्रसंगवश नाथमुनि के न्यायतत्त्व; यामुनमुनि के आगमप्रामाण्य और आत्मसिद्धि; राममिश्र द्वितीय के विवरण, वेदार्थसंग्रह-व्याख्यान, षडर्थसंक्षेप (षडर्थसंग्रह); पराशर भट्ट के तत्त्वरत्नाकर, अध्यात्म-खण्डद्वयव्याख्या; वरदविष्णु मिश्र के मानयाथात्म्यनिर्णय; विष्णुचित्त के प्रमेय-संग्रह, संगतिमाला; वरदनारायण भट्टारक के न्यायसुदर्शन, प्रज्ञापरित्राण; वात्स्यवरद के तत्त्वसार, तत्त्वनिर्णय को और नारायणार्य की नीतिमाला को उद्धृत किया है। इन सभी आचार्यों और ग्रन्थों का तथा इनके साथ ही पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र प्रथम, श्रीवत्सांक मिश्र (कूरेश), सुदर्शन भट्टाकर आदि वेदान्तदेशिक के पूर्ववर्ती विशिष्टाद्वैत के आचार्यों का ऐतिहासिक परिचय "वेदान्तदेशिक ए स्टडी" (पृ० ११४-२३६) में दिया गया है। उसको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। वेदान्तदेशिक ने अपने पूर्ववर्ती इन सभी आचार्यों के मतों का पूरा आलोडन करके ही अपने ग्रन्थों की रचना की है, यह ग्रन्थ को देखने मात्र से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के रूप में यहाँ कुछ विषयों का निर्देश किया जायगा।

[1]विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रमेय, अर्थात् पदार्थ दो प्रकार का माना गया है—द्रव्य और अद्रव्य। जड और अजड भेद से द्रव्य भी दो प्रकार का है। प्रकृति और काल ये जड द्रव्य हैं। अजड द्रव्य पराक् और प्रत्यक् भेद से दो प्रकार का है। नित्यविभूति और धर्मभूत ज्ञान अजड पराक् द्रव्य हैं। जीव और ईश्वर ये अजड प्रत्यक् तत्त्व हैं। अद्रव्य पदार्थ दस प्रकार के हैं—सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति। विशिष्टाद्वैत दर्शन में परमाणु-वाद का खण्डन कर प्राकृतिक सृष्टिप्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है। अतः यहाँ पंचमहाभूत और मन के पृथक् प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं रहती। वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव भेद से सात प्रकार के पदार्थ मानते हैं। कुमारिल भट्ट विशेष और समवाय को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में प्रमेय पाँच प्रकार के ही हैं। प्रभाकर द्रव्य, गुण,

१. यहाँ चित् (जीव) और अचित् (जड) से विशिष्ट ब्रह्म का ही अद्वैत होता है, अर्थात् चित् और अचित् जिसमें अंशरूप से विद्यमान रहते हैं, ऐसा अंशीरूप विशिष्ट ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। 'विशिष्टाद्वैत' शब्द इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है। यहाँ चित् और अचित् की भी वास्तविक सत्ता है, शाङ्कर वेदान्त के समान मिथ्या नहीं। वास्तविक होते हुए भी वे ब्रह्म के अंश हैं। इनके अंशांशिभाव से सम्बद्ध होने के कारण इनकी पृथक् स्थिति नहीं रहती। अपृथग्भाव से स्थित होने के कारण ही इनका अद्वैतत्व अव्याहत रहता है।

कर्म, सामान्य और समवाय के अतिरिक्त शक्ति, सादृश्य तथा संख्या का भी प्रमेय में परिगणन करते हैं। वैशेषिक-संमत विशेष और अभाव पदार्थ की सत्ता ये स्वीकार नहीं करते। माध्व मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, शक्ति और सादृश्य के अतिरिक्त विशिष्ट और अंशी ये दो नये पदार्थ माने गये हैं[1]। न्यायसिद्धांजन[2] में वेदान्तदेशिक ने वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है। वह माध्व-संमत विशिष्ट पदार्थ से अभिन्न प्रतीत होता है। वैशेषिक के समान प्राभाकर भी ९ द्रव्य मानते हैं, किन्तु कौमारिल शब्द और तम का भी द्रव्य में परिगणन करते हैं। माध्व के मत में द्रव्यों की संख्या २० है। प्रायः इन सभी विषयों पर वेदान्तदेशिक ने न्यायसिद्धांजन में बड़े ऊहापोह के साथ अपने विचार प्रकट किये हैं। विशिष्टाद्वैत दर्शन के नित्यविभूति और धर्मभूत ज्ञान ये दो शब्द अन्य दार्शनिकों के लिये अपरिचित से हैं। इनमें से नित्यविभूति वैष्णवों का वैकुण्ठधाम और धर्मभूत ज्ञान ज्ञान का स्वयंप्रकाशत्व है।

वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं। उनके मत से ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है। कौमारिल ज्ञान को प्राकटयानुमेय मानते हैं। प्राभाकरों को ज्ञान या संवित् का स्वयंप्रकाशत्व स्वीकार है। प्राभाकर भी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को पृथक् गुण मानते हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैती इनको ज्ञान का ही प्रकारविशेष कहते हैं। वरदविष्णु सुख-दुःख को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, किन्तु इच्छा, द्वेष और प्रयत्न के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इनका मानस प्रत्यक्ष होता है। वेदान्तदेशिक को यह मत स्वीकार नहीं है।

वैशेषिक तम को आलोक का अभावमात्र मानते हैं। प्राभाकर भी कहते हैं कि तम नाम का कोई द्रव्य नहीं है। इनके मत में नील पदार्थों में विद्यमान नीलरूप के विषय में होने वाली आश्रयविषयक अपूर्ण स्मृति ही तम अर्थात् अन्धकार के व्यवहार का कारण बनती है। कौमारिल के मत में तम रूपवान् तथा स्पर्शहीन है। केवल चक्षु से ही यह गृहीत होता है और आलोक के न रहने पर ही यह प्रकाशित होता है। इसका रूप कृष्ण है और यह एक पृथक् द्रव्य है। वेदान्तदेशिक ने इन सभी मतों का खण्डन कर तम को पार्थिव द्रव्य माना है। भाट्टमतानुयायी [3]मानरत्नावलीकार तम को पृथिवी का गुण मानते हैं। भट्ट पराशर ने तत्त्वरत्नाकर में मूल प्रकृति को ही तम माना है। यहाँ

---

१. यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने द्रव्य, गुण, परिमाण, सम्बन्ध, देश, काल, स्थिति, अवस्था, क्रिया और भोग ये दस पदार्थ माने हैं।

२. द्रष्टव्य—पृ० ५५९.

३. द्रष्टव्य—मानमेयोदय, अड्यार संस्करण, पृ० १९३.

वेदान्तदेशिक का कहना है कि भट्ट पराशर का ग्रन्थ पूरा उपलब्ध नहीं है। तम का निरूपण वहाँ पूरा नहीं हो पाया है, इसलिये भट्ट पराशर के ग्रन्थ का असली अभिप्राय क्या है, यह ठीक से कहा नहीं जा सकता। जितना ग्रन्थ उपलब्ध है, उसका इस प्रकार समाधान किया जा सकता है कि तम के पार्थिव द्रव्य होने पर भी उसे प्राकृत द्रव्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि विशिष्टाद्वैती सत्कार्यवादी हैं। अतः पार्थिव द्रव्य में भी प्राकृतत्व धर्म विद्यमान है ही। तत्त्वरत्नाकर का यह अभिप्राय माना जाय कि प्रकृति की ऐसी भी एक अवस्था होती है, जो मेघसमूह की तरह काली है, तथा स्पर्श, रस और गन्ध से रहित है, इसी अवस्था का नाम अन्धकार है। इस मत में भी अन्धकार स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध नहीं होता, किन्तु वह प्राकृत द्रव्य ही सिद्ध होता है। षडर्थसंक्षेपकार राममिश्र का कहना है कि अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है, यदि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य होता, तो नेत्रों के बन्द कर लेने पर इन्द्रिय के साथ उसका संनिकर्ष न होने से उसका भान नहीं होना चाहिये, परन्तु आँख बन्द कर लेने पर भी अन्धकार का अनुभव सबको होता है। इससे ज्ञात होता है कि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य नहीं है। वेदान्तदेशिक ने प्रबल युक्तियों के आधार पर इस मत का खण्डन कर आगम के वचनों से भी तम का द्रव्यत्व स्थापित किया है।

सभी दार्शनिक शब्द को दो प्रकार का मानते हैं—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। भाट्ट मीमांसक वर्णात्मक शब्द को नित्य एवं द्रव्य मानते हैं। प्राभाकर शब्द को गुण मानते हुए भी नित्य मानते हैं। वैयाकरण शब्द को स्फोटस्वरूप मान कर उसकी नित्यता स्वीकार करते हैं। नैयायिक शब्द को आकाश का गुण तथा उसे अनित्य मानते हैं। शब्द के विषय में सभी विशिष्टाद्वैती दार्शनिक एक मत नहीं हैं। कुछ ने शब्द को द्रव्य माना है, तो कुछ ने अद्रव्य। शब्द को द्रव्य मानने वालों में भी कुछ इसको वायवीय मानते हैं, तो कुछ अवायवीय। पाणिनीय शिक्षा आदि के प्रमाण पर वैयाकरण वायु को वर्ण का उपादान मानते हैं। यामुनमुनि भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। श्रीभाष्यकार ने शब्द को अहंकार का परिणाम माना है। वाक्यनिरूपण के अवसर पर भट्ट पराशर ने शब्द को आकाश का गुण माना है। इस सम्बन्ध में वेदान्तदेशिक ने अपना कोई अलग मत नहीं दिया है। इस ग्रन्थ में इन मतों की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की गई है, जिससे कि सभी मतों में समन्वय स्थापित हो सके और दोष का परिहार हो जाय।

प्राभाकर शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं। कौमारिल शक्ति को तो मानते हैं, किन्तु वे इसको पृथक् पदार्थ न मानकर द्रव्य, गुण और कर्म में इसकी सत्ता

मानते हैं। इनके मत में अर्थापत्ति प्रमाण से इसका बोध होता है। प्रभाकर के मत में यह अनुमानगम्य है। नैयायिक शक्ति की सत्ता स्वीकार नहीं करते। विशिष्टाद्वैत दर्शन में तर्क और आगम के आधार पर शक्ति की सत्ता स्थापित की गई है। शाक्त आगम का प्रतिपाद्य चरम तत्त्व तो शक्ति है ही, वैष्णव और शैव आगम में भी शक्ति का अस्तित्व अपरिहार्य है। विशिष्टाद्वैती दार्शनिक इसको द्रव्य न मानकर अद्रव्य, अर्थात् गुण मानते हैं और इसके लिये विष्णु-पुराण, अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि के वचनों को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं। यह द्रव्य में ही रहती है या अद्रव्य में भी, इस सम्बन्ध में इनमें आपस में मतभेद है। यामुनमुनि के आत्मसिद्धि के—"सर्वद्रव्येषु तत्कार्यसमधिगम्य-स्तत्प्रतियोगी शक्त्याख्यो गुणः साधारणः" इस वचन की दो प्रकार से व्याख्या की गई है। वरदविष्णु द्रव्य के अतिरिक्त गुण और कर्म में भी शक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं। भाट्ट मत में भी यही स्वीकार किया गया है।

प्राभाकर संख्या को भी पृथक् पदार्थ मानते हैं। इनके इस मत को और किसी दार्शनिक ने स्वीकार नहीं किया। वैशेषिक, कौमारिल और विशिष्टाद्वैती भी इसको गुण ही मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक केवल द्रव्य में इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, तो कौमारिल और विशिष्टाद्वैती द्रव्य, गुण इत्यादि सभी पदार्थों में इसकी सत्ता मानते हैं।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

(द्वित्व संख्या, पाकज उत्पत्ति और विभागज विभाग की प्रक्रिया को समझने में जिसकी बुद्धि कुण्ठित नहीं होती, वही वैशेषिक है।)

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अध्येताओं के बीच यह श्लोक प्रसिद्ध है। यामुन-मुनि संख्या को पृथक गुण मानते हैं। वे इस सम्बन्ध में वैशेषिकों से प्रभावित हैं। वरदविष्णु ने भी यामुनमुनि का ही अनुसरण किया है। भट्ट पराशर के तत्त्वरत्नाकर का प्रमेय निरूपण उपलब्ध नहीं है। इस लिये संख्या के सम्बन्ध में उनका क्या मत था, यह स्पष्ट नहीं है, किन्तु उन्होंने भी एक स्थान पर संख्या के गुणत्व की चर्चा की है। वेदान्तदेशिक का कहना है कि यह उचित नहीं है। नाथमुनि ने संख्या का संयोग में अन्तर्भाव किया है। नाथमुनि ही विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रथम प्रवर्तक हैं। वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थों में विवादास्पद विषयों पर उनके ग्रन्थ न्यायतत्त्व को ही प्रमाणतम माना है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव की मोक्षावस्था में उसका शेषरूपी पर्यंक पर आरोहण तथा स्वरूपाविर्भाव होता है। मोक्षपद पर पहुँचने पर जीव में ईश्वर

के समान अपहतपाप्मत्व और सत्यसंकल्पत्व आदि आठ गुण सम्पन्न होते हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य दशाओं में यहाँ सायुज्य को ही मोक्ष माना गया है। इस अवस्था में भी जीव भगवान् की सेवा में तत्पर रहता है। श्रीवैष्णवों के मत में भगवत्कैंकर्य ही परम पुरुषार्थ है। गीतार्थसंग्रह में यामुनमुनि ने जीव की एक ऐसी अवस्था को भी स्वीकार किया है, जिसमें केवल स्वात्मानन्द, स्वात्मस्वरूप का अनुसन्धानमात्र बच रहता है। इसको वे कैवल्य-मोक्ष की संज्ञा देते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि श्रीभाष्यकार रामानुज ने भी इसका समर्थन किया है। वेदान्तदेशिक इस मत को स्वीकार नहीं करते। वे यामुनमुनि के वेदार्थसंग्रह, वरदविष्णु और विष्णुपुराण, भट्ट पराशर के अध्यात्मखण्डद्वयव्याख्या और विष्णुचित्त की संगतिमाला के वचनों के आधार पर अपनी नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और बताते हैं कि यामुनमुनि ने जिस स्वात्मस्वरूप का वर्णन किया है, वह भगवदात्मक ही है, स्वतन्त्र नहीं।

यहाँ भी त्रिगुण की साम्यावस्था को प्रकृति माना गया है, किन्तु उसके अव्यक्त, अक्षर, विभक्त तम तथा अविभक्त तम ये चार भेद किये गये हैं। सात्त्विक अहंकार से मन, राजस से इन्द्रियाँ और तामस से तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं, इस मत का खण्डन करके यहाँ बताया गया है कि सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों की, तामस से शब्दतन्मात्रा की उत्पत्ति होती है, राजस उभय कार्यों की उत्पत्ति में समान रूप से सहायक है। सांख्य से यहाँ भेद इतना ही है कि वहाँ तामस अहंकार से सभी तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानी गई है, जब कि यहाँ केवल शब्दतन्मात्रा की। सांख्य-संमत इन्द्रिय-लक्षण में अप्राकृत इन्द्रियों का समावेश नहीं हो सकता, इस लिये यहाँ इन्द्रियों का लक्षण सांख्य से विलक्षण है। इन्द्रियां प्राकृत और अप्राकृत भेद से दो प्रकार की हैं। इसी प्रकार कुछ आचार्य अव्यक्त, महत् और अहंकार को भी प्राकृत एवं अप्राकृत मानते हैं। मन को सांख्यदर्शन में कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय उभयात्मक माना गया है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में वह केवल ज्ञानेन्द्रिय है।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय ने गंगानाथझा ग्रन्थमाला के अन्तर्गत चुने हुए विशिष्ट संस्कृत ग्रन्थों को हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पणी के साथ प्रकाशित करने की योजना बनाई है। वेदान्तदेशिक और उनके ग्रन्थ न्यायसिद्धांजन के सम्बन्ध में यहाँ बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान् वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में रामानुज वेदान्त के प्राध्यापक स्व० पण्डित नीलमेघाचार्यजी को इसके अनुवाद और संपादन का कार्य सौंपा गया था। आपकी यह कृति अब प्रकाशित होकर विद्वान् पाठकों के समक्ष आ रही है।

स्व० पण्डित जी ने ग्रन्थ का अनुवाद समाप्त कर लिया था और प्रथम चार परिच्छेदों की टिप्पणियाँ भी लिख चुके थे। वे पाँचवें परिच्छेद की टिप्पणियाँ अभी लिख ही रहे थे कि कराल काल ने उनको हम से छीन लिया। वेदान्त-देशिक स्वयं अपने ग्रन्थ न्यायसिद्धांजन को पूरा न कर सके। उनके इस ग्रन्थ में 'सामान्य' का निरूपण पूरा नहीं हो पाया है। अद्रव्य परिच्छेद के प्रारम्भ में उन्होंने सादृश्य, विशेष, समवाय, अभाव और वैशिष्ट्य के भी निरूपण की प्रतिज्ञा की है। विभाग का निरूपण करते हुए वे कहते हैं—"अभावनिरूपणं यावदेतच्चोद्यं मा स्म विस्मरः" (पृ० ६६५), किन्तु यह विधिविडम्बना है कि वे अभाव का निरूपण कर न सके। यामुनमुनि के ग्रन्थ सिद्धित्रय के आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि और संवित्सिद्धि—ये तीनों ही प्रकरण अपूर्ण हैं। भट्ट पराशर के ग्रन्थ तत्त्वरत्नाकर का प्रमेय प्रकरण भी विच्छिन्न हो गया—"प्रमेयनिरूपणविच्छेदात्" (पृ० ६५१)। इस दुर्भाग्य परम्परा में आज हम देखते हैं कि आदरणीय पण्डितजी न तो अपनी टिप्पणियाँ ही पूरी कर सके और न वह भूमिका ही लिख सके, जिसमें कि उन्होंने अपने पूरे जीवन के अर्जित ज्ञान को उड़ेलने का संकल्प किया था। पण्डितजी ने अपना पूरा जीवन भारतीय दर्शन, विशेष कर रामानुज वेदान्त के अध्ययनाध्यापन में बिता दिया था। उस प्रतिभाशाली मनीषी की लेखनी से जो भूमिका लिखी जाती, उसकी अपनी विशेषता होती।

पण्डित को० व० नीलमेघाचार्य का जन्म फरवरी सन् १९०१ में कोडिपाक्कम् ग्राम, दक्षिणी अर्काट जिला, मद्रास राज्य में हुआ था। इनके पिता का नाम वरद देशिकाचार्य था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा तंजोर जिले के तिरुवैयार संस्कृत महाविद्यालय में हुई। सन् १९२२ में इन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय से 'व्याकरण शिरोमणि' परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। बाद के तीन वर्षों में इन्होंने 'कोयियालम्' स्वामीजी के आश्रम में श्रीभाष्य और गीताभाष्य का अध्ययन किया।

बाद में रीवां राजगुरु के विद्यालय में २ वर्ष, पुष्कर (अजमेर) की संस्कृत पाठशाला में ३ वर्ष तथा रामानुजकूट शोलापुर में ७ वर्ष तक वेदान्त और व्याकरण का अध्यापन करते रहे। फिर तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर ओरियण्टल कालेज में १० वर्ष तक व्याकरण के अध्यापक रहे। बाद में वाराणसी के रामानुज विद्यालय में १० वर्ष तथा वृन्दावन के वैष्णव संस्थान में २ वर्ष तक अध्यापन कर अन्त में सन् १९५९ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में रामानुज वेदान्त के प्राध्यापक नियुक्त हुए और अन्त समय तक

यहीं कार्य करते रहे। ग्रीष्मावकाश में जब आप अपनी जन्मभूमि में विश्राम कर रहे थे, २६ जून सन् १९६५ को आपका अकस्मात् स्वर्गवास हो गया।

तमिल के साथ ही साथ आपका संस्कृत और हिन्दी भाषा पर भी पूरा अधिकार था। न्यायसिद्धांजन के अतिरिक्त आपने वेदार्थसंग्रह, न्यासविंशति, न्यासतिलक, यतिराजविंशति और परमपदसोपान का भी हिन्दी अनुवाद किया था। ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त आपने अष्टश्लोकी, श्रीगुरुपरम्पराप्रभाव और वेदान्तकारिकावली का संपादन किया है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में आपके विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे हैं। आपने विष्णु-सहस्रनाम, रहस्यत्रयसार और गीतार्थसंग्रह का भी हिन्दी व्याख्या के साथ संपादन किया था। ये ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हो सके हैं।

पण्डितजी न्यायसिद्धांजन का अनुवाद एक साल पहले ही पूरा कर चुके थे। ग्रीष्मावकाश में घर जाने से पहले तीन परिच्छेदों की टिप्पणियाँ भी वे प्रकाशन विभाग में दे गये थे। उनके स्वर्गवास के उपरान्त उनके शिष्य स्वामी श्रीकृष्णस्वरूपदास जी के प्रयत्न से प्रकाशन विभाग को अवशिष्ट टिप्पणियाँ मिल सकीं। पण्डितजी की जीवनी भी इनके प्रयत्न से ही हमें उपलब्ध हुई। इन्होंने स्वर्गीय गुरु के प्रति शिष्यधर्म का पूरा निर्वाह किया है। इनके प्रति धन्यवाद व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है। पण्डितजी की यावदुपलब्ध कृति को प्रकाशन विभाग में कार्य कर रहे विद्वानों के सहयोग से विषयसूची, ग्रन्थ-ग्रन्थकारसूची आदि से सुसज्जित कर विद्वानों के समक्ष रखा जा रहा है। पूरी सावधानी रखने पर भी दृष्टिदोष से अथवा प्रेस की असावधानी से कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। शुद्धिपत्र देकर उनके परिहार का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार पण्डितजी की अनुपस्थिति में उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये पूरा प्रयत्न किया गया है।

•

निगम और आगम में समन्वय

सन्त तुलसीदास अपने रामचरित मानस को नाना-पुराण-निगमागम-संमत बताते हैं। यहाँ निगम शब्द वैदिक वाङ्मय और आगम शब्द तन्त्रागम शास्त्र का सूचक है। इन शब्दों की प्रवृत्ति शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में देखी जाती है। मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि "इतरेष्वागमाद् धर्मः" (१।८२) यहाँ आगम शब्द की व्याख्या करते समय उसको वेद का वाचक मानते हैं। निगम शब्द भी वेद का वाचक है, इसकी जानकारी "इत्यपि निगमो भवति" ऐसे अनेक निरुक्त-वाक्यों से मिलती है। महाभाष्य पस्पशाह्निक के—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इस वाक्य को महामुनि पतंजलि आगम वाक्य कह कर उद्धृत करते हैं, जो कि स्पष्टतः श्रुतिवाक्य माना जाता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि अपने ग्रन्थ में आगम शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर (१।२७, ३०, ४१, १३३-१३४; २।४९०, ४९२-४९३) करते हैं। टीकाकार आगम पद से ऋषि-प्रणीत शास्त्रों और निगम पद से अपौरुषेय वेदों का ग्रहण करते हैं।

कश्मीर के महान् आगमाचार्य तान्त्रिकप्रवर श्रीमान् अभिनवगुप्त पादाचार्य भी निगम पद के इसी अर्थ को मान्यता देते हैं। वे ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी (भा० १, पृ० १५) में निगम पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि धर्म को समझने के लिये हमारे जानने लायक उपायों की निश्चित सूचना देने वाला शास्त्र निगम, अर्थात् वेद है।

आगम पद की व्याख्या वे भिन्न पद्धति से करते हैं। तन्त्रालोक (३५।१-२) में वे कहते हैं कि आगम शास्त्र में समस्त जागतिक ज्ञान, पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को आगम नाम से जाना जाता है। प्रसिद्धि की भी परिभाषा उन्होंने वहीं (२५।१९) बताई है कि प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा उपदिष्ट वचन ही प्रसिद्धि की परिधि में आ सकते हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में वे कहते हैं कि आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से होती है। इसमें वे भगवान् अनन्त के वाक्य को प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं कि दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये शब्द से सहायता ली जाती है। योगसूत्र-व्यासभाष्य (१।७) में यह वचन आनुपूर्वी से मिल जाता है। इस विषय को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि आगम पद उस व्यक्ति के लिये उसी शास्त्र का वाचक मान लिया

जायगा, जिस पर कि उसका विश्वास जम गया हो। वे पुनः कहते हैं कि बुद्ध कोई निश्चित व्यक्ति नहीं है, अपनी भावना के सहारे क्षणिकवाद में जो दृढ़ आस्था जमा लेता है, वही बुद्ध हो जाता है। वर्तमान बुद्ध में इस ज्ञान का संचार पूर्व बुद्ध ने किया था और उसमें भी उसके पूर्ववर्ती बुद्ध ने। इस तरह से पारमेश्वरी विमर्श शक्ति ही वस्तुतः अन्ततः इस ज्ञान की भी उपदेष्ट्री सिद्ध होती है। इसी तरह से प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों की भावना का उपदेश देने वाले कपिल के विषय में भी समझना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी आगम अनादि काल से गुरुशिष्यपरम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस प्रकार सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध, जैन आदि सभी शास्त्रों का आगमशास्त्र में समावेश किया जा सकता है।

इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत किया है, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि उपास्य देवों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देव की उपासना करता है, उसको यह उपासना उक्त शास्त्र में प्रदर्शित पद्धति के अनुसार ही करनी चाहिये (ई० प्र० वि० वि०, भा० ३, पृ० १००)।

आजकल आगम और निगम के लक्षणों को बताने वाले दो श्लोक बहुत जगह उद्धृत मिलते हैं। उनका भाव यह है कि शिव के मुँह से निकल कर गिरिजा के कान तक पहुँचे तथा वासुदेव के संमत शास्त्र आगम कहलाते हैं और गिरिजा के मुँह से निकल कर शिव के कान तक पहुँचे और वासुदेव के संमत शास्त्र निगम कहलाते हैं। इस लक्षण के अनुसार शिवोपदिष्ट शास्त्र आगम और देवी के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र निगम कहलाते हैं। इसी परिभाषा के अनुसार कलकत्ता से प्रकाशित कुलचूडामणि ग्रन्थ को निगम के नाम से प्रसिद्ध किया गया है। यह परिभाषा वाराहीतन्त्र में उपदिष्ट प्रतीत होती है। शाक्त तन्त्रों की एक शाखा क्रम मत के नाम से प्रसिद्ध है। इस शास्त्र का उपदेश भगवती शिव को देती है। ऊपर की परिभाषा के अनुसार इसका निगम विभाग में परिगणन होना चाहिये, किन्तु क्रमदर्शन के सभी आचार्यों ने इसको आगम पद से ही संबोधित किया है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय आगम पद से और वैदिक वाङ्मय निगम पद से संबोधित हुआ है। प्रायः आजकल ये दोनों शब्द इन्हीं अर्थों में रूढ़ हो गये हैं, ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

आगम और निगम में समन्वय स्थापित करने का कार्य रामायण, महाभारत और पुराणों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों द्वारा भी बहुत पहले ही

किया जा चुका है। भगवद्गीता को हम इसके उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में रख सकते हैं। महाभारतकार ने वेद के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र मत को समान प्रमाणकोटि में रखा है। कालिदास जब कहते हैं—

बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ (१०।२६)

पुष्पदन्त जब कहते हैं—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने···· ···· ···· ।····
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ (श्लो० ७)

और वीरमित्रोदयकार जब पूछते हैं—"ननु सांख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न" ? तब वे इन सब शास्त्रों में समन्वय की बात को ही प्रतिष्ठापित करते हैं, क्योंकि परस्पर समन्वय के आधार पर ही इन सब शास्त्रों का प्रामाण्य सिद्ध किया जा सकता है ।

पुराण वेदार्थ के उपबृंहक हैं, इस विषय पर तो अनेक विद्वानों ने विचार किया है, किन्तु पुराणों में आगमार्थ का भी उपबृंहण हुआ है, इस विषय पर अभी विचार नहीं के बराबर हुआ है। "आगम आणि तन्त्रशास्त्र" शीर्षक मराठी निबन्ध में हमने बताया है कि अग्निपुराण के ३९-७० अध्याय 'हयशीर्ष पांचरात्र' के आदिकाण्ड से तथा वहीं के ७१-१०६ अध्याय सोमशम्भुकृत कर्मकाण्डक्रमावली से मिलते-जुलते हैं, जिसका कि यह प्रकरण संवत् ११३० में लीलावती शिवागम की सहायता से लिखा गया है। वैरोचनकृत प्रतिष्ठालक्षण-सारसमुच्चय (२।१७९-१८१) में शिवोक्त २१ प्रतिष्ठा-तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। ये नाम शैवागनों तथा उपागमों की अथवा उपपुराणों की सूचियों में मिलते हैं। यहाँ (२।१५६) बताया गया है कि लिंग, प्रासाद, द्वार, मण्डप आदि के बनाने और उनकी प्रतिष्ठा करने की विधि वेद में वर्णित नहीं है। बृहन्नारदीयपुराण (२।२४। ९-२१) में भी उन विषयों की सूची दी गई है, जिनका कि वर्णन वैदिक वाङ्मय में नहीं है। पुराणों में वे सब विषय आगम अथवा तन्त्रशास्त्र से ही लिये गये हैं।

भविष्यपुराण (२।१।११।१) में वृक्ष, आराम (उद्यान), वापी, कूप, तडाग आदि की प्रतिष्ठा तान्त्रिक विधि के अनुसार बताई गई है। इष्ट और पूर्त -ये दो धर्म के अंग माने गये हैं। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव का कहना है कि इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्त तान्त्रिक धर्म का अंग है। हम कह सकते हैं कि इष्ट पारलौकिक धर्म है और पूर्त ऐहलौकिक।

पुराणों में इष्ट और पूर्त दोनों ही प्रकार के धर्मों का विशद वर्णन मिलता है। इस तरह से मूर्ति, प्रासाद आदि का निर्माण और प्रतिष्ठा का तथा वापी, कूप, तडाग आदि का निर्माण और प्रतिष्ठा का वर्णन प्रधानतः तन्त्र और आगम-शास्त्र का विषय है।

बृहन्नारदीय पुराण (१।६३।१३) में पति-पशु-पाशात्मक तथा ज्ञान-योग-क्रिया-चर्यात्मक शैवागम प्रतिपादित विषयों का वर्णन मिलता है। कूर्मपुराण की ईश्वरगीता में भी स्पष्ट ही शैव सिद्धान्तों की छाप है। वैष्णवागमों का चतुर्व्यूह सिद्धान्त और प्रादुर्भाव सिद्धान्त महाभारत नारायणीयोपाख्यान, पद्मपुराण आदि में स्पष्ट ही उपबृंहित हुआ है। पुराणों में शिव और नारायण की एकता ही नहीं प्रतिपादित है, किन्तु शक्ति, स्कन्द, गणेश, सूर्य आदि की भी उपासना पंचायतन पूजा के अन्तर्गत समन्वित रूप में प्रपंचसार और शारदातिलक की पद्धति से वर्णित है। इस तरह से यह निश्चित हो जाता है कि पुराणों की प्रवृत्ति निगमागम धर्म में समन्वय स्थापित करने के लिये हुई है।

ऐसा होने पर भी पुराणों में प्रधानता वैदिक दृष्टि को ही दी गई है। यहाँ वेदों को सर्वोपरि प्रमाण माना है और वर्णाश्रम की व्यवस्था को पूरी तरह से स्वीकार किया गया है। आगम की दृष्टि इस विषय में भिन्न है। यहाँ शास्त्रों का उत्तरोत्तर प्रामाण्य और मानव मात्र को मोक्ष का अधिकारी माना गया है, केवल त्रैवर्णिक को नहीं। भागवती गीता कहती है—"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्"। इसी दृष्टि का प्रतिपादन आगम-शास्त्र करते हैं। महाभारत और पुराणों की रचना भी इसी दृष्टि को पल्लवित करने के लिये हुई है। पुराण ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक ही ब्रह्म की तीन मूर्तियाँ मानते हैं। नारदपुराण (१।६३।२) में पाशुपत तन्त्र को भागवत तथा भगवान् शिव को विष्णु बताया गया है। इस दृष्टि को आगम-शास्त्र और आगे बढ़ाते हैं। स्पन्दप्रदीपिका (पृ० ९२) में उद्धृत मायावामन-संहिता का कहना है कि विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि के रूप में भगवान् एक ही हैं। नेत्रतन्त्र के १३ वें अधिकार में जयाख्या, मायावामनिका, सौरसंहिता आदि के प्रमाण पर इनकी पूजाविधि भी वर्णित है। पांचरात्र-संमत षाड्गुण्य विष्णुपुराण में इस तरह से वर्णित है—

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

और शैवागम-संमत षाड्गुण्य का वायुपुराण में इस तरह से वर्णन मिलता है—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥

वैष्णव और शैव दृष्टि में समन्वय की स्थापना करने वाले कश्मीरी विद्वान् उत्पल वैष्णव अपनी स्पन्दप्रदीपिका (पृ० १०३) में उभयविध षाड्गुण्य में समन्वय स्थापित करते हैं। वायुपुराण (१०४।१६) में ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त और आर्हत नाम के छः दर्शनों को मान्यता दी गई है। शक्तिसंगमतन्त्र (१।३।८५-८८) में तारा, त्रिपुरा और छिन्ना के भेद से छः छः दर्शनों का वर्णन है, जिनमें बौद्ध और जैन दर्शन भी समाविष्ट हैं।

स्पष्ट है कि आगम और निगम में समन्वय का कार्य पुराण-वाङ्मय द्वारा तथा अनेक आगमाचार्यों द्वारा बहुत पहले किया जा चुका है। हम आगम और निगम शब्दों की नई व्याख्या कर पूरे जागतिक ज्ञान का इनमें समावेश कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म की यह मान्यता है कि ईश्वर ने, किसी अलौकिक शक्ति ने प्रत्येक धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसी शक्ति ने मनुष्य को ज्ञान भी दिया है। ऐसे अलौकिक ज्ञान को हम निगम विभाग के अन्तर्गत रख सकते हैं और दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान को आगम विभाग के अन्तर्गत। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि में किये गये निगमागम धर्म के समन्वय में निगम दृष्टि की प्रधानता रही है, किन्तु अभी हमने जिस निगमागम विभाग की चर्चा की है, उनमें परस्पर समन्वय का आधार आगम दृष्टि ही हो सकती है, जो कि मानवमात्र को ज्ञान का, मुक्ति का अधिकारी मानती है। मुकुटसंहिता का कहना है कि ब्राह्मण पाप कर्म में प्रवृत्त रहता है और शूद्र सन्मार्ग पर चलता है। ऐसी स्थिति में किसी जाति को सदाचरण और दुराचरण का आधार नहीं माना जा सकता। मुकुटसंहिता का ही कहना है—

द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः ।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः ॥

अर्थात् द्विज भी यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिये और म्लेच्छ यदि पवित्र मन का है, तो उसका संग्रह होना चाहिये। पवित्र आचरण वाला म्लेच्छ शिव को प्रिय है, चारों वेदों का अध्ययन करने वाला दंभी ब्राह्मण नहीं। इसी आगमिक दृष्टि को आगे कर हम आज सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर सकते हैं।

शैवागम-संमत जीवात्मस्वरूप

कश्मीर के अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन और [1]दक्षिण भारत में पल्लवित द्वैतवादी[2] सिद्धान्तशैव दर्शन में प्रतिपादित जीवात्मा के स्वरूप का निरूपण ही इस निबन्ध का लक्ष्य है। बड़ौदा के पास कायावरोहण महातीर्थ में अवतरित शिवावतार[3] योगाचार्य भगवान् लकुलीश द्वारा प्रवर्तित पाशुपत

---

१. सिद्धान्तशैव दर्शन का उद्भव और विकास दक्षिण भारत से हुआ, ऐसी मान्यता आजकल प्रचलित है। यह सही है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रतिष्ठापक सोमानन्द और भट्ट उत्पल कश्मीरी थे, किन्तु यही स्थिति सिद्धान्तशैव दर्शन की नहीं है। उग्रज्योति, बृहस्पतिपाद, सद्योज्योति, नारायणकण्ठ, रामकण्ठ आदि प्राचीन द्वैतवादी आचार्यों की उत्पत्तिस्थली भी कश्मीर ही है। अभिनवगुप्त का कहना है कि मध्यदेश (अन्तर्वेदि) सभी शास्त्रों का घर है, यहीं से उनके पूर्वज कश्मीर में आये (तन्त्रालोक, ३७।३)। अभिनवगुप्त आदि के साक्ष्य से तथा शैवाचार्य सम्बन्धी शिलालेखों को देखने से यही सिद्ध होता है कि सभी प्रकार के आगमों का प्रचार-प्रसार प्रथमतः मध्यदेश में हुआ। आमर्दक, त्र्यम्बक, मत्तमयूर, कदम्बगुहा, शंखमठिका आदि के प्रतिष्ठापक शैवाचार्यों के वंशजों ने ही पूरे भारत में द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी और अद्वैतवादी आगमों का प्रचार और विस्तार किया।

२. तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ (१।१८) दस शिवागमों को द्वैतवादी और अठारह रुद्रागमों को द्वैताद्वैतवादी मानते है। इसके विपरीत अघोरशिव प्रभृति शैवाचार्य इन सभी आगमों को द्वैतवादी ही मानते हैं।

३. अठाईस पाशुपत योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों के परिचय के लिय "पुराणवर्णिताः पाशुपता योगाचार्याः" शीर्षक हमारा निबन्ध देखिये (पुराणम्, व० २४, अ० २, सन् १९८२, काशीराज ट्रस्ट, वाराणसी)। इनमें २८वें योगाचार्य लकुलीश थे। इनके साक्षात् शिष्य मुसुलेन्द्र का जन्म भी कायावरोहण में ही हुआ था। इन्होंने हृदयप्रमाण नामक ग्रन्थ की रचना की थी। देखिये— लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग उपोद्घात, पृ० ११६, वाराणसी, सन् १९८३)। षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार जैन विद्वान् गुणरत्न (काशी सस्करण, सन् १९७०, पृ० ७८) नैयायिकों को शैव और वैशेषिकों को पाशुपत मत का अनुयायी मानते हैं। न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर स्वयं अपने को महापाशुपत कहते हैं और नैयायिक भासर्वज्ञ गणकारिका के व्याख्याकार माने जाते हैं। शैवाचार्य व्योमशिव

दर्शन द्वैताद्वैतवादी[1] माना गया है। काल की दृष्टि से उक्त दोनों दर्शनों से पहले इसकी स्थिति मानी जाती है, किन्तु आज इसका पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है। जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उसकी प्रकृति उक्त दोनों दृष्टियों से कुछ अनोखी[2] है, अतः प्रस्तुत निबन्ध में उसको नहीं छुआ गया है।

द्वैतवादी शैवागम

कामिक आदि १० शिवागम और विजय आदि १८ रुद्रागमों को मिलाकर २८ शैवागम [3]सिद्धान्तशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रत्येक में ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पाद हैं और इनमें पति, पशु और पाश नामक तीन[4] पदार्थों का निरूपण किया गया है। पशु परतन्त्र है और पाश

प्रशस्तपादभाष्य की व्योमवती टीका के रचयिता हैं। इनके आधार पर तो नैयायिक पाशुपत और वैशेषिक शैव सिद्ध होते हैं। वस्तुतः देखी-सुनी बातों के आधार पर लिखा गया उनका यह विवरण सही नहीं लगता (इदं मया यथाश्रुतं यथादृष्टं चात्राभिदधे—वहीं, पृ० ७८)। पाशुपत योगाचार्यों की ऊपर चर्चित नामावली में न्यायदर्शन के प्रवर्तक गोतम का एवं वैशेषिक दर्शन के प्रवक्ता कणाद का भी नाम है। ईश्वर को निमित्तकारणता और दुःखान्त की मोक्षता का निरूपण करने वाले न्याय-वैशेषिक दोनों ही दर्शनों पर पाशुपत मत का समान प्रभाव परिलक्षित होता है। गुणरत्न जिस शैव मत की चर्चा करते हैं, सभवतः उसकी स्थिति गोतम और कणाद के समय में नहीं थी। सही निर्णय पर पहुँचने के लिये पाशुपत, न्याय-वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है।

१. डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय रचित शैवदर्शनबिन्दु (पृ० २७-६४) में लकुलीश पाशुपत मत का विवरण शैव द्वैताद्वैत दर्शन के रूप में दिया गया है।

२. लकुलीशरचित पंचाध्यायी पाशुपत सूत्र के पाँच अध्यायों में कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त नामक पंचार्थ का निरूपण किया गया है। इसीलिये पाशुपत सूत्र के कौण्डिन्यकृत भाष्य का नाम पंचार्थभाष्य है। यहाँ कारण में पति का और विद्या, कला एवं पशु नामक त्रिविध कार्य में पशु और पाश का समावेश माना जा सकता है।

३. देखिये अघोरशिवाचार्यकृत रत्नत्रयोल्लेखिनी—"सिद्धान्तशब्दः पङ्कजादि-शब्दवद् योगरूढ्या शिवप्रणीतेषु कामिकादिषु दशाष्टादशसु तन्त्रेषु प्रसिद्धः" (श्लो० १०, पृ० ५)।

४. मतंग पारमेश्वर (विद्या० २६।६५) में छः पदार्थ बताये गये हैं। सर्वदर्शनसंग्रह (आनन्दाश्रम संस्करण, पूना, सन् १९२८, पृ० ७२) में उद्धृत ज्ञानरत्नावली में भी छः पदार्थ निर्दिष्ट हैं।

अचेतन, अतः स्वतन्त्र और चेतन पति का पहले, परतन्त्र और चेतन पशु का बाद में एवं परतन्त्र और अचेतन पाश का अन्त में निरूपण किया गया है। यहाँ दीक्षित व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी माना गया है। यह दीक्षा पशु, पाश और पति के स्वरूप के ज्ञान के बिना संपन्न नहीं हो सकती, अतः पहले विद्यापाद का, उसके बाद अनेक प्रकार की दीक्षाओं के सांगोपांग निरूपक क्रियापाद का उपदेश किया गया है। षडध्वशुद्धि और चित्त की निर्मलता के लिये योगपाद तथा विधिनिषेधात्मक दिनचर्या के निरूपण के लिये चर्यापाद का विधान है[1]।

अद्वयवादी भैरवागम और प्रत्यभिज्ञा दर्शन

अद्वयवादी भैरवागमों की संख्या ६४ मानी जाती है। स्वच्छन्दतन्त्र को वहीं (१।५) चतुष्पीठ महातन्त्र बताया गया है। ये चार पीठ हैं मुद्रा, मण्डल, मन्त्र और विद्या। डॉ० प्रबोधचन्द्र[2] बागची ने ब्रह्मयामल के प्रमाण पर इन पीठों का विवरण दिया है। शैवागमों के पादविभाग की तरह भैरवागमों का यह पीठविभाग उपलब्ध ग्रन्थों में यद्यपि व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता, किन्तु इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि दोनों के प्रतिपाद्य विषय बहुत-कुछ भिन्न थे। शिव, रुद्र और भैरव प्रोक्त इन त्रिविध आगमों के आधार पर एवं सिद्धा, ना(वा)मक और मालिनीमत नामक तीन तन्त्रों के, विशेषतः मालिनीमत के आधार पर कश्मीर में त्रिक, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विकास हुआ था। नाम का अन्तर होने पर भी इन सबकी प्रकृति समान है और आज यह सारा वाङ्मय प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।

पहले हम द्वैतवादी सिद्धान्त शैवदर्शन के अनुसार विचार करते हैं। पशु (जीवात्मा) के स्वरूप को समझने के लिये पति और पाश का स्वरूप जानना आवश्यक है, अतः हम पहले पति और पाश का स्वरूप बता रहे हैं।

पति

पति शब्द यहाँ शिव का बोधक है। [3]मुक्तात्मा भी शिव बन जाते हैं, किन्तु जिसके प्रसाद से ये मुक्त होते हैं, वह अनादिमुक्त शिव ही यहाँ पति कहा

१. देखिये —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ६५.

२. स्टडीज इन दि तन्त्राज्, पृ० ३.

३. मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किन्त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः॥ (तत्त्वप्रकाश, श्लो० ६)

गया है। न्याय-वैशेषिक पद्धति से अनुमान प्रमाण के द्वारा यहाँ उसकी सिद्धि की जाती है। यह शिव पंचमन्त्रतनु और पंचकृत्यकारी है, अर्थात् ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव—इन पाँच मन्त्रों से इसका शरीर बना है और यह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक पाँच कृत्यों का कर्ता है। सृष्टि, स्थिति और संहार व्यापार में प्रवृत्त पति (शिव) अपने चतुर्थ तिरोधान व्यापार (रोधशक्ति) से अनादि काल से संसारप्रवाह में पतित पशु (जीवात्मा) को सांसारिक भोगों में फँसाये रहता है और अनुग्रह व्यापार से वह उनको मुक्ति का मार्ग दिखलाता है। इस पर सुख-दुःख से भरी इस विषम सृष्टि का निर्माण करने के कारण पक्षपात अथवा निर्दयता का आरोप इस लिये नहीं लगाया जा सकता कि यह अनादिकाल से चले आ रहे मल, माया और कर्म नामक पाशों के सहारे ही ऐसा करता है।

पाश

पाशों की संख्या कहीं चार[1] और कहीं पाँच बताई गई है। मृगेन्द्रागम में चार ही पाश माने गये हैं। सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० ७१-७२) में बताया गया है कि महामाया (बिन्दु) को पाश इसलिये नहीं माना जाता कि शिवपदप्राप्ति रूप परम मुक्ति को प्राप्त करने में यद्यपि यह सहायक नहीं बन पाती, तथापि विद्येश्वरादि-पदप्राप्ति रूप अपर मुक्ति को प्राप्त करने में यह सहायता करती है। शतरत्नसंग्रह आदि ग्रन्थों में पाँच पाश वर्णित हैं। उनके नाम ये हैं—मल, तिरोधान शक्ति, महामाया (बिन्दु), माया और कर्म। अनेक ग्रन्थों के आधार पर इनका वर्णन हमने[2]अन्यत्र किया है। तिरोधान शिव की रोधशक्ति का व्यापार है। पशु में न रहने पर भी यह शिव की इच्छा के अनुसार पशु को पाशों से मुक्त नहीं होने देती, अतः इसकी भी पाशों में गिनती कर ली जाती है। इस तरह से पाशों की संख्या वस्तुतः तीन ही है[3]—मल, माया और कर्म।

द्वैतवादी दार्शनिक मल[4] को एक ऐसा द्रव्य मानते हैं, जो कि अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न है। यह पुरुष की ज्ञान और क्रिया शक्ति को उसी

१. देखिये—मृगेन्द्रागम विद्यापाद (२।७)।

२. लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग उपोद्घात, पृ० १३६–१५१ देखिये।

३. देखिये—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ७२.

४. एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसाम्।
तुषकम्बुकवज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिमावद् वा॥ (तत्त्वप्रकाश, श्लो० २८)

तरह से ढक देता है, जैसे कि तुष तण्डुल को ढके रहता है और ताम्र (ताँबे) पर चढा हुआ मैल उसकी चमक को। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि तुष और तण्डुल मिलकर जैसे अंकुर को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही यह मल संसार रूपी अंकुर का कारण है। ताम्र की कालिमा को रसायनशास्त्र की पद्धति से दूर कर देने पर जैसे वह स्वर्ण बन जाता है, उसी तरह से दीक्षा व्यापार के द्वारा मल को शोधित कर देने पर पशु पतिस्वरूप बन जाता है।

पशु

पराख्यसंहिता[1] में पशु को देह से भिन्न अनश्वर, व्यापी, विभिन्न (अनेक), समल, अजड, अपने कर्मों के फल का भोक्ता, कर्ता, किंचिज्ज्ञ और सेश्वर बताया है। पशु की सत्ता देह से पृथक् है, ऐसा कहकर यहाँ चार्वाक मत का खण्डन किया गया है, क्योंकि चार्वाक देह को ही आत्मा मानता है। क्षणभंगवादी सौगत (बौद्ध) आत्मा को भी क्षणभंगुर मानता है। अनश्वर विशेषण से उनका पक्ष भी खण्डित हो जाता है। जैन दार्शनिक आत्मा को व्यापक नहीं मानते और वेदान्ती आत्मा की अनेकता को स्वीकार नहीं करते। व्यापी और विभिन्न विशेषण देकर इन दोनों मतों में प्रतिपादित आत्मस्वरूप को भी यहाँ स्वीकार नहीं किया गया। सेश्वर विशेषण से सांख्य मत का निरास हो जाता है। सांख्य दर्शन में पुरुष को स्वतन्त्र माना गया है, किन्तु यहाँ उसको ईश्वराधीन माना गया है। यह अपने किये शुभ और अशुभ कर्मों के फल को भोगता है। कृषि, सेवा आदि कार्यों में दो व्यक्ति एक साथ लगते हैं। उनमें से एक सफल होता है और दूसरे का प्रयत्न निष्फल जाता है। इस सफलता और निष्फलता का आधार अपना-अपना शुभ (धर्म) और अशुभ (अधर्म) कर्म ही है। यह जीवात्मा निरन्तर शुभ और अशुभ कर्मों को करता रहता है, इसीलिये इसको कर्ता कहा गया है। इससे भी इस दर्शन की सांख्यदर्शन से विलक्षणता सिद्ध होती है। सांख्यदर्शन में प्रकृति में कर्तृत्व माना जाता है। पुरुष तो वहाँ पुष्कर-पलाश के समान निर्लेप है। यह अल्पज्ञ है, जब कि पति सर्वज्ञ। मल से आवृत होने से इसको अणु कहा जाता है।

किरणागम[2] में पशु को नित्य, अमूर्त, अज्ञ, अस्वतन्त्र, व्यापी, माया के उदर में निवास करने वाला और भोगों में आसक्त बताया है। मृगेन्द्रागम

१. देहान्योऽनश्वरो व्यापी विभिन्नः समलोऽजडः।
स्वकर्मफलभुक् कर्ता किञ्चिज्ज्ञः सेश्वरः प्रभुः॥
(लुप्ता०, भा० १, पृ० १०९)

२. लुप्तागमसंग्रह, भा० २, पृ० २७ द्रष्टव्य।

(विद्या, २।५-६) ने अणु (जीव) को दृक्क्रियात्मक चैतन्य से युक्त माना है, किन्तु जब तक यह मल से आवृत रहता है, इसकी दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति दबी रहती है। मुक्तावस्था में ही उसकी ये शक्तियाँ अभिव्यक्त हो पाती हैं।

त्रिविध पशु

यह पशु तीन[1] प्रकार का माना गया है—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। विज्ञान, योग, संन्यास अथवा भोग के द्वारा जिसके सारे कर्म क्षीण हो गये हैं और जो कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त फैले मायाजाल से मुक्त हो गया है, ऐसा पशु विज्ञानाकल कहलाता है। अब वह केवल मल नामक पाश से आबद्ध है, माया और कर्म के बन्धन से मुक्त हो गया है। प्रलयावस्था में जो कला से पृथ्वीपर्यन्त फैले मायाजाल से मुक्त हो गया है, उसे प्रलयाकल कहते हैं। यह मल और कर्म नामक दो पाशों से आबद्ध रहता है। सकल पशु मल, माया और कर्म नामक तीनों पाशों से आबद्ध माना गया है।

समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष के भेद से विज्ञानाकल दो प्रकार का होता है। समाप्तकलुष, अर्थात् जिनके सारे कलुष परिपक्व हो गये हैं, ऐसे पुरुष-धौरेयों को भगवान् शिव अधिकारी बना देते हैं, उनको [2]अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों का पद प्रदान करते हैं। जिनके कलुष अभी समाप्त नहीं हुए हैं, वे भगवान् के अनुग्रह से सात करोड़ मन्त्रों का स्वरूप धारण कर लोककल्याण में निरत रहते हैं।

प्रलयाकल जीव भी दो प्रकार के होते हैं—पक्वपाश और अपक्वपाश। जिसके मल और कर्म नामक पाश पक जाते हैं, वह मुक्त हो जाता है और जिसके ये दोनों पाश अभी पके नहीं हैं, वह [3]पुर्यष्टकमय देह के साथ अपने कर्मों के अनुसार नाना योनियों में जन्म लेता रहता है। इनमें से विशिष्ट पुण्यशाली पुरुष ईश्वर के अनुग्रह से विभिन्न [4]भुवनों के अधिपति बन जाते हैं।

१. तत्त्वप्रकाश, श्लो० ८–१६ द्रष्टव्य।
२. अधिकार-पदप्राप्त अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों का वर्णन मतङ्ग पारमेश्वर के विद्यापाद के ४–५ पटलों में दिया गया है।
३. आगमशास्त्रसंमत पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर) का परिचय लुप्ता० उपोद्घात (पृ० १३२–१३३) में दी गई टिप्पणी से प्राप्त किया जा सकता है।
४. पृथ्वी से लेकर शिवपर्यन्त तत्त्वों के भुवनों की संख्या यहाँ २२४ मानी गई है। देखिये —तन्त्रयात्रा (वाराणसी, सन् १९८२) नामक ग्रन्थ में हमारा निबन्ध—"वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः" (पृ० १४–३४)।

सकल जीव के भी दो भेद होते हैं—पक्वकलुष और अपक्वकलुष। इनमें से जिनके कलुष कर्म जिस अनुपात में पक चुके हैं, तदनुसार उनके ऊपर परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति का उन्मीलन होता है और ये मण्डली आदि ११८ मन्त्रेश्वरों के पद को प्राप्त कर लेते हैं। यदि कलुष कर्मों का परिपाक अभी पूर्ण नहीं हुआ है, तो परमेश्वर ही आचार्य (गुरु) की मूर्ति धारण कर उसको मोक्षाभिमुख बनाने के लिये दीक्षाव्यापार से अनुगृहीत करते हैं और जिनके कलुष कर्म अभी परिपक्व नहीं हुए हैं, उन बद्ध जीवों को अपने कर्मों के अनुसार सांसारिक भोगों को भोगने के लिये छोड़ देते हैं।

सकल पशु की तीन अवस्थाएँ

शतरत्नसंग्रह (पृ० ५८-५९) में स्वायंभुवागम और सुप्रभेदागम के प्रमाण से पशु की तीन अवस्थाओं का वर्णन भिन्न प्रकार से किया गया है। इनके नाम वहाँ अविमल, बद्ध और मुक्त[1] दिये गये हैं। अविमल का अर्थ अत्यन्त मलिन है। इसी को केवल भी कहते हैं। बद्ध का अर्थ कला आदि के बन्धनों से जकड़ा हुआ है। इसी को सकल भी कहते हैं। दीक्षा के द्वारा जिसके कला आदि के बन्धन टूट चुके हैं, उसको मुक्त कहा जाता है। शुद्ध अवस्था से सम्पन्न इस जीव को अमल कहा जाता है। सुप्रभेदागम के अनुसार यह शुद्ध अवस्था वाला जीव शिवस्वरूप हो जाता है।

केवलावस्थ

स्वायंभुवागम के अनुसार केवल पशु [2]अचेतन, विभु, नित्य, गुणहीन, अक्रिय, अप्रभु, शोध्य और बोध्य है। इसकी शक्ति कुण्ठित रहती है। सुप्रभेदागम में इसको अमूर्त, नित्य, निर्गुण, निष्क्रिय, अप्रभु, व्यापी, माया के उदर में पड़ा हुआ और सदा भोग की चिन्ता में लगा हुआ बताया है। शुद्ध पुरुष की भोग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, पर जीवात्मा सदा भोगों की तलाश में रहता है, इसीलिये इसकी अशुद्धि (मलिनता) का पता चलता है। यह केवलावस्थ जीव अपनी अनादिकाल से चली आ रही मलिन वासनाओं के कारण इस

---

१. तत्त्वत्रयनिर्णय (श्लो० ६) की व्याख्या में अघोरशिव इस प्रकरण की विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल जीवपरक व्याख्या करते हैं।

२. यहाँ पशु को अचेतन बताया गया है, किन्तु मृगेन्द्रागम (विद्या० २।५) में पशु में दृक्क्रियात्मक चैतन्य की सदा सत्ता मानी गई है। इन परस्परविरोधी वचनों का समन्वय इस तरह से किया जा सकता है कि वस्तुतः जीव सचेतन ही है, किन्तु जब वह मलों से घिर जाता है, तो उसका चैतन्य छिप जाता है।

संसाररूपी बीहड़ वन में सदा भटकता रहता है। यह पूरी तरह से मोह से ग्रस्त रहता है, सांसारिक भोगों में अन्धा बना रहता है। इसलिये यह मुक्ति की बात कभी सोचता ही नहीं। कला से पृथ्वीपर्यन्त माया की कलाओं से पूर्ण रूप से आवृत होने से यह केवल कहलाता है।

सकलावस्थ

स्वायंभुवागम के अनुसार यह संसारी, विषयी, भोक्ता, क्षेत्रज्ञ, शरीरी और बद्ध है। सुप्रभेदागम में बताया गया है कि सकलावस्थ जीव तीनों मलों से आवृत रहता है। संसारी, विषयी, क्षेत्री, क्षेत्रज्ञ, भोक्ता, शरीरी, भोगी, पशु, ज्ञानी, बद्धात्मा—ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। यह सकलावस्थ जीव यह जानने लगता है कि मैं बद्ध हूँ और इस बन्धन से छुटकारे के लिये वह प्रयत्नशील हो उठता है।

अमलावस्थ

बन्धन से मुक्ति पाने के लिये चेष्टाशील जीवात्मा पर से धीरे-धीरे शिव का तिरोधान व्यापार (रोध शक्ति) हटने लगता है और अनुग्रह शक्ति उसी अनुपात में प्रकट होने लगती है। यह अनुग्रह व्यापार शास्त्रों में शक्तिपात के नाम से जाना जाता है।[1] शक्तिपात से पवित्र हुआ जीव योग्य गुरु के पास जाता है और उससे दीक्षा लेकर भगवान् की आराधना में लग जाता है। ऐसा करने से उसके बन्धन कट जाते हैं और वह अपने निर्मल स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर बिना किसी विघ्न-बाधा के शिवसायुज्य प्राप्त कर लेता है। यह अमलावस्थ जीव इस तरह से मुक्त हो जाता है। उसका ज्ञानचक्षु खुल जाता है, वह अपने को शरीर आदि से भिन्न शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानस्वरूप समझने लगता है। सभी प्रकार की अभिलाषाओं से रहित इस शान्त अवस्था को ही शास्त्रों में जीवन्मुक्त दशा कहा जाता है।

मोक्ष

यह अमलावस्थ जीव शरीर के छूटने के बाद मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। द्वैतदर्शन में शिवसदृश शिवता की प्राप्ति ही मुक्ति (मोक्ष) कही गई है। अद्वय दृष्टि के समान यहाँ पशु कभी पति नहीं बन सकता, वह पतिसदृश अवश्य हो जाता है। इन्द्रपद प्राप्त होने पर जैसे जीव स्वर्ग में जाता है, इस मुक्त जीव को इस तरह से कहीं जाना नहीं पड़ता, किन्तु यह केवल पशुभाव को छोड़ कर

१. शक्तिपात का स्वरूप और इसमें कर्मसाम्य अथवा मलपरिपाक की हेतुता अथवा शक्तिपात की स्वतन्त्रता आदि विषयों के लिये लुप्ता० उपोद्घात (पृ० १५५–१५८) देखिये।

पतिभाव में स्थित हो जाता है। शिवता को प्राप्त कर लेने के बाद जीव का भोक्तृत्व, अधिकारित्व और पतिकृत्यानुकारित्व निवृत्त हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब जीव शिवता को प्राप्त कर लेता है, तो सकल जीव में देखे जाने वाले भोगों से मुक्त हो जाता है, प्रलयाकल जीव में देखे जाने वाले माया के गर्भ में स्थित भुवनों के आधिपत्य से और विज्ञानाकल में देखे जाने वाले पति के निर्देश के अनुसार काम करने की परतन्त्रता से भी मुक्त हो जाता है। वह स्वतन्त्र हो जाता है, शिव के ही समान शाश्वत शुद्ध हो जाता है।

यह अमलावस्थ जीव शिवसायुज्य को प्राप्त कर लेता है। सुप्रभेदागम के अनुसार मुक्त जीव का शिव में संयोजित रूप ही शिवसायुज्य कहलाता है। सायुज्य शब्द यहाँ सादृश्य का बोधक है, तादात्म्य का नहीं। त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावली में कहा गया है कि शरीर का उच्छेदमात्र अपवर्ग नहीं है और न पशु एवं शिव की एकता को ही अपवर्ग कहते हैं। वेदान्त, सांख्य और न्याय-वैशेषिक दर्शन के द्वारा प्रदर्शित अविद्या के ग्रास से मुक्ति, गुणविहीनता (प्रकृतिपुरुषविवेक) और पाषाणतुल्य दुःखान्तता को भी मुक्ति नहीं माना जाता। वस्तुतः आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों के हट जाने से जो बोधानन्दलक्षण आत्मस्वरूप प्रकट होता है, उसी को यहाँ मोक्ष कहा जाता है। इस शिवसायुज्य लक्षण मोक्ष में मुक्त जीव शिवसदृश बन जाता है। शैवशास्त्र के अनुसार सविधि दीक्षा प्राप्त कर तदनुसार आचरण करने पर इसी जन्म में मुक्ति मिल जाती है, उसको पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। यह मोक्ष ही मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग आदि नामों से भी जाना जाता है।

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन में जीव अनादिकाल से चले आ रहे पाशों से बँधा हुआ है। दीक्षा के द्वारा इन मलों (पाशों) का अपाकरण होने पर यह शिवता (शिवसायुज्य) को प्राप्त कर लेता है। शिवसायुज्य का अर्थ यहाँ शिवसदृश किया जाता है। मुक्तावस्था में शिवसदृश हो जाने पर भी मुक्त जीव की पृथक् स्थिति बनी रहती है। इसीलिये यह दर्शन द्वैतवादी है।

अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीवात्मा

अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन में [1]अज्ञान को ही मल माना गया है, जो कि संसाररूपी अंकुर का कारण है, अर्थात् इस अज्ञान के ही कारण आणव, मायीय,

---

१. "मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्" (मालिनीविजय, १।२३)।

और कार्म नामक त्रिविध मल की सृष्टि होती है। अद्वैतवादी शैवदर्शन के अनुसार मल द्रव्यात्मक न होकर भगवान् की [1]स्वातन्त्र्य शक्ति का विलासमात्र है। भ्रमरकीट जैसे अपने आप कोश में बँध जाता है, उसी तरह शिव भी स्वेच्छा से मात्र क्रीडा करने के निमित्त अज्ञान से आवृत हो जाता है। पौरुष और बौद्ध के भेद से यह अज्ञान दो प्रकार का माना गया है। पौरुष (आत्मगत) अज्ञान के कारण उसका ज्ञान सीमित हो जाता है। इसी को यहाँ आणव मल कहा गया है। इस आणव मल के कारण बोध (ज्ञान) का स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है और फिर अपनी स्वतन्त्रता का बोध भी नहीं रहने पाता। यह आणव मल ही मायीय और कार्म मल का भी कारण है, जिनके कारण कि इस संसार की कल्पना साकार होती है और निरन्तर चलती रहती है।

भगवान् शिव अनादिबोध, सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, नित्यपरिपूर्णतृप्तता, नित्यता और स्वतन्त्रता नामक छः गुणों (शक्तियों) से सम्पन्न हैं। जब अपनी इच्छा से यह अपने बोध को संकुचित कर लेते हैं, तब आणव मल से आवृत हो जाते हैं। उस समय इनकी माया नामक शक्ति प्रकट होती है और इनके अनादि बोध पर परदा पड़ जाता है। शिव की सर्वकर्तृता नामक शक्ति के संकोच से कला तत्त्व की, सर्वज्ञता के संकोच से विद्या तत्त्व की, नित्यपरिपूर्णतृप्तता के संकोच से राग तत्त्व की, नित्यता के संकोच से काल तत्त्व की और स्वतन्त्रता के संकोच से नियति तत्त्व की सृष्टि होती है। इस तरह अपनी छः शक्तियों को संकुचित कर शिव ही जीव बन जाता है। माया से नियति तक ये छः तत्त्व षट्कंचुक[2] के नाम से प्रसिद्ध हैं।

द्विविध ज्ञान और अज्ञान[3]

इस चोंगे को धारण कर लेने पर शिव ही जीव (पुरुष - पशु) दिखाई देने लगता है। इस दशा में वह अपने इस स्वरूप को भूल बैठता है। इसी को पौरुष अज्ञान कहते हैं। षट्कंचुक से आवृत पशु जब परिमित प्रमाता के रूप में "मैं इस तरह से इसको जानता हूँ" इस तरह का अध्यवसाय करता है, अहन्ता से इदन्ता की यात्रा पर चल पड़ता है, तो यह बौद्ध (बुद्धिगत) अज्ञान कहलाता

---

१. परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥ (परमार्थसार, श्लो० १५)।

२. स्वातन्त्र्य शक्ति माया का इसमें समावेश न करने पर इनकी संख्या पाँच रह जाती है। द्वैतवादी शैवशास्त्र पंचकंचुकवादी हैं।

३. पौरुष एवं बौद्ध ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप जानने के लिये तन्त्रालोक और इसकी व्याख्या (१।२२-५०) देखिये।

है। पाशव संस्कार के हट जाने पर पुरुष पुनः अपने शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही पौरुष ज्ञान कहलाता है। अपनी परिपूर्णता का विकास हो जाने पर "यह सब कुछ मेरा ही वैभव है" इस तरह से बुद्धि में जब सर्वत्र अहन्तात्मक अध्यवसाय उदित होता है, इदन्ता का लोप हो जाता है, तो इसी को बौद्ध ज्ञान कहते हैं। पौरुष अज्ञान की निवृत्ति यद्यपि दीक्षा के द्वारा हो जाती है, तो भी पौरुष ज्ञान की उत्पत्ति वर्तमान शरीर के परित्याग के पहले नहीं होती, क्योंकि इस शरीर का आरम्भक कार्म मल तब तक बना रहता है। बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति तो शरीर के रहते हुए भी हो जाती है। शास्त्रों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से बुद्धिगत अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है। दीक्षा के द्वारा पहले बुद्धिगत अज्ञान की निवृत्ति होती है। अतः मुक्ति के लिये बौद्ध ज्ञान ही प्रधान माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि दीक्षा के द्वारा पहले बुद्धिगत अज्ञान की निवृत्ति होती है और शास्त्र-श्रवण आदि के द्वारा साधक जीवन्मुक्ति दशा तक पहुँच जाता है। इसके बाद पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होती है। साधक अपनी शिवस्वरूपता को पहचान लेता है। इसी को प्रत्यभिज्ञा दृष्टि का उन्मीलन कहते हैं। तब वह इस शरीर के परित्याग के साथ ही अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, अपने जीवभाव को छोड़ कर शिवभाव को प्राप्त कर लेता है।

बन्ध और मोक्ष

इस दर्शन में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। पौरुष और बौद्ध अज्ञान से आवृत पशु अपने को बद्ध मानने लगता है और पौरुष एवं बौद्ध ज्ञान का आविर्भाव होने पर वह अपने को सांसारिक बन्धनों से मुक्त मान लेता है। अज्ञानरूपी ग्रन्थि से आबद्ध पशु अपने को बन्धन में पड़ा हुआ समझ लेता है और ग्रन्थि के खुल जाने पर वह अपने को मुक्त मानने लगता है। इस प्रकार इस दर्शन में बन्ध और मोक्ष प्रतीतिमात्रसार हैं। परमार्थसार[१] में बताया गया है कि मोक्ष नाम का कोई स्थान नहीं है, न इसके लिये कहीं जाना ही पड़ता है। अज्ञानरूपी ग्रन्थि के खुल जाने पर जो अपना निजी स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है, उसी को मोक्ष कह दिया जाता है। स्वस्वभावसम्बोधन[२] नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि बन्धन, बन्धन का कर्ता और बंधने वाला, इन तीनों में से एक की भी कोई वास्तविक सत्ता नहीं

१. देखिये—परमार्थसार, श्लो० ६०.
२. लुप्तागमसंग्रह, भा० १, पृ० १८२ द्रष्टव्य।

है। अपनी नाना प्रकार की कल्पनाओं से ही यह सारा जगत् बन्धन में पड़ा हुआ है।

इस प्रकार शुद्ध संवित्स्वरूप भगवान् शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे अपनी शक्तियों को संकुचित कर जीव और जगत् के रूप में भासित होने लगते हैं और अपनी शक्तियों का विस्तार कर अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। वास्तव में बन्ध और मोक्ष भगवान् की लीला का विलासमात्र है। उस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, शिवस्वरूप के अतिरिक्त जीव और जगत् की भी वस्तुतः कोई सत्ता नहीं है। भगवान् शिव ही अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे जीव और जगत् के रूप में भी भासित होते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जीवात्मा की वास्तव में कोई सत्ता नहीं है। जैसे हम किसी वस्तु को रखकर भूल जाते हैं और उसके मिल जाने पर प्रसन्न होते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति जीव और शिव की भी है। अन्तर इतना ही है कि शिव स्वेच्छा से अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे मात्र लीला करने के लिये अपने स्वरूप को भुलाने का नाटक करते हैं। इस प्रकार यहाँ यह सारा स्थावरजंगमात्मक जगत् शिव के विलास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसीलिये यह अद्वयवादी दर्शन है।

•

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(मनु० २।१२०-१२१)

काश्मीर शैवदर्शन की सामयिक उपयोगिता

काश्मीर शैवदर्शन का प्रादुर्भाव आज से बारह सौ वर्ष पहले अवश्य हो चुका था। आज भी इसकी उतनी ही उपयोगिता है, जैसी कि उस समय रही होगी। हम आगम की परिभाषा को ही लें। अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी में कहते हैं कि आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से ही होती है। यहाँ वे भगवान् अनन्त के एक वाक्य को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं कि दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये शब्द से सहायता ली जाती है। योगसूत्र के व्यासभाष्य (१।७) में यह वाक्य आनुपूर्वी से मिलता है। इस विषय को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि आगम पद उस व्यक्ति के लिये उसी शास्त्र का वाचक मान लिया जायगा, जिस पर कि उसका विश्वास जम गया हो।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण

अपने उसी ग्रन्थ में अभिनवगुप्त बुद्ध और कपिल के उपदेशों को एक सी मान्यता देते हैं। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी आगम (शास्त्र) अनादि काल से गुरुशिष्यपरम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस प्रकार सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध और जैन ही क्यों, हम वर्तमान सभी धर्म-ग्रन्थों को आगम कोटि की मान्यता दे सकते हैं। अभिनव-गुप्त वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत करते हैं, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि सम्प्रदायों के उपास्य देवों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देव की उपासना करता है, उसकी यह उपासना उस शास्त्र में प्रदर्शित पद्धति से ही होनी चाहिये। मोक्षकारिका की वृत्ति में भट्ट रामकण्ठ का कहना है कि शैवशास्त्र अन्य दर्शनों को असत्य नहीं मानता, इस विषय का प्रतिपादन उन्होंने सर्वागमप्रामाण्य नामक ग्रन्थ में किया है। स्पन्द-प्रदीपिका में उत्पल वैष्णव ने मायावामनसंहिता को उद्धृत करते हुए कहा है कि एक ही भगवान् विष्णु शिव, सूर्य, बुद्ध आदि अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। नेत्रतन्त्र के तेरहवें अधिकार में वही बात विस्तार से बताई गई है। महेश्वरानन्द ने भी महार्थमंजरी की स्वोपज्ञटीका में इस विषय को उठाया है। बौद्ध-जैन और शैव-शाक्त सम्प्रदायों में आत्मसप्तति, आत्मसंबोध (स्वात्म-संबोध), इष्टोपदेश, चन्द्रगर्भ, ज्ञानसार आदि विभिन्न ग्रन्थ-नामों का समान रूप से उपयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय इन

सम्प्रदायों में समन्वयवादी दृष्टिकोण का उन्मेष हो चुका था, जो कि आज की परिस्थितियों में भी उतना ही क्या, उससे भी अधिक उपयोगी है।

ग्रहाष्टक अथवा पाशाष्टक

तन्त्रालोक (१५।५९५-५६६) में कुलगुह्वर शास्त्र और निशिसंचार शास्त्र के प्रमाण से जाति, विद्या, कुल, आचार, देह, देश, गुण और अर्थ प्रयुक्त आठ प्रकार के आग्रहों (दुराग्रहों) की चर्चा कर बताया गया है कि इनके कारण व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता, अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं। कुलार्णव तन्त्र (१३।९०) में घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति और शील नामक आठ पाश वर्णित हैं। महार्थमंजरीपरिमल (पृ० १४५) और योगिनीहृदयदीपिका (पृ० ८१) में भी यह श्लोक उद्धृत है, किन्तु दीपिकाकार ने इसको अभियुक्तवचन माना है, जबकि कुलार्णव तन्त्र ईश्वर-प्रोक्त है। इनमें से जातिग्रह और शंका का शैव शास्त्रों में विशेष रूप से वर्णन मिलता है।

जातिग्रह

तन्त्रालोक (१५।५९७-६०४) में निशिसंचार, कुलगुह्वर, स्वच्छन्दतन्त्र, आनन्दशासन और नकुलेश के प्रमाण से जातिग्रह की हेयता को दिखाया गया है। परात्रीशिका की व्याख्या (पृ० २३७) में अभिनवगुप्त का कहना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियां कल्पित हैं, इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अपनी इस उक्ति के समर्थन में उन्होंने मुकुटसंहिता को उद्धृत किया है। तन्त्रालोक (१५।५१३-५१७) में भी मोक्षधर्म (महाभारत शान्तिपर्व) और मुकुटसंहिता को उद्धृत कर यही बात कही गई है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने इन वचनों का संग्रह किया है। जैसे कि—

शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
अन्त्यजातोऽपि हीनाङ्गः साधकः स च मोक्षभाक्।
एभिर्गुणैर्वियुक्तात्मा ब्राह्मणोऽपि न मोक्षभाक्॥
द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः॥....
ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम्।
किं तत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते॥

स्वच्छन्दतन्त्र (४।५४०-५४६) के ये वचन भी इस प्रसङ्ग में दर्शनीय हैं—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्त्येऽथवा प्रिये।
सर्वे ते समधर्माणः शिवधर्मे नियोजिताः॥....

एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया।
तन्त्रमेतत् समाश्रित्य प्राग्जातिं नह्युदीरयेत् ॥....
प्राग्जात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः।

महेश्वरानन्द ने भी महार्थमंजरीपरिमल (पृ० १४५) में ब्राह्मण, चाण्डाल आदि की व्यवस्था को त्याज्य माना है। कालपाद(कालोत्तर)संहिता (आगम) शिवदृष्टि में स्मृत है। क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (१०।१०) में इसका एक वचन उद्धृत किया है, जिसके अनुसार श्वपचों (चण्डालों) को भी दीक्षा का अधिकारी माना है। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शास्त्र में जाति के अभिमान को दुराग्रहमात्र मान कर इसको हेय माना है। भारत हो या अन्य देश, आज जाति का यह दुराग्रह सर्वत्र विकट समस्या बन कर उपस्थित है। इसका निराकरण हम उक्त दृष्टिकोण के आधार पर ही कर सकते हैं। "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" (४।१३) गीता की इस उक्ति का भी यही अभिप्राय है। यहाँ जन्म की अपेक्षा गुण और कर्म को वरीयता दी गई है।

शंका

जाति के समान ही शंका को भी पाश के अन्तर्गत माना गया है। शंका को यहाँ विशेष रूप से बन्धन का कारण माना है। यह शंका अज्ञान के कारण होती है। तन्त्रालोक (१२।२०-२५) और परात्रीशिकाविवृति (पृ० २३५-२३६) में सर्ववीरभट्टारक, क्रमसद्भाव, तत्त्वार्थचिन्तामणि, मतशास्त्र, निशाकुल आदि ग्रन्थों के प्रमाण से बताया गया है कि मन में उठने वाले नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के जाल से घिरे हुए व्यक्ति को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। मन्त्रशंका, आत्मशंका, द्रव्यशंका, भूतशंका, दिव्यकर्मशंका, तत्त्वशंका के नाम से यहाँ शंका के छः प्रकार वर्णित हैं। इस षड्विध शंका का परित्याग करने पर ही व्यक्ति को शान्ति मिल सकती है। आज भारतीय समाज पेयापेय, भक्ष्याभक्ष्य, विधिनिषेध, शुद्धि-अशुद्धि आदि के द्वन्द्वों में फँसकर नाना प्रकार की शंकाओं से घिरा हुआ है। इनसे घिरे होने के कारण ही भारतीय समाज आज विविध धार्मिक और सांस्कृतिक आक्रमणों का सामना करने में अपने को अक्षम पा रहा है। उसकी वह उर्वरा शक्ति समाप्त हो गई है, जिसके आधार पर कि इसने पूर्वकाल में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों को आत्मसात् कर लिया था।

अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार (पृ० ३१-३२) में बताया है कि नाना प्रकार की शंकाओं से छुटकारा पाने के लिये व्यक्ति को याग, होम, जप, व्रत, योग आदि

का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये, किन्तु वहाँ इनके बाह्य रूप की अपेक्षा आध्यात्मिक स्वरूप पर अधिक जोर दिया गया है। हम आज बाह्य कर्मकाण्डों के ही दास हो गये हैं। उसका फल यह हुआ कि भारतीय समाज पूरी तरह से पाखण्ड से घिर गया है और हमारी आध्यात्मिक गरिमा केवल पुस्तकों की अथवा कुछ धर्माचार्यों की वाणी की शोभा बढ़ाने तक ही प्रायः सीमित रह गई है। तन्त्रशास्त्र का कहना है कि विधि-निषेध, भक्ष्याभक्ष्य, शुद्धि-अशुद्धि की व्यवस्था का मानव को आध्यात्मिक उन्नति में कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। मन की पवित्रता पर ही यहाँ अधिक जोर दिया गया है और बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि जिस विधि से भी यह सम्भव हो सके, उसी विधि का वह सहारा ले।

शुद्धि और अशुद्धि

स्वायम्भुवागम के एक वचन में रागादिजनित चित्त की मलिनता को ही अशुद्धि माना है। विज्ञानभैरव (श्लो० १२०) में भी शुद्धि और अशुद्धि के इस आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर दिया गया है। हमने मालिनीविजय, तन्त्रालोक, वीरावलीशास्त्र आदि के प्रमाण से इस ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या में उक्त विषय पर विशद विचार किया है। तन्त्रालोक के चौथे और पन्द्रहवें आह्निक में शुद्धि और अशुद्धि के स्वरूप पर गम्भीर विचार छेड़ा गया है और आनन्दशास्त्र, मतशास्त्र, पूर्वशास्त्र तथा कुल, क्रम एवं त्रिकशास्त्र के अनेक वचनों को उद्धृत कर उक्त तान्त्रिक दृष्टि का सयुक्तिक समर्थन किया गया है। पर्यन्तपंचाशिका (श्लो० ९) में शुद्धि की परिभाषा देते हुए बताया गया है कि इदन्तारूप से भासित हो रहे समस्त जागतिक पदार्थों को स्वात्माहन्ता में समेट लेना ही वास्तविक शुद्धि है। महेश्वरानन्द (पृ० ४३) ने इस वचन को उद्धृत कर इसकी व्याख्या करते समय शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था का सुन्दर विवेचन किया है। आज शुद्धि और अशुद्धि की तन्त्रशास्त्रसंमत व्याख्या पर ही अधिक जोर देने की आवश्यकता है।

धर्मशास्त्रों में भी शारीरिक शौच को सामान्य धर्म और तत्त्वज्ञान को परम धर्म माना गया है, जो कि मिट्टी, जल आदि से की गई शारीरिक शुद्धि से उत्पन्न होने वाले धर्म से अधिक श्रेयस्कर है। याज्ञवल्क्यस्मृति के इस वचन को आप देखिये—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥ (१।८)

शारीरिक शुद्धि के न रहने पर परमात्मा की कोई हानि नहीं है, क्योंकि वह तो आकाश की तरह निर्मल है। शुद्धि यदि की जाती है, तो उससे उसमें कुछ बढ़ोतरी होने वाली नहीं है। मिट्टी आदि से शुद्ध करने पर भी शरीर तो मलिन ही रहेगा। वास्तव में तो इस बाह्य शारीरिक शुद्धि के बिना भी निर्विकल्पक ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल बना कर साधक स्वात्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

विधि और निषेध

महेश्वरानन्द ने उक्त ग्रन्थ (पृ० २१-२२) में विधि और निषेध की भी तन्त्रशास्त्र-संमत व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐसा करते हुए वे संवित्प्रकाश और संविदुल्लास को उद्धृत करते हैं, जिनमें बताया गया है कि जिस वस्तु को हम छोड़ सकते हैं, वही हमारे लिये हेय और जिसको नहीं छोड़ सकते वह उपादेय है। यहाँ शैवागमों को ही परम प्रमाण माना गया है और कहा गया है कि वह प्रभु निषेध में भी विधि और विधि में भी निषेध की भावना को भरने में समर्थ है। विधि-निषेध की यह व्याख्या तन्त्रालोक (४।२५६-२७४ तथा १२।१४-२०) में भी देखी जा सकती है। मालिनीविजय (१८।७४-८१) में बताया गया है कि शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का निरूपण, द्वैत या अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने का आदेश, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या परित्याग, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, क्षेत्र-संन्यास आदि लेकर नियमों का पालन करना या न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम, गोत्र आदि को रखना या न रखना जैसी बातों के बारे में पक्ष या विपक्ष में यहाँ कुछ भी नहीं कहा जाता। ये सभी वस्तुएँ विहित भी मानी जा सकती हैं और निषिद्ध भी। इसमें साधक की इच्छा ही प्रमाण है कि वह इनका आचरण करे या न करे। वस्तुतः तत्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर शास्त्र में केवल इतना ही विधान है कि योगी को प्रयत्नपूर्वक परम तत्त्व में अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये। चित्त की यह स्थिरता जैसे भी हो, योगी को तदनुसार ही अपनी चर्या बना लेनी चाहिये।

विधिनिषेध की इस दृष्टि को मनुस्मृति के निम्न श्लोक से भी समर्थन मिलता है—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ (५।५६)

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विधि और निषेध की शास्त्रीय व्याख्या को तन्त्रशास्त्रीय दृष्टिकोण और समय की मांग के अनुसार बदलने की आवश्यकता है। तन्त्रशास्त्र का यह उद्घोष अवधेय है—

यद्यप्यस्ति त्रिकालज्ञस्त्रैलोक्याकर्षणक्षमः।
तथापि लौकिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत् ॥
(शक्तिसंगमतन्त्र, २।४६।४२)

अष्टांग योग

वीरावली शास्त्र के प्रमाण पर तन्त्रालोक (४।८७-९५) और तन्त्रसार (पृ० २१-२५) में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि शुद्ध संवित्स्वरूप स्वात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये यम, नियम आदि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। यम-नियम और आसन-प्राणायाम प्रधानतः शरीर से संबद्ध हैं और प्रत्याहार से भी इन्द्रियों का ही परिष्कार होता है। इसी तरह से ध्यान, धारणा और समाधि नामक अन्तिम तीन अंग भी अपने-अपने अभ्यास के अनुसार ध्याता का ध्येय वस्तु से तादात्म्य स्थापित कराने में सहायक होते हैं। संविदात्मक स्वस्वभाव के साक्षात्कार के लिये इस प्रकार के अभ्यास की क्या आवश्यकता है? "सकृद् विभातोऽयमात्मा" इस शास्त्रवचन के अनुसार शक्ति-पात की दशा में उसका साक्षात्कार तो बिना किसी प्रयत्न के अपने आप हो जाता है। इसीलिये यहाँ अनुपाय प्रक्रिया को वरीयता दी गई है। इसीको सिद्धों की भाषा में सहज कहा गया है। इस सहज तत्त्व के साक्षात्कार में शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन में सत्तर्क और स्वानुभव को ही कारण माना गया है। तीव्रतम शक्तिपात की दशा में साधक को दीक्षा की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। संविद्देवी ही उसको दीक्षित कर देती है।

सत्तर्क और स्वानुभव

मालिनीविजय (१७।२८) के प्रमाण पर तन्त्रालोक (४।१५) में योग के सभी अंगों में तर्क को श्रेष्ठ माना है। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी शाखाओं में योग के प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि और तर्क नामक छः अंगों का ही वर्णन किया गया है। तर्क नामक अंग का विवेचन प्रधानतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन में हुआ है। तन्त्र की अन्य शाखाओं में यह ऊह, वीक्षण, अनुस्मृति आदि नामों से स्मृत है। सत्तर्क और स्वानुभव की व्याख्या अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (४।३४–८६) में विस्तार से की है। वहाँ किरणागम के प्रमाण से ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। वे हैं— गुरु, शास्त्र और स्वकीय प्रातिभ ज्ञान। वहीं यह भी बताया गया है कि गुरु

की अपेक्षा शास्त्र और शास्त्र की अपेक्षा स्वानुभव से प्राप्त ज्ञान अधिक उत्कृष्ट है। स्वपरामर्श की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिये यहाँ किरणागम, पूर्व-शास्त्र (मालिनीविजय), परात्रीशिका, ब्रह्मयामल, निशाटन आदि शास्त्रों के वचन उद्धृत किये हैं। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि गुरु शास्त्रों का ज्ञान कराने में सहायक होता है और शास्त्रों के अध्ययन से स्वात्मस्वरूप के साक्षात्कार में सहायता मिलती हैं। इस प्रसंग में योगवासिष्ठ का यह वचन भी स्मरणीय है—

शास्त्रार्थैर्बुध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतः स्वतः॥

पूर्व के प्रतिपादन और योगवासिष्ठ के इस वचन में अन्तर इतना ही है कि यहाँ शास्त्र की अपेक्षा गुरु को वरीयता दी गयी है। यही क्रम हमें भी अधिक रुचिकर लगता है। अस्तु, इतना स्पष्ट है कि इन सब शास्त्रों में स्वीय प्रातिभ ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में इस सिद्धान्त की कितनी उपयोगिता है।

समता दृष्टि

शक्तिसंगमतन्त्र (२।१८।२१) में समताष्टक मार्ग का उल्लेख है। तन्त्रालोक (४।२७४-२७५) में भी इसकी चर्चा आई है। टीकाकार जयरथ ने आठ प्रकार की समता के प्रतिपादक त्रिकशासन के एक वचन को उद्धृत किया है, जो कि महेश्वरानन्द की स्वोपज्ञ व्याख्या में भी उपलब्ध है—

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः॥
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः॥

इसके अनुसार जगत् के सभी भावों, वृत्तियों, दृष्टियों, द्रव्यों, भूमिकाओं, ओवल्लियों, देवताओं और वर्णों में सब तरह से एक सी दृष्टि रखना ही समता-दृष्टि कहलाती है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार सब कुछ शिवमय है। अतः सभी भावों और धर्मों में भी समतादृष्टि का उदय हो, यह स्वाभाविक है। इस दृष्टि के उन्मेष के उपाय के रूप में विज्ञानभैरव में ४०वीं धारणा का विधान किया है। आनन्दभैरव शासन में समतादृष्टि का प्रतिपादन इस तरह से किया गया है—

उत्सृज्य लौकिकाचारमद्वैतं परमं श्रयेत्।
स समं सर्वदेवानां तथा वर्णाश्रमादिके॥
द्रव्याणां समतादर्शी स मुक्तः सर्वबन्धनैः।

नन्दिशिखा शास्त्र ने समता को सर्वश्रेष्ठ व्रत माना है—"सर्वत्र समता ह्यत्र व्रते देवि विधीयते ।.....व्रतानां परमो व्रतः" । भर्गशिखा शास्त्र इसी को वीरव्रत नाम देता है। इस विषय का विवेचन तन्त्रालोक (१२।१२-२०) तथा परात्रीशिकाविवृति (पृ० २३५) में भी किया गया है। "प्राणसमाचारे समदर्शनम्" (३।३२) यह शिवसूत्र भी इसी ओर इंगित करता है। शिवदृष्टि में सभी पदार्थों की समरसता (पृ० १८), शिवरूपता और सत्यता (पृ० ३४-३५, १२५-१२७) तथा सर्वात्मकता (पृ० १९४-१९५, २०८) का सयुक्तिक प्रतिपादन मिलता है। योगवासिष्ठ तो इस समता-सिद्धान्त का खजाना ही है। वहाँ बार-बार विभिन्न अवसरों पर इस सिद्धान्त को स्मरण किया गया है और इसका महत्त्व बताया गया है। "समत्वं योग उच्यते" (२।४८), "पण्डिताः समदर्शिनः" (५।१८), "समलोष्टाश्मकाञ्चनः" (६।८), "सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥" (६।९), "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति" (६।३२), "समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः" (१४।२४) भगवद्गीता के इन सभी वचनों में समता दृष्टि का ही गुणगान किया गया है। यह कहा जा सकता है कि तन्त्रशास्त्र ने इस समता दृष्टि का अधिक विस्तार किया है। इतना ही नहीं, तन्त्रशास्त्र ने भगवद्गीता में कुछ संशोधन भी प्रस्तुत किये हैं, जिनका कि वर्तमान काल में अत्यधिक मूल्य है।

भगवद्गीता में संशोधन

वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत कृतान्तपंचक के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। महाभारत और भगवद्गीता में इन सभी शास्त्रों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। भगवद्गीता का कहना है कि योगभ्रष्ट व्यक्ति का पवित्र वंश में जन्म होता है और इसके बाद ही उसकी मुक्ति होती है। भीष्म पितामह को सद्गति की प्राप्ति के लिये उत्तरायण की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, किन्तु आगम और तन्त्रशास्त्र के इन वचनों को आप देखिये—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम् ।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥

शैव और वैष्णव परमार्थसार के दोनों संस्करणों में यह वचन मिलता है।

हिमवति गङ्गाद्वारे वाराणस्यां कुरौ प्रयागे वा ।
वेश्मनि चण्डालादेः शिवतत्त्वविदां समं मरणम् ॥

यह निर्वाणयोगोत्तर का वचन है।

रथ्यान्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चण्डालगेहे निरये श्मशाने।
सचिन्तको वा गतचिन्तको वा ज्ञानी विमोक्षं लभतेऽपि चान्ते ॥

यह वचन आधारकारिका का है। इन सभी वचनों में मुक्ति को देश और काल के प्रतिबन्ध से मुक्त माना गया है। "तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽथवा" योगवासिष्ठ का यह वचन भी इसी सिद्धान्त का समर्थक है।

भगवद्गीता (६।४५) में बताया गया है कि अनेक जन्मों की तपस्या के बाद ही व्यक्ति परम गति को प्राप्त करता है। इसके विपरीत शिवधर्म का कहना है कि शिवभक्त एक ही जन्म में मुक्त हो जाता है। शिवधर्मोत्तर में भी मोक्ष को एकभविक कहा गया है। भक्तिस्तोत्रकार अवधूत सिद्ध का यह वचन भी इसी बात को व्यक्त करता है—

यत्तीर्थिकैर्जगति जन्मभिरप्रमेयै-
नसाद्यते पदमिति स्वमतेषु गीतम्।
तच्चैकजन्मिकमिति ब्रुवता निगृह्य
तेषां त्वया ननु कृतश्चरणः शिरस्सु ॥

इस श्लोक का पूर्वार्ध मानों भगवद्गीता के "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" इस श्लोक की ओर इंगित कर रहा है।

भगवद्गीता के छठे अध्याय में योगाभ्यास से मन को निगृहीत करने की शिक्षा दी गयी है। इसके विपरीत "यत्र यत्र मनो याति", "यत्र यत्र मनस्तुष्टिः", "सर्वं शिवमयम्" इत्यादि विज्ञानभैरव और स्वच्छन्दतन्त्र के वचनों में बताया गया है कि जब सब कुछ शिवमय ही है, तो जहाँ कहीं भी मन जाता है, अथवा जो भी विषय उसको रुचिकर लगता है, सर्वत्र शिवस्वभावता को ही देखने वाले साधक को अपना मन वहीं लगा देना चाहिये।

आज पूरा भारतीय समाज युगों की व्यवस्था से जकड़ा हुआ है। उसका सोचना है कि आजकल जो कुछ अनाचार-अत्याचार फैला हुआ है, यह सब कलियुग का प्रभाव है, किन्तु नेत्रतन्त्र का कहना है कि भगवान् शिव के साम्राज्य में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि की भी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। हम सोच सकते हैं कि आज इन सब सिद्धान्तों की कितनी उपयोगिता है। विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण वर्तमान काल संकटापन्न हो गया है। हम तन्त्रागम शास्त्र के प्रस्तुत निबन्ध में व्याख्यात दृष्टिकोण के आधार पर इन सबमें समन्वय स्थापित कर सारे जगत् को इस सांस्कृतिक संकट से उबार

सकते हैं। इस प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का परतत्त्व का स्वरूप भी हमारे लिये परम सहायक हो सकता है।

परतत्त्व की प्रकाशविमर्शात्मकता

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भा० २, पृ० २०१) में अभिनवगुप्त ने विज्ञान को ब्रह्मस्वरूप माना है। विज्ञानभैरव यह नाम भी इसी ओर इंगित करता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा० ३, पृ० ४०५) में अभिनवगुप्त ने आगमों को द्वैतपरक व्याख्या को अद्वैतपरक सिद्ध कर, ब्रह्मवाद की अविद्या को माया-शक्ति का स्थान देकर और क्षणिक विज्ञानाद्वयवाद के स्थान पर नित्यात्मेश्वरवाद का प्रतिपादन कर मुक्ति का एक सरल मार्ग खोल दिया है, जिस पर कि चलने का अधिकार पूरी मानव जाति को ही क्यों ? प्राणी मात्र को है। सत्तर्क और स्वानुभव से जिस स्वात्मदेवता की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह परतत्त्व यहाँ प्रकाशविमर्शात्मक माना गया है। यह सारा जगत् उस प्रकाशविमर्शात्मक परतत्त्व का, परशिव का विलास है। सब कुछ शिवशक्तिमय है। वैदिक भाषा में अग्नीषोमात्मक है।

अद्वैतवादी आगमिकों की मान्यता है कि नट अपनी इच्छा के अनुसार राम-कृष्ण, रावण-कंस आदि की भूमिका में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के सुख-दुःखों की अनुभूति स्वयं तटस्थ भाव से करता हुआ भी जैसे दर्शकों में साधारणीकरण प्रक्रिया के आधार पर सचमुच की सी अनुभूति पैदा कर देता है, उसी तरह से ईश्वर भी तटस्थ भाव से लीला करता है। लीला करते-करते वह बौद्ध और पौरुष अज्ञान से आवृत हो जाता है। तब उसकी शक्तियाँ और स्वरूप संकुचित हो जाते हैं। संकुचित प्रमाता के रूप में वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। यह स्वरूप की विस्मृति ही इनके यहाँ बन्ध है और स्वरूप की स्मृति ही मोक्ष कहलाती है। इस तरह से इनके मत में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इनकी दृष्टि में यह सारा विश्व 'अहम्' का ही विलास है। चित्रकार कागज, कपड़ा या दीवाल पर अपनी कल्पना का चित्र बनाता है। यह शिव ऐसा अनोखा चित्रकार है कि बिना आधार के अपने आपमें इस विश्व के उन्मीलन और निमीलन की लीला करता रहता है। अपनी अहन्ता को वह परिमित-प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर लेता है और फिर वही पर-प्रमाता के रूप में इस पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह इस पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है।

समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा की है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का सबसे प्रमुख तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है –"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति", "वसुधैव कुटुम्बकम्" इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं। एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हीं को हम व्यक्तिगतमानस और लोकमानस कह सकते हैं।

इन उभयविध मानसों के परिष्कार के लिये हम सभी प्राचीन संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों के स्थान पर नूतन नैतिक मूल्यों का समावेश कर एक अखण्ड विश्व संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का इस निबन्ध में प्रतिपादित स्वरूप अवश्य ही इस कार्य में सर्वाधिक सहायक होगा। दक्षिण के वीरशैव दर्शन को भी प्रायः ये सभी सिद्धान्त मान्य हैं। प्रमाणस्वरूप इस मत के सिद्धान्तशिखामणि नामक ग्रन्थ को देखा जा सकता है।

●

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥

(मनु०, २।१६०-१६१)

संत कबीर के प्रेरक तत्त्व[1]

कबीर एक क्रान्तद्रष्टा सन्त कवि थे। निर्गुण रहस्यवाद उनका प्रिय विषय था। उलटवासियों के माध्यम से वे अपने गूढ़ मनोभावों को व्यक्त करते थे। "गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी। बलात्कारेण भुञ्जीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥" इस प्रकार के श्लोक कहीं-कहीं संस्कृत वाङ्मय में भी देखने को मिल जाते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र, कुलार्णव जैसे तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में तो अन्तिम प्रकरण इस प्रकार के शब्दों की व्याख्या के साथ ही पूरा होता है। स्वच्छन्दतन्त्र में इसको छुम्मा प्रकरण कहा गया है। बौद्ध तन्त्रों में भी इस प्रकार के प्रकरण मिलते हैं। रहस्यवादी सिद्धों का जीवन विपरीतता से ही, उलटवासियों से ही भरा हुआ था। अद्वयवादी शैव, शाक्त और बौद्ध ग्रन्थों में रहस्यवाद से ओत-प्रोत अनेक प्रसंग मिलते हैं। इन प्रकरणों में अनेक स्थानों पर प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। स्वच्छन्दतन्त्र में प्रयुक्त छुम्मा शब्द भी संस्कृत भाषा का न होकर प्राकृत भाषा अथवा उस समय की प्रचलित लोकभाषा का प्रतीत होता है। इन लोक-भाषा के वचनों में कबीर के प्रेरणास्रोत तत्त्वों की खोज की जा सकती है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आणव, शाक्त, शाम्भव नामक तीन उपाय वर्णित हैं। चौथा उपाय अनुपाय प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। इस अनुपाय प्रक्रिया की तुलना हम सिद्धों के सहजयान से कर सकते हैं। शाक्त उपाय द्वारा विकल्पों की शुद्धि तथा शाम्भव उपाय में विकल्पों का विलयन होता है। यह सारा जगत् विज्ञानभैरव का विलास है, ऐसा मानकर प्रत्येक जागतिक पदार्थ में उसी के स्वरूप को देखना विकल्प की शुद्धि है। विकल्प के शुद्ध हो जाने पर अन्ततः यह शिवाभिन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिये जप, होम, पूजा, ध्यान, तर्पण, याग आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा साधक अन्तःकरण की शुद्धि पर अधिक बल देता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, उसके लिये विष्ठापूर्ण सुवर्ण घट का दृष्टान्त दिया गया है। यह विषय योगवासिष्ठ, मालिनीविजय, विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित हुआ है। शाम्भव और शाक्त उपाय के प्रतिपादक तन्त्रालोक, महार्थमंजरी, योगिनीहृदयदीपिका

---

१. सत्याचार्य प्रकाशपति साहेब अभिनन्दन ग्रन्थ (बढइया, जौनपुर) में सन् १९८६ में प्रकाशित

सरीखे ग्रन्थों में भी यह विषय प्रसंगवश आता है। हम बानगी के रूप में इस विषय का यहाँ उपस्थापन इस निवेदन के साथ करना चाहते हैं कि सन्त कबीर का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में नयी पद्धति से होना चाहिये।

इष्ट देवता के सकल और निष्कल स्वरूप का वर्णन तन्त्रशास्त्रों में मिलता है। अन्यत्र सकल स्वरूप को ही सगुण और निष्कल स्वरूप को निर्गुण माना गया है। विज्ञानभैरव का कहना कि भगवान् का यह सकल स्वरूप इन्द्रजाल के समान, माया से निर्मित गन्धर्वनगर, मृगमरीचिका, रज्जुसर्प अथवा केशोण्डक के समान, स्वप्न में देखी गयी वस्तु के समान अस्थिर है, असत्कल्प है। अर्थात् इन्द्रजाल, गन्धर्वनगर आदि की सत्ता जैसे भ्रम पर आधारित है, वैसे ही यह सकल स्वरूप भी भ्रम पर आधारित होने से ही असार है। इस तरह की भ्रान्त बुद्धि वाले, फल की आकांक्षा से नाना कर्मकाण्डों में रुचि रखने वाले "मैं विष्णु की पूजा करता हूँ, मैं गणपति की पूजा करता हूँ, ये मुझे पुत्र, धन आदि देंगे" इस तरह के भाँति-भाँति के संकल्प-विकल्पों के कारण अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित व्यक्तियों के लिये यह सकल स्वरूप उपदिष्ट है। इसका उपदेश इस लिये किया जाता है कि निष्कल स्वरूप में प्रवेश पाने के लिये साधक को पहले सकल स्वरूप में ध्यान की योग्यता प्राप्त हो। सकल स्वरूप का यह उपदेश तत्त्व के जिज्ञासुओं के लिये नहीं है। जिनकी बुद्धि पवित्र नहीं हुई है, ऐसे ही व्यक्तियों की बुरी प्रवृत्तियों तथा नाना अभिनिवेशों की शान्ति के लिये बालबिभीषिका के रूप में यह विहित है। जैसे बच्चों की गलत जिद को झूठा डर दिखाकर माता शान्त कर देती है, अथवा जैसे माता बालक को लड्डू अथवा मिठाई देकर दवा खिलाती है, उसी तरह से भाँति-भाँति की सिद्धियों के भाँति-भाँति के साधन बताकर मनुष्य को भगवान् की आराधना में लगाया जाता है, जिससे कि वे निष्कल स्वरूप को समझने के योग्य बन सकें।

वास्तव में देखा जाय तो साधक के अपने स्वात्मस्वरूप के अतिरिक्त कोई पूजनीय और तर्पणीय तत्त्व है ही नहीं, क्योंकि पूज्य, पूजक और पूजा; तर्पक, तर्पणीय और तर्पण आदि सभी त्रिपुटीस्वरूप जागतिक पदार्थ परमार्थतः चिदानन्दघन परम तत्त्व की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इस स्थिति में कर्मकाण्ड का यह सारा आडम्बर व्यर्थ है।

इस प्रकार कर्मकाण्ड की व्यर्थता को उजागर करने के उपरान्त विज्ञानभैरव के अन्तिम कुछ श्लोकों में जप, ध्यान, पूजा, तर्पण, होम, याग, स्नान आदि की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। उसके अनुसार स्वच्छन्दतन्त्र में वर्णित—"मैं इस जगत् का परम कारण परमहंस प्राणमय शिव हूँ" इस विधि

से दिन-रात स्वाभाविक रूप से प्रवर्तमान अपने प्राणमय अजपा स्वरूप का विमर्श, चिन्तन करने का जो उपदेश किया जाता है, तदनुरूप मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही शिव हूँ, इस अनाहत नादरूपी शब्द (सोऽहम् = हंसः) की निरन्तर चल रही मानसिक भावना को ही यहाँ जप कहा गया है। जपनीय मन्त्र भी नादात्मक ब्रह्म ही है, जिसमें कि अपने अकृत्रिम अहमात्मक स्वरूप का निरन्तर परामर्श होता रहता है। श्रीकण्ठीसंहिता में बताया गया है कि मन्त्र और मन्त्री अर्थात् मन्त्र, मन्त्र का जप करने वाला और मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता— ये तीनों कभी अलग-अलग नहीं माने जाते। योगिनीहृदयदीपिका, तन्त्रालोक, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, शिवसूत्र आदि ग्रन्थों में इस विषय का विस्तार देखा जा सकता है।

निश्चल, अर्थात् अत्यन्त स्थिर; निराकार, अर्थात् भाँति-भाँति के आकारों की कल्पना से शून्य अथवा विकारों से रहित, अर्थात् नाना प्रकार के परिणामों से युक्त, निराश्रय अर्थात् मूलाधार, हृदय, द्वादशान्त आदि स्थानों का सहारा न लेने वाली बुद्धि ही इस शास्त्र में 'ध्यान' पद से कही जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि वेद्य अथवा अवेद्य विषयों की उपस्थिति में भी समाधि के अभ्यास के कारण पवनरहित स्थान में रखे दीपक के समान जो स्थिर निर्विकार बुद्धि होती है, उसी को इस शास्त्र में 'ध्यान' के नाम से जाना जाता है। भगवान् के साकार रूप की कल्पना कर उसके मुँह, आँख आदि अंगों में अपने चित्त को स्थिर करना यहाँ ध्यान नहीं है, ध्यान की यह कल्पना तो स्थूल दृष्टि वालों के लिये है।

यहाँ पुष्प, धूप, गन्ध आदि बाह्य उपकरणों से पूजा नहीं की जाती, किन्तु निर्विकल्प महाकाश, अर्थात् परचिदाकाश, बोधभैरव के प्रति दृढ़ आस्था ही पूजा कहलाती है। बोधभैरव से ही यह सारा संसार व्याप्त है। अतः आदर और श्रद्धापूर्वक उस बोधभैरव में, स्वात्मस्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त कर लेना, लीन हो जाना ही परमार्थतः पूजा कहलाती है। संकेतपद्धति, तन्त्रालोक, योगिनीहृदयदीपिका, भट्ट उत्पल की शिवस्तोत्रावली, भट्ट नारायण की स्तव-चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में इस आध्यात्मिक पूजा का विविध स्वरूपों में वर्णन किया गया है।

दृढ़तापूर्वक एकाग्र समाधि का अभ्यास करने वाले योगी के चित्त में दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर निर्विकल्प समाधि के रस के आस्वाद के बढ़ते रहने से सर्वत्र व्याप्त भैरवस्वरूप की, पूर्ण स्वात्मस्वरूप की उपलब्धि जब परिपूर्ण हो जाती है, अर्थात् जब स्वात्मस्वरूप बोधभैरव का साक्षात्कार स्पष्ट हो जाता है, तो

इसी अत्यन्त परिपूर्ण स्थिति का नाम तृप्ति, अर्थात् तर्पण है। तर्पण शब्द की दो तरह की व्याख्या की जाती है। एक के अनुसार पूजा देवताओं की और तर्पण पितरों का किया जाता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार कुल, क्रम आदि शास्त्रों में प्रदर्शित विधि को तर्पण कहते हैं। इससे प्राप्त उल्लास दशा को तृप्ति कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों ही तर्पण स्थूल दशा के द्योतक हैं। अन्यत्र इनकी व्याख्या पूजा के विविध प्रकारों के अन्तर्गत की गई है।

महाशून्य, अर्थात् शून्यातिशून्य पदवी (महामाया शक्ति) का चारों तरफ से जिस परतत्त्वात्मक परभैरवस्वरूप वह्नि में विलयन हो जाता है, अर्थात् जहाँ पहुँच कर शून्यातिशून्य पदवी की भी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहने पाती, उस बोधभैरव रूप अग्नि में पाँच महाभूत, इन्द्रियगण, जागतिक समस्त पदार्थ भुवन-तत्त्व इत्यादि संकल्प-विकल्पात्मक सकल जगत् के इन विभागों की कल्पना में प्रधान सहायक मन के साथ आहुति दे देना ही वास्तविक होम कहलाता है। यद्यपि होम में घृत आदि की आहुति स्रुवा नाम के लकड़ी के बने पात्र से दी जाती है, उसी तरह से उक्त पदार्थों की यह हवि भी चिति नामक पात्र में रख कर दी जाती है। यह चिति ही सारे विश्व का अनुसन्धान करने वाली चेतना नाम की शक्ति है। इस चेतना में ही समस्त जागतिक पदार्थों को रखकर उनको बोधभैरव रूप अग्नि में लीन कर दिया जाता है, जिससे कि केवल शुद्ध स्वात्मस्वरूप बचा रहता है। अद्वयदृष्टि के अनुसार यही वास्तविक होम है, जिससे कि शुद्ध अद्वय तत्त्व के अतिरिक्त सब कुछ भस्म हो जाता है। स्वच्छन्द-तन्त्र, योगिनीहृदयदीपिका, ज्ञानार्णवतन्त्र, सुभगोदयवासना, शिवसूत्र, महार्थ-मंजरीपरिमल आदि ग्रन्थों में होम की यही व्याख्या की गई है। भगवद्गीता में भी यह विषय चर्चित है। "सर्वाणीन्द्रियकर्माणि" (४।२७) इत्यादि श्लोक में ज्ञान से जलाई गई योगाग्नि में सभी बाह्य विषयों के इन्द्रिय-व्यापार और प्राण-व्यापार की आहुति देने की बात कही गई है।

समाधि अवस्था में अनुभूयमान आनन्द से उत्पन्न सन्तुष्टि ही यहाँ याग, अर्थात् देवयजन (पूजा) कहा जाता है। इसी तरह से पशुप्रमाता को जब गुरु के द्वारा उपदिष्ट किसी उत्कृष्ट भावना के माध्यम से पतिरूपी रुद्रप्रमाता (अनाश्रित शिव) की शक्ति में समावेश दशा, अर्थात् तन्मयता प्राप्त हो जाती है, तो इस तन्मयीभाव को ही यहाँ क्षेत्र अथवा तीर्थ कहा जाता है। इस शास्त्र में अद्वय दृष्टि की प्रधानता के कारण कुरुक्षेत्र आदि द्वैत दृष्टि के पोषक तीर्थ स्थानों को क्षेत्र नहीं कहा जाता। निर्वचन के अनुसार क्षेत्र वह कहलाता है, जो सभी पापों को नष्ट करने वाला हो और समस्त प्राणियों की इस संसाररूपी भय से

रक्षा कर सकता हो। अनाश्रित शिव में समाविष्ट हो जाने पर ही पशुप्रमाता सभी पापों से मुक्त हो सकता है और इस संसाररूपी महाभय से त्राण पा सकता है।

अद्वय स्वभाव वाले आत्मा के सब तरह से स्वतन्त्र, आनन्दमय चिन्मात्र स्वरूप का साक्षात्कार होने पर उसी में समाविष्ट हो जाने की स्थिति को यहाँ स्नान कहा गया है। स्वात्मस्वरूप वस्तुतः स्वतन्त्र है। इसका यह स्वरूप आनन्दमय और ज्ञानमय है। अपने इस स्वाभाविक स्वरूप में साधक योगाभ्यास द्वारा लीन हो जाता है। जैसे तीर्थ में स्नान करने के लिये नदी, जलाशय आदि के जल में डुबकी लगानी पड़ती है, उसी तरह से इस आन्तर स्नान में भी साधक स्वात्मस्वरूप में डुबकी लगाता है। उसकी यह लीनावस्था ही अद्वयशास्त्र में स्नान कहलाती है।

इष्टदेव की जिन पुष्प, फल, गन्ध, धूप आदि से पूजा की जाती है, अथवा खीर, मिश्री-मावा आदि का भोग लगाया जाता है और जो पूजा करने वाला अथवा भोग लगाने वाला है, वह सब तो एक ही तत्त्व है। पूज्य, पूजनसामग्री और पूजा करने वाला, इस तरह के सभी भेद एक ही तत्त्व के विभिन्न स्वरूप हैं, इस तरह का पारमार्थिक बोध जग जाने पर किससे किसकी कौन पूजा करेगा ? इन सभी की एकरूपता के कारण परस्पर कोई भेद नहीं है। तब इस अद्वय तत्त्व में प्रदर्शित पूजा के अतिरिक्त स्थूल दृष्टि से सम्पन्न होने वाले पूज्य, पूजनसाधन, पूजा, पूजक आदि की परमार्थ दृष्टि से कोई सत्ता नहीं मानी जा सकती।

मालिनीविजयतन्त्र (१८।७४-८१) में भी बताया गया है कि अद्वय दृष्टि के साधक के लिये शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का निरूपण, द्वैत या अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने का विधान, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या त्याग, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, क्षेत्रसंन्यास लेकर नियमों का पालन करना न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम, गोत्र आदि को रखना न रखना—जैसी बातों के पक्ष या विपक्ष में कुछ भी नहीं कहा जाता। ये सभी वस्तुएँ विहित भी मानी जा सकती हैं और निषिद्ध भी। इसमें साधक की इच्छा ही प्रधान है कि वह इनका आचरण करे या न करे। वस्तुतः तत्त्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर इस शास्त्र में केवल इतना ही विधान है कि योगी को प्रयत्नपूर्वक अपने चित्त को परम तत्त्व में स्थिर करना चाहिये। चित्त की वह स्थिरता जैसे भी हो, योगी को तदनुसार अपनी

चर्या बना लेनी चाहिये। जिस योगी का चित्त परम तत्त्व में स्थिर हो गया है, वह विषयों का उपभोग करते हुए भी उनके दोषों से उसी तरह से लिप्त नहीं होता, जैसे कि जल में रहते हुए भी कमलपत्र उससे निर्लिप्त रहता है। विष को दूर करने वाला गारुडी अपने शरीर को मन्त्रों से जब सुरक्षित कर लेता है, तो उस पर जहर का असर नहीं होता, उसी तरह से यह महान् शक्तिशाली योगी विषयरूपी विष को खाकर भी मोहित नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन अद्वयवादी तन्त्र-ग्रन्थों में मन की शुद्धि पर अधिक बल दिया गया है। यही कबीर की वाणी का भी मुख्य लक्ष्य है। सन्त कबीर जब मूर्तिपूजा का निषेध कर पत्थर की चाकी को पूजने के लिये कहते हैं, तो उसका अभिप्राय बाह्य आडम्बरों से ऊपर उठकर, बाह्य पूजा से विरत होकर चित्त की शुद्धि के लिये, अपनी मलिन आत्मा के परिष्कार के लिये सर्वात्मना सेवाभाव को स्वीकार कर लेना है। चाकी की सार्थकता इसमें है कि वह हमें पिसा हुआ आटा देती है, ऐसा कोई प्रत्यक्ष लाभ हमें मूर्ति से प्राप्त होता नजर नहीं आता। मूर्तिपूजक का चित्त अन्तःकरण की निर्मलता के अभाव में भटक सकता है। सन्त कबीर अपनी विशिष्ट शैली में व्यक्ति को जड़वाद से ऊपर उठाने के लिये उसे अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का उपदेश देते हैं। इन ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में किया गया अध्ययन ही कबीर की वाणी के सही अर्थों को बता पाने में समर्थ हो सकता है और यह भी कि कबीर की यह वाणी भारतीय संस्कृति की ज्ञानगंगा के अजस्र स्रोत से पूरी तरह से जुड़ी हुई है, अपनी सीमा का कहीं भी उसने उल्लंघन नहीं किया है।

•

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(मनु० २।९४)

बौद्ध और बौद्धेतर योगतन्त्र का तुलनात्मक विवेचन

योगतन्त्र की परिभाषा

आगम अथवा तन्त्रशास्त्र में ग्रन्थों अथवा तन्त्रों को क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर अथवा विद्या विभाग में बाँटा गया है। बौद्ध साहित्य में योग-तन्त्र शब्द का अभिप्राय योग के प्रतिपादक तन्त्रों से है, जब कि वाराणसी के सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में योगतन्त्र विभाग के संस्थापक श्रद्धेय कविराज जी ने योगतन्त्र शब्द में द्वन्द्व समास मानकर योगशास्त्र और तन्त्र-शास्त्र की सभी शाखाओं का इसमें समावेश माना है। उनका कहना है—

"पातंजल योग के अतिरिक्त अन्य विभिन्न योग-सम्प्रदाय भारत में हैं। इन सम्प्रदायों की स्मृति आज करीब-करीब लुप्त होती जा रही है। अतिप्राचीन समय से भारतवर्ष में नाना प्रकार के योगों का अनुशीलन होता था। देहशुद्धि, चित्तशुद्धि तथा आत्मज्ञान के लाभ के लिये योग की उपयोगिता है। नाथ सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ की विशेष कर गोरखनाथ की धारा प्रसिद्ध है। विभिन्न शैव सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार के शिवयोग प्रचलित हैं। वैदिक परम्परा में भी उपनिषदों के समय से विभिन्न प्रकार की योगधाराओं का पता चलता है। इनके अतिरिक्त तान्त्रिक योग की भी भिन्न-भिन्न धाराएँ हैं, इनके ग्रन्थ हैं। प्राचीन बौद्ध सम्प्रदाय में त्रिपिटक के अन्तर्गत पालि साहित्य में विभिन्न योगविषयक विवरण मिलते हैं। परवर्ती समय में 'विसुद्धिमग्गो' और 'अभिधम्मत्थसंगहो' आदि ग्रन्थों में योगरहस्यों के विलक्षण व्याख्यान मिलते हैं। महायान के अन्तर्गत पार-मितायान तथा मन्त्रयान दोनों में योग का विवरण है। तिब्बतीय बौद्ध साहित्य वस्तुतः योग रहस्यों की व्याख्या से ओत-प्रोत है। जैन सम्प्रदाय में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर उभयत्र योग-तत्त्वों का विवरण है। सहज मार्ग, अवधूती मार्ग, बाउल सम्प्रदाय, उड़ीसा का पंचसखी सम्प्रदाय, सन्त सम्प्रदाय, सिक्ख सम्प्रदाय, दरवेश सम्प्रदाय सर्वत्र ही अपनी-अपनी योगप्रणाली है। मराठी भाषा के साहित्य में महायोगी ज्ञानदेव का योगोपदेश है। तमिल, तेलुगु, कर्णाटक, बंगीय, उड़िया और असमी साहित्य में भी योगविषयक वर्णन मिलता है। पुराण साहित्य में सर्वत्र योग का विवरण देखा जाता है। भारतीय तथा विदेशी सूफी सम्प्रदाय में भी योग की प्रक्रिया समाविष्ट है। इन सभी का उद्धार और अध्ययन अपेक्षित है"।

"योगशास्त्र के अनुरूप तन्त्रशास्त्र भी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में कुछ वर्षों से आगमशास्त्र के नाम से पठन-पाठन में आया, किन्तु वह एक-देश मात्र है। आगम तथा तन्त्रशास्त्र अतिविशाल है। इनकी उपेक्षा बहुत दिनों से होती आ रही है। व्यक्तिगत रूप से कुछ लोग इसकी चर्चा अवश्य करते हैं, परन्तु इसके विशेष परिशीलन की व्यवस्था नहीं है। कुछ दिन पहले कलकत्ता हाईकोर्ट के विचारपति मनीषी सर जॉन वुडरफ ने 'आर्थर एवेलन' इस कल्पित नाम से तन्त्रशास्त्र की आलोचना का सूत्रपात किया था। वे स्वयं महातान्त्रिक शिवचन्द्र विद्यार्णव के शिष्य थे और उन्होंने बहुसंख्यक मूल्यवान् तन्त्र-ग्रन्थों का स्वयं सम्पादन किया तथा दूसरों से कराया था। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक तत्त्वों की समालोचना करने वाले अनेक ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे। पाण्डिचेरी में फ्रेंच विद्वन्मण्डली के उत्साह से आगमशास्त्र का कुछ प्रकाशन कार्य हुआ है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भारतीय ग्रन्थमालाओं में भी कुछ तन्त्र-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। बड़ोदा और आक्सफोर्ड में बौद्ध तन्त्रविषयक कुछ कार्य हुए और हो रहे हैं। इटली में टूची, फ्रांस में सिलवाँ लेवी, इंगलैण्ड में बर्नेट आदि विद्वानों ने तन्त्रविषयक कार्य किया तथा कर रहे हैं। किन्तु इतने पर भी विशाल तन्त्रसाहित्य के व्यापक प्रकाशन का कोई प्रबन्ध नहीं है। प्रायः शत वर्ष पूर्व रसिकचन्द्र चट्टोपाध्याय नामक एक महाशय ने व्यापक रूप से तन्त्र प्रकाशन का व्रत लिया था, किन्तु वे भी पूरा कार्य न कर सके और उनके प्रकाशित ग्रन्थ भी आजकल अप्राप्य हो चुके हैं। अतः तन्त्रशास्त्र का उद्धार वर्तमान समय में आवश्यक कर्तव्य है। इस पर ध्यान न देने से बहुत अच्छे ग्रन्थ लुप्त हो जायंगे" (विश्वविद्यालय वार्ता, व० २, अ० २, पृ० १०)।

प्रतिपाद्य विषय

योग और तन्त्र की इन सभी शाखाओं पर विचार करना इस निबन्ध का लक्ष्य नहीं है। इस शब्द के बौद्ध वाङ्मय में प्रचलित अर्थ तक ही हमें सीमित रहना है। शैव आगमों में और कुछ पांचरात्र (वैष्णव) संहिताओं में प्रत्येक ग्रन्थ को उपर्युक्त चार पादों में बाँटा गया है, जब कि बौद्ध साहित्य में इन विषयों के प्रतिपादक भिन्न-भिन्न तन्त्र मिलते हैं। बौद्ध योग के प्रतिपादक ऐसे कुछ तन्त्र-ग्रन्थों में तथा शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों के योगपाद में अथवा योगविषयक उपनिषदों में उपलब्ध योग संबन्धी सामग्री का ही हम यहाँ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

आगम अथवा तन्त्रशास्त्र में वर्णित योग को हम तीन भागों में बांट सकते हैं –१. षडंग योग, नाडीचक्रविशुद्धि योग और आनापानस्मृति (अजपा जप) योग। योग के छः, सात अथवा आठ अंग प्रतिपादित हैं। नाडीचक्रविशुद्धि योग कुण्डलिनी योग के नाम से प्रसिद्ध है और आनापानस्मृति का प्राचीन पालि साहित्य में ही नहीं, उपनिषद् और भगवद्गीता जैसे ग्रन्थों और तन्त्र-साहित्य में भी अजपा जप के नाम से पर्याप्त वर्णन मिलता है।

उपक्रम

आस्तिक-नास्तिक, वैदिक-अवैदिक, सभी भारतीय दर्शनों में अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में योगशास्त्र की सहायक भूमिका स्वीकार की गई है। प्रत्येक दर्शन में परम तत्त्व के निरूपण के साथ-साथ उस स्थिति तक पहुँचने के लिये शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक मानी गई है। शरीर और विशेष कर मन की शुद्धि यौगिक प्रक्रिया के आधार पर ही की जा सकती है। अतः अनिवार्य रूप से प्रत्येक दर्शन में योग का निरूपण पाया जाता है। प्रत्येक दर्शन की अपनी विशेष प्रक्रिया भी हो सकती है, किन्तु कुछ सामान्य नियम सर्वत्र एक स्वर से मान्य हैं। इस प्रकार योगशास्त्र को हम सर्वसामान्य अथवा आज की भाषा में धर्म-निरपेक्ष शास्त्र कह सकते हैं, जिसमें बिना किसी धार्मिक या लिंग-जाति आदि के भेदभाव के मानव मात्र के शारीरिक परिष्कार के साथ-साथ मन के भी परिष्कार का मार्ग दिखाया गया है।

महर्षि पतंजलि के द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग का उपयोग मुख्यतः चित्त की वृत्तियों को, अर्थात् मन को नियन्त्रित करने के लिये किया जाता है। योग की सर्वोत्तम परिभाषा भी यही मानी जा सकती है। अष्टांग योग के अभ्यास से मनुष्य न केवल शारीरिक चेष्टाओं, किन्तु मन की नाना प्रकार की वृत्तियों पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेने में समर्थ हो जाता है।

बौद्ध, वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों में अष्टांग योग के स्थान पर षडंग योग का विधान है। यहाँ पातंजल योग के यम, नियम और आसन नामक तीन अंगों को छोड़ दिया गया है। बौद्ध तन्त्रों में अनुस्मृति को और वैष्णव शैव, शाक्त तन्त्रों में तर्क को योग के अंग के रूप में मान्यता मिली है। इस तरह से यह योग षडंग योग के नाम से प्रसिद्ध है। यम, नियम और आसन का समावेश तन्त्रशास्त्र में अपनी-अपनी साधना-पद्धति में कर लिया गया है। म० म० पी० वी० काणे द्वारा प्रस्तुत[1] आक्षेप के संबन्ध में स्मरण रखने की

१. धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी संस्करण) पंचम खण्ड उत्तरार्ध (पृ० २०-३०) में वे लिखते हैं कि तान्त्रिक षडंग योग से यम-नियम को इसलिये छोड़ दिया गया कि ये पंचमकार वाली दृष्टि से विरुद्ध पड़ते थे।

बात यह है कि यह षडंग योग अनेक उपनिषदों तथा [1]भास्कर के भगवद्गीता-भाष्य को भी मान्य है।

षडंग योग

गुह्यसमाजतन्त्र[2] में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि—ये छः योग के अंग माने गये हैं। श्रद्धेय कविराजजी ने "भारतीय संस्कृति और साधना" में इस विषय पर अनेक बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों की सहायता से अच्छा प्रकाश डाला है। उसका सार हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

"सिद्धि दो प्रकार की है—सामान्य और उत्तम। योगिक विभूतियाँ सामान्य सिद्धि के अन्तर्गत हैं। सम्यक्संबोधि या बुद्धत्व उत्तम सिद्धि है। समाजोत्तर तन्त्र के अनुसार षडंग योग से ही बुद्धत्व या सम्यक्सम्बोधि प्राप्त हो सकती है। इसके चार उपाय हैं सेवा, उपसाधन, साधन और महासाधन। महोष्णीष बिम्ब की भावना सेवा कहलाती है। यह अशेष त्रैधातुक बुद्ध-बिम्ब है। [3]अमृत-कुण्डलिनी रूप से बिम्ब की भावना उपसाधन है। देवता-बिम्ब की भावना साधन और बुद्धाधिप तथा विभु रूप से बिम्ब की भावना महासाधन है। दस इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों के प्रति वृत्ति आहरण है। इन इन्द्रियों का अन्तर्मुख होकर अपने-अपने स्वरूप मात्र में अनुवर्तन **प्रत्याहार** है। प्रत्याहार के समय इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं करतीं। प्रत्याहार का फल—वैराग्य, त्रिकाल-दर्शन और धूम आदि निमित्तों के दर्शन की सिद्धि है। शुद्ध आकाश में धूम, मरीचि, खद्योत, दीपकलिका, चन्द्र-सूर्य या बिन्दु का दर्शन निमित्त-दर्शन है।

प्रत्याहार से बिम्ब-दर्शन होने पर **ध्यान** का प्रारंभ होता है। यह योग का द्वितीय अंग है। स्थिर तथा चर, अर्थात् यावत् चराचर भावों को पंचकाम कहा जाता है। पंचबुद्ध के प्रयोग से सब भावों में यह कल्पना करना कि सभी बुद्ध हैं, यह ध्यान है।

---

१. अद्वयवज्रसंग्रह में भास्कर मत का तीन बार (पृ० १६,१९,२९) उल्लेख किया गया है। भास्कर षडंगों की गणना गुह्यसमाज के क्रम से ही करते हैं। इनके कारणों की खोज होनी चाहिये।

२. प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ (१८।१४०)

३. इस शब्द का अर्थ जानने के लिये 'धीः' का द्वितीय अंक (पृ० ६६) देखिये।

ध्यान के बाद तृतीय अंग **प्राणायाम** है। मनुष्य का श्वास पंचज्ञानमय और पंचभूतस्वभाव है। पिण्ड रूप में निश्चल करके इसकी नासिका के अग्र देश में कल्पना करनी चाहिये। यह अवस्था महारत्न नाम से प्रसिद्ध है। अक्षोभ्य आदि पांच बुद्ध पंचज्ञानस्वभाव हैं। विज्ञान आदि पंचस्कन्ध ही इनका स्वरूप है। वाम और दक्षिण नासापुट में श्वास का प्रवाह होता है। इन दोनों प्रवाहों के एकीकृत होने पर वह पिण्डाकार हो जाता है। इसी पिण्ड को नासाग्र पर स्थिर करना पड़ता है। पहले प्राण वायु को मध्य मार्ग में निश्चल करना चाहिये, उसके बाद नासिकाग्र में। इसे नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट तथा उष्णीष कमल की कर्णिका में स्थिर करना चाहिये। वाम और दक्षिण प्रवाह का निरोध करके केवल मध्यमा में उसे प्रवाहित करना चाहिये। इस प्रकार निरुद्ध प्राणवायु पंचवर्ण महारत्न कहा जाता है। वज्रयानी साधक इस प्राणायाम को [1]वज्रजाप कहते हैं।

चतुर्थ अंग **धारणा** है। अपने इष्ट मन्त्र का हृदय में ध्यान करते हुए उसे ललाट में निरुद्ध करना चाहिये। मन के प्राणभूत होने के कारण प्राण ही मन्त्र पद का वाच्य है। हृदय से, अर्थात् कर्णिका से हटा कर इसे कर्णिका के मध्य में स्थापित करना चाहिये। इसके बाद बिन्दु-स्थान ललाट में उसका निरोध किया जाता है। इसी का नाम धारणा है। उस समय प्राण का संचरण, अर्थात् श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। प्राण एकलोल हो ललाटस्थ बिन्दु में प्रवेश करता है। निरुद्ध इन्द्रिय रत्न पद का वाच्य है। चित्त के अवधूती मार्ग में प्रविष्ट होने पर पूर्व वर्णित धूम आदि निमित्तों का प्रतिभास होता है। धारणा का फल वज्रसत्त्व में समावेश है। इसके प्रभाव से स्थिरीभूत महारत्न या प्राणवायु नाभिचक्र से चण्डाली को, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को उठाता है। वज्रमार्ग से मध्य धारा का अवलम्बन करते हुए यह क्रमशः उष्णीष चक्र तक पहुँचता है। इस धारणा के सिद्ध होने पर चण्डाली शक्ति स्वभावतः उज्ज्वल हो जाती है।

पंचम अंग **अनुस्मृति** है। प्रत्याहार तथा ध्यान से त्रिधातु को प्रतिभासित करने वाले संवृति सत्य की भावना निश्चल की जाती है। अनुस्मृति का उद्देश्य है संवृतिसत्य की भावना का स्फुरण करना। इसके प्रभाव से एकदेशवृत्तिक संवृति सत्याकार समग्र आकाश-व्यापी रूप में दिखाई देने लगता है। उससे त्रिकालस्थ समग्र भुवन का दर्शन होता है। यही अनुस्मृति है।

---

१. नागार्जुन के पंचक्रम के द्वितीय क्रम का नाम वज्रजाप क्रम है। वहाँ वज्रजाप का विशेष विवरण दिया गया है।

अनुस्मृति का फल प्रभामण्डल का आविर्भाव है। चित्त के विकल्पहीन होने पर इस विमल प्रभामण्डल का आविर्भाव होता है। इस समय रोम-कूप से पंचरश्मियों का निर्गम होता है।

योग का षष्ठ अंग **समाधि** है। प्रज्ञोपायसमापत्ति के द्वारा सर्व भावों का समाहार करके [1]पिण्ड योग से बिम्ब के भीतर भावना करनी पड़ती है। ठीक-ठीक भावना करने पर अकस्मात् एक महाक्षण में महाज्ञान की निष्पत्ति हो जाती है। यही समाधि है। उस समय प्रतिभासस्वरूप स्थावर-संगम यावत् भावों को उपसंहृत, अर्थात् संकुचित करके पिण्ड योग से परम अनास्रव महासुखात्मक प्रभास्वर पद के भीतर संवृति-सत्यरूप बिम्ब की भावना करनी पड़ती है। इससे संवृति सत्य तथा परमार्थ सत्य का द्वैधीभाव छूट जाता है और दोनों अद्वय रूप में प्रकाशमान हो उठते हैं। युगनद्ध विज्ञान का यही रहस्य है। यही बुद्ध का परम स्वरूप है" (प्रथम खण्ड, पृ० ५३७-५३९)।

भगवद्गीता के [2]भास्करभाष्य तथा अमृतनादोपनिषद् में भी प्रत्याहार ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—ये छः अंग गिनाये गये हैं। यहाँ अनुस्मृति के स्थान पर तर्क नाम आया है। तन्त्रालोक के टीकाकार [3]जयरथ ने भी षडंग योग का उल्लेख किया है। वहाँ का क्रम इस प्रकार है—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि। [4]विष्णुसंहिता में प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, तर्क, समाधि और ध्यान—यह क्रम मिलता है। विष्णु-संहिता (३०।६१-७२) में इनका विवरण भी मिलता है। इनमें तर्क के सिवाय अन्य अंग पातंजल योगसंमत ही हैं। इनके क्रम में भिन्नता मिलती है, किन्तु तर्क को सर्वत्र समाधि के साथ रखा गया है।

---

१. पंचक्रम के प्रथम पिण्डीक्रम से इसका परिचय प्राप्त करना चाहिये।

२. प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
　तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥ (भ० भा० ४।२८)
　इसी क्रम से यह श्लोक अमृतनादोपनिषद् (श्लो० ६) में भी मिलता है।

३. प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
　तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥ (तन्त्रा० वि० ४।१५)

४. प्राणायामोऽथ पूर्वं तु प्रत्याहारोऽथ धारणा।
　ततस्तर्कः समाधिश्च ध्यानं चाङ्गानि षट् क्रमात्॥ (३०।५७-५८)

[1]मालिनीविजय (१७।१८) और तन्त्रालोक (४।१५) में योग के सभी अंगों में तर्क को श्रेष्ठ बताया गया है। [2]विष्णुसंहिता (३०।६९-७०) में कहा गया है कि धारणा में जब चित्त संलग्न हो, तब अन्वय और व्यतिरेक की सहायता से किया गया निश्चय ही तर्क कहलाता है। भारतीय वाङ्मय में सत्तर्क को बहुत पहले प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। [3]निरुक्त में बताया गया है कि ऋषियों की परम्परा के समाप्त हो जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि अब हमारे बीच ऋषि का कार्य कौन करेगा? इसके उत्तर में देवताओं ने मनुष्य को तर्क शक्ति दी और कहा कि अब यही तुम लोगों के लिये ऋषि का कार्य करेगी। [4]मनुस्मृति में शास्त्रों के अविरोधी सत्तर्क को प्रमाण माना है। उपर्युक्त स्थल पर (पृ० १५-२०) तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने अनेक शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर शास्त्रानुरोधी सत्तर्क की प्रतिष्ठा की है। उनका कहना है कि तर्क को अप्रतिष्ठित[5] तभी माना जाता है, जब कि यह शास्त्रविरुद्ध हो।

जयरथ (४।१५) ने ऊह को तर्क का पर्याय माना है। [6]मृगेन्द्रागम के योगपाद में योग के अंग के रूप में वीक्षण (अभिवीक्षण) परिगणित है। उसी को [7]ऊह भी कहा गया है और उसका प्रयोजन भी बताया गया है।

---

१. योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।

२. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यस्माद् यदुपलभ्यते।
धारणादिषु कालेषु स तर्कः सम्प्रकीर्तितः॥

३. "मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्" (१३।१२)।

४. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (१२।१०६)

५. ब्रह्मसूत्र (२।१।११) में तर्क को अप्रतिष्ठित माना गया है। जयरथ ने यहाँ इसी मत को इंगित कर उसका उत्तर दिया है।

६. प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानवीक्षणे।
जपः समाधिरित्यङ्गान्यङ्गी योगोऽष्टमः स्वयम्॥ (यो० ३)

७. ऊहोऽभिवीक्षणं वस्तुविकल्पानन्तरोदितः॥
यदा वेत्ति पदं हेयमुपादेयं च तत्स्थितेः।
तत्पोषकं विपक्षं च यच्च तत्पोषकं परम्॥ (यो० ८-९)

बौद्ध पालि-वाङ्मय तथा तन्त्रों में वर्णित [1]अनुस्मृति और अभिवीक्षण में पर्याप्त समानता है। वृत्तिकार [2]नारायण कण्ठ ने यहाँ ऊह की पुष्टि में स्वायम्भुवागम को भी उद्धृत किया है। भगवद्गीता (१५।१५) के भाष्य में रामानुजाचार्य[3] ने अपोहन शब्द को ऊह का पर्यायवाची माना है और इसकी परिभाषा यह दी है—ऊह का कार्य यह देखना है कि किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति सही ढंग से हो रही है या नहीं ? प्रमाण-प्रवर्तक सामग्री की परीक्षा करना भी इसी का कार्य है। इस तरह से ऊह प्रमाणों का अनुग्राहक ज्ञान है। स्पष्ट है कि आगम और तन्त्रशास्त्र में ही नहीं, पूरे भारतीय वाङ्मय में तर्क या ऊह की प्राचीन काल से प्रतिष्ठा चली आ रही है।

मृगेन्द्रागम के ऊपर चर्चित स्थल पर योग के सात अंग परिगणित हैं। वीक्षण की चर्चा ऊपर आ चुकी है। यहाँ जप को भी योग का अंग माना है और अंगी के रूप में योग की गणना की गई है। पांचरात्र (वैष्णव) आगम की जयाख्यसंहिता (३३।६-१५) में भी प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, जप, योग, ऊह और समाधि—इस तरह से अंग और अंगी के रूप में मृगेन्द्रागम की पद्धति से ही सात अंगों और आठवें अंगी योग का लक्षण दिया है। अंगी योग के यहाँ प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य नामक तीन भेद किये हैं, किन्तु विवरण नहीं दिया। इन दोनों ग्रन्थों में जप को भी योग का अंग माना गया है। जप की योगिक पद्धति का योगिनीहृदय और उसकी टीका दीपिका के आधार पर दिया गया विवरण श्रद्धेय कविराज जी के "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" नामक ग्रन्थ में 'जपविज्ञान' शीर्षक निबन्ध में देखा जा सकता है (पृ० २८६-२९०)। प्राणायाम के प्रसंग में वज्रजाप की चर्चा हमने ऊपर की है। लगता है शैव और वैष्णव तन्त्रों में इस वज्रजाप को ही प्राणायाम से अलग कर उसको स्वतन्त्र अंग के रूप में मान्य किया है।

नेत्रतन्त्र (८।९-२०) में पातंजल योगसूत्र में निर्दिष्ट योग के आठ अंगों को ही माना गया है, किन्तु वहाँ इनकी व्याख्या तान्त्रिक पद्धति से की

---

१. अनुस्मृति का अर्थ 'बार-बार स्मरण' अथवा अनुरूप स्मृति है। पालि अभिधर्म साहित्य में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। संक्षिप्त परिचय के लिये आचार्य नरेन्द्रदेव कृत ग्रन्थ 'बौद्ध धर्म-दर्शन' का पाँचवाँ अध्याय देखिये।

२. "नुदन्नूहः प्रवर्तते" (पृ० ९), "अनेन लक्षयेद् योगी योगसिद्धिप्रवर्तकम्। निरोधकं च यद्वस्तु बहुधा संव्यवस्थितम् ॥" (पृ० १०)।

३. अपोहनम् ऊहनं वा। ऊहनमूहः। ऊहो नामेदं प्रमाणमित्थं प्रवर्तितुमर्हतीति प्रमाणप्रवृत्त्यर्हताविषयकं सामग्र्यादिनिरूपणजन्यं प्रमाणानुग्राहकं ज्ञानम्।

गई है। स्पष्ट है कि आगम अथवा तन्त्रशास्त्र में उद्दिष्ट छः अंगों के स्थान पर उनकी संख्या सात अथवा आठ मानने वाले भी इनका विवरण बहुत कुछ भिन्न प्रकार से देते हैं। तन्त्रालोककार (४।८६-९८) ने तो अन्ततः स्पष्ट रूप से बता दिया है कि स्वात्मसंवित्ति के लिये प्राणायाम आदि की कोई उपयोगिता नहीं है। बौद्ध तान्त्रिकों का भी कहना है कि उत्पत्तिक्रम योग की प्रक्रिया को पूरा करने के बाद जब योगी स्वाधिष्ठान क्रम में प्रवेश करता है, तो वह अपनी रुचि और सहज चेष्टाओं का अनुसरण कर इच्छानुसार सब कुछ कर सकता है अथवा इच्छा न होने पर वह कुछ भी नहीं करेगा। चैत्यवन्दन, देववन्दन, मन्त्रजप, मुद्राबन्ध आदि सब कुछ उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर हैं। तत्त्व के स्वरूप को जाने बिना किया गया इन सबका अनुष्ठान व्यर्थ जाता है और तत्त्वज्ञानी के लिये व्रत आदि के अनुष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। शास्त्रों में इसी स्थिति को सहज योग अथवा अनुपाय प्रक्रिया कहा जाता है।

नाडीचक्रविशुद्धि योग अथवा कुण्डलिनी योग

महामहिम परमादरणीय दलाई लामाजी के करकमलों से ज्ञानोदय तन्त्र का लोकार्पण हो चुका है। सूचना मिलती है कि इसका तिब्बती भाषा में अनुवाद नहीं हुआ है। इस छोटे से ग्रन्थ में योगसम्बन्धी पर्याप्त सामग्री मिलती है। यहाँ काय, वाक् और चित्त चक्र के अन्तर्गत २४ पीठों, १० भूमियों, १० पारमिताओं और १० ज्ञानों के निरूपण के बाद नाडीचक्रविशुद्धि योग, नाड़ीत्रयभावना योग, चतुश्चक्रभावना योग, सहजप्रज्ञा योग, वसन्ततिलक योग, समुत्पन्नक्रम योग, प्रज्ञोपाय योग, षट्चक्रविशुद्धि योग और पंचज्ञान-विशुद्धि योग का संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है। पीठों, नाड़ियों, वायुओं और चक्रों का निरूपण अन्यत्र भी मिलता है। हम यहाँ संक्षेप में इनका परिचय दे रहे हैं।

पीठ

पीठ-उपपीठ, क्षेत्र-उपक्षेत्र, छन्दोह-उपछन्दोह, मेलापक-उपमेलापक और श्मशान-उपश्मशान के भेद से अधिकांश बौद्ध योग-तन्त्रों में पीठों की संख्या २४ मानी गई है। ये दस योगभूमियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हेवज्र-तन्त्र में पीलव-उपपीलव को मिला कर भूमियों की संख्या १२ तथा पीठों की संख्या ३२ मानी गई है। ज्ञानोदय-तन्त्र और अन्य[1] अनेक तन्त्रों में भी १० भूमि तथा

---

१. 'धीः' का प्रथम (पृ० १३७-१४२) तथा तृतीय अंक (पृ० ६५-६९) देखिये।

२४ पीठ वाले विभाग को ही मान्यता मिली है। प्रो० टुच्ची ने इण्डो-तिबैटिका (व० ३, भा० २, पृ० ३८-४५) में चित्तमण्डल, वाङ्मण्डल और कायमण्डल में स्थित इन पीठों का परिचय दिया है। 'धीः' के प्रथम और तृतीय अंक में प्रकाशित "बौद्ध तन्त्रों में पीठोपपीठादि का विवेचन" शीर्षक निबन्ध से भी इनका परिचय मिलता है।

कौल तन्त्रों में पीठ-उपपीठ, क्षेत्र-उपक्षेत्र और सन्दोह-उपसन्दोह विभागों के अतिरिक्त मेलापक तथा श्मशान विषयक उल्लेख मिलते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ छन्दोह-उपछन्दोह के स्थान पर सन्दोह-उपसन्दोह पद प्रयुक्त हैं और श्मशानों की संख्या आठ मानी गई है। हम जानते हैं कि बौद्ध तन्त्रों में भी आठ श्मशानों (श्मशानाष्टक) का उल्लेख मिलता है।

तान्त्रिक योगियों की यह मान्यता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब पिण्ड (शरीर) में भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार इन पीठों की स्थिति इस भूतल के विभिन्न स्थानों के समान साधक के शरीर के विभिन्न अवयवों में भी मानी गई है। इनका विवरण ऊपर निर्दिष्ट स्थलों पर देखा जा सकता है। कौल तन्त्रों में वर्णित पीठों का तुलनात्मक परिचय नित्याषोडशिकार्णव के संस्कृत उपोद्घात (पृ० ७८-८३) से प्राप्त किया जा सकता है। इन पीठों के नामों में उभयविध तन्त्रों में पर्याप्त समानता मिलती है। कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण नामक चार पीठ तन्त्रशास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं को मान्य हैं। किन्तु खेद का विषय है कि इन चार पीठों की सही भौगोलिक स्थिति से आज हम पूरी तरह से परिचित नहीं हैं। त्रिपुरा सम्प्रदाय में जालन्धर पीठ की देवी का नाम वज्रेश्वरी है। वज्रेश्वरी का यह मन्दिर आज भी कांगड़ा घाटी में धर्मशाला को तलहटी में स्थित है। इस स्थान का प्राचीन नाम नगर-कोट है। होशियारपुर की यात्रा के समय एक इतिहासज्ञ विद्वान् ने हमें बताया था कि उस मन्दिर में उपलब्ध शिलालेख में वज्रेश्वरी का स्तोत्र उत्कीर्ण है। हमें इतना अन्तर्मुख न हो जाना चाहिये कि हम बाहरी दुनिया को ही भुला बैठें।

वायु

प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान नामक पांच मूल (प्रधान) वायुओं का तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नामक अंग (गौण) वायुओं का विवरण पूरे भारतीय वाङ्मय में मिलता है। प्राण आदि पांच वायुओं की शरीर में स्थिति अमरकोश में इस प्रकार बताई गई है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥

कालोत्तर तन्त्र में, जिसका कि उल्लेख पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि में हुआ है, दस वायुओं का विवरण मिलता है (१०।५-१३)। प्राण को यहाँ अन्य सभी नौ वायुओं का मुखिया बताया गया है। आनापान अथवा श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया का यही आधार है। भगवद्गीता में प्राण के साथ अपान शब्द का प्रयोग हुआ है। ये शब्द यहाँ वायुओं के बोधक न होकर प्राण की श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया के बोधक हैं। कालोत्तर में नाग आदि वायुओं का परिचय इस प्रकार दिया है --

उद्गारे नाग इत्युक्तः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकरस्तु क्षुते चैव देवदत्तो विजृम्भणे॥
[1]धनञ्जयः स्मृतो घोषे मृतस्यापि न मुञ्चति। (१०।१३)

धनंजय वायु मृतशरीर को भी नहीं छोड़ता, इस विषय का उल्लेख बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है। शारदातिलक (१।४४-४५) की टीका में मतान्तर से वैरंभण, स्थानमुख्य, प्रद्योत और प्रकृत नामक चार अन्य वायुओं का उल्लेख मिलता है। वहाँ इस विषयै में अधिक कुछ नहीं लिखा गया। वसन्ततिलक (८।५) में धनुष के समान आकृति वाले, पादतल में स्थित भैरंभ अथवा भैरव नामक वायु का उल्लेख मिलता हैं। यह संभावना की जा सकती है कि लिपिकार के दोष के कारण वैरम्भ को ही भैरंभ लिख दिया गया हो।

योगिनीहृदय (३।२७) में सोलह वायुओं की चर्चा है। टीकाकार योगी अमृतानन्द उपर्युक्त दस वायुओं को गिना कर कहते हैं कि अन्य छः वायुओं के नाम अन्य तन्त्रों से जानने चाहिये। दस नामों के अतिरिक्त चार नाम तो हमें शारदातिलक की टीका में मिल जाते हैं, बाकी दो नामों की खोज अभी हमें करनी होगी।

नाड़ी

बौद्ध और बौद्धेतर तन्त्रों में ललना, रसना और अवधूती अथवा इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन प्रधान नाड़ियाँ मानी गई हैं। नाम के भेद के अतिरिक्त इनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। शारदातिलक (१।४२)

---

१. शारदातिलक की टीका (१।४४-४५) में योगार्णव को उद्धृत कर दसों वायुओं का विशेष विवरण दिया गया है। वहाँ धनंजय वायु के विषय में किसी आचार्य का यह वचन उद्धृत किया है—
धनञ्जयाख्यो देहेऽस्मिन् कुर्याद् बहुविधान् रवान्।
स तु लौकिकवायुत्वाद् मृतं च न विमुञ्चति॥ (पृ० ४१)

में गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुषा, यशस्विनी, शंखिनी और कुहू को मिलाकर दस नाड़ियाँ मानी गई हैं। ये दस नाड़ियाँ कालोत्तर तन्त्र (१०।३-५) में भी उल्लिखित हैं। शारदातिलक के टीकाकार ने इनमें वारणा, सरस्वती, विश्वोदरा और पयस्विनी को मिलाकर नाड़ियों की संख्या चौदह मानी है।

बौद्ध तन्त्रों में प्रधान नाड़ियों की संख्या ३२ मानी गई है। ललना, रसना और अवधूती के अतिरिक्त ललना से उत्पन्न १४ नाड़ियों, रसना से उत्पन्न १० नाड़ियों और पांच गुह्य नाड़ियों के नाम तथा उनका संक्षिप्त परिचय 'धीः' के प्रथम अंक में प्रकाशित डॉ० ठाकुरसेन नेगी के "बौद्ध तन्त्रों में नाड़ी एवं चक्रों का वर्णन" शीर्षक निबन्ध से मिलता है। यह निबन्ध हेवज्रतन्त्र आदि अनेक तन्त्र-ग्रन्थों और टीका-ग्रन्थों की सहायता से लिखा गया है।

मनुष्य शरीर में सूक्ष्म नाडियों की संख्या ७२ हजार और अन्ततः साढ़े तीन करोड़ है, यह विषय बौद्धेतर तन्त्र-ग्रन्थों को भी मान्य है। नेत्रतन्त्र में बताया गया है—"नाडित्रयसमन्वितम् ।... दशनाडिपथावृतम् । द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च। नाडिवृन्दैः समाक्रान्तम्" (७।२-४)। बहत्तर हजार नाड़ियों की चर्चा कालोत्तर तन्त्र (१०।२) में भी मिलती है। इन सभी नाड़ियों का केन्द्र-स्थान नाभि को माना गया है।

चक्र

चक्रों की संख्या के विषय में तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में पर्याप्त मतभेद है। योगिनीहृदय की व्याख्या दीपिका में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह में ३२ चक्रों की चर्चा की गई है। मूलाधार स्थित ऊर्ध्वमुख रक्त सहस्रार कमल और ब्रह्मरन्ध्र स्थित अधोमुख श्वेत सहस्रार कमल के बीच में वहाँ ३० आधार चक्रों की स्थिति मानी गई है, किन्तु दीपिकाकार ने योगिनीहृदय में प्रतिपादित नौ चक्रों का ही विवरण दिया है। स्वच्छन्दसंग्रह अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, अतः उक्त नौ चक्रों के अतिरिक्त अन्य चक्रों के नाम, स्वरूप आदि को जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। हम इस विषय में भी कोई निर्णय नहीं कर सकते कि बौद्ध तन्त्रों में वर्णित ३२ नाड़ियों से इनका कोई सम्बन्ध है या नहीं। योगिनीहृदय में वर्णित नौ चक्रों का हठयोग के ग्रन्थों में भी विवरण मिलता है, किन्तु आजकल छः चक्र वाला सिद्धान्त ही योगी सम्प्रदाय में प्रधानतया प्रचलित है। बौद्ध तन्त्रों में चार चक्र का सिद्धान्त प्रधान रूप से मान्य है, किन्तु ज्ञानोदय, कालचक्र आदि तन्त्रों में छः चक्रों

का भी निरूपण मिलता है। चार चक्र वाला सिद्धान्त वैष्णव पांचरात्र आगम की [1]सात्वतसंहिता को भी मान्य है।

बौद्ध तन्त्रों में चार चक्रों में नाभिचक्र, हृदयचक्र, कण्ठचक्र और ललाट-चक्र की गणना की जाती है। गुह्यचक्र और उष्णीषचक्र को मिलाकर चक्रों की संख्या छः हो जाती है। ज्ञानोदयतन्त्र में गुह्यचक्र का स्थान लिंग में और उष्णीष चक्र का शिखा में बताया है। वैष्णव सात्वतसंहिता (२।५८–६१) में उल्लिखित चार चक्रों के स्थान उसके भाष्यकार ने आधार, नाभि, हृदय और कण्ठ बताये हैं। यहाँ ललाट का उल्लेख नहीं है और बौद्ध तन्त्रों में आधार का उल्लेख नहीं है। अन्य तन्त्रों में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्धि और आज्ञा नामक छः चक्र माने गये हैं और इन सबके ऊपर सहस्रार की स्थिति बताई गई है। इनमें से आधार (मूलाधार) और स्वाधिष्ठान का गुह्यचक्र में, मणिपूर का नाभिचक्र, अनाहत का हृदयचक्र, विशुद्धि का कण्ठचक्र तथा आज्ञा का ललाट चक्र में समावेश किया जा सकता है और सहस्रार को हम उष्णीषचक्र मान सकते हैं, किन्तु बौद्ध और बौद्धेतर तन्त्रों में वर्णित इन चक्रों के स्वरूप आदि के विषय में कोई समानता नहीं है। ज्ञानोदयतन्त्र में गुह्यचक्र को त्रिदल, नाभिचक्र को ६४ दल वाला, हृदय चक्र को अष्टदल, कण्ठचक्र को षोडश दल, ललाटचक्र को ३२ दल वाला और उष्णीषचक्र को चतुर्दल माना है, जब कि श्रीतत्त्वचिन्तामणि में मूलाधार को चतुर्दल, स्वाधिष्ठान को षड्दल, मणिपूर को दशदल, अनाहत को द्वादशदल, विशुद्धि को षोडशदल, आज्ञा को द्विदल और सहस्रार को एक हजार दल वाला माना गया है। यहाँ कण्ठचक्र अथवा विशुद्धिचक्र के ही दलों की संख्या एक-सरीखी है, अन्य चक्रों के दलों में भी कोई समानता नहीं है। इस तरह से हम देखते हैं कि इन चक्रों के स्थूल स्वरूप के विषय में भी मतैक्य नहीं है। ध्येय वस्तुओं के विषय में तो पर्याप्त अन्तर है ही।

यहाँ हमने पीठ, वायु, नाड़ी और चक्रों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इनमें से पीठों का काय, वाक् और चित्त नामक तीन चक्रों से तथा वायु और नाड़ी का चार या छः चक्रों से सम्बन्ध है। ललना और रसना अथवा इडा और पिंगला नामक दो प्रधान नाड़ियों तथा अन्य अवान्तर नाड़ियों के मार्ग से दशविध प्राण शरीर में निरर्गल प्रवाहित होता रहता है। विकल्प-जाल से आवृत, मलिन एवं चंचल चित्त को नियन्त्रित करने के लिये इस चंचल प्राण

---

१. सात्वतसंहिता का अलशिंग भट्ट के भाष्य के साथ प्रकाशित सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय संस्करण (२।५८-६१) देखिये।

पर नियन्त्रण स्थापित करना आवश्यक है। इसके लिये योगी अवधूती मार्ग को खोलना चाहता है। नाड़ियों और चक्रों की विशुद्धि के माध्यम से ही यह कार्य सम्पन्न हो सकता है। इसके लिये योगी नाड़ीचक्रविशुद्धि योग अथवा कुण्डलिनी योग का सहारा लेता है। इसकी सहायता से मूलाधार अथवा नाभि स्थान में प्रसुप्त अवस्था में पड़ी शक्ति के जागरण के साथ ही योगी चित्त की विभिन्न स्थितियों का अनुभव करता हुआ, उसकी मलिनता को धोता हुआ, अन्त में सहजानन्द से ओतप्रोत हो जाता है, उसे महासुखकाय की प्राप्ति हो जाती है।

डॉ० एस० बी० दासगुप्त के "एन इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म" (पृ० १४८-१५८) नामक ग्रन्थ से और आचार्य नरेन्द्रदेव के ग्रन्थ "बौद्ध धर्म-दर्शन" की श्रद्धेय श्रीश्रीगोपीनाथ कविराज लिखित भूमिका से नाड़ीचक्र-विशुद्धि योग का तथा श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्रनिरूपण नामक छठे प्रकाश के आधार पर लिखे गये "सरपेन्ट पावर" से कुण्डलिनी योग का विशेष स्वरूप जाना जा सकता है।

आनापान-स्मृति अथवा अजपा-जप

स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि प्राप्त होती है, उसे आनापान-स्मृति कहते हैं। आन का अर्थ है सांस लेना और अपान का अर्थ है सांस छोड़ना। इन्हें आश्वास-प्रश्वास अथवा प्राण-अपान भी कहते हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने ग्रन्थ बौद्ध धर्म-दर्शन के पाँचवें अध्याय (पृ० ८०-९४) में आनापान-स्मृति का विशद विवेचन किया है। इस प्रसंग में एक टिप्पणी (पृ० ८९) करते हुए वे कहते हैं कि विनय की अर्थकथा के अनुसार आश्वास सांस छोड़ने को और प्रश्वास लेने को कहते हैं। लेकिन सूत्र की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ इसका ठीक उलटा है। आचार्य बुद्धघोष विनय की अर्थकथा का अनुसरण करते हैं। उनका कहना है कि जब बालक माता की कोख से बाहर आता है, तब पहले भीतर की हवा बाहर जाती है और पीछे बाहर की हवा भीतर प्रवेश करती है। इस प्रवृत्तिक्रम से आश्वास वह वायु है, जिसका निःसरण होता है। सूत्र की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ पातंजल योगसूत्र के व्यास-भाष्य (२।४९) के अनुसार है (बाह्यस्य वायोरानयनं श्वासः, कोष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः)।

भगवान् बुद्ध ने १६ प्रकार से इस आनापान-स्मृति समाधि की भावना करने की विधि निर्दिष्ट की है। आचार्य जी ने इन सबका विशद वर्णन करने के बाद कहा है कि इस तरह १६ प्रकार से आनापान-स्मृति समाधि की भावना की

जाती है। इस भावना की विशेषता यह है कि मृत्यु के समय जब श्वास-प्रश्वास निरुद्ध होते हैं, तब योगी मोह को प्राप्त नहीं होता। इस भावना का अभ्यास करने वाले योगी को उस समय मालूम रहता है कि मेरा आयु-संस्कार अब इतना ही अवशिष्ट रह गया है। यह जानकर वह अपना कृत्य सम्पादित करता है और शान्तिपूर्वक शरीर का परित्याग करता है।

हृदय से बाहर निकलने वाला प्राण और बाहर से हृदय तक आने वाला जीव नामक अपान, यह प्राणशक्ति का उच्चारण है। प्राणशक्ति इनका निरन्तर उच्चारण करती रहती है, अर्थात् प्राण और अपान के रूप में स्पन्दित होती रहती है। स्वच्छन्दतन्त्र (७।२५-२६) और कालोत्तर तन्त्र (१०।७-८) में प्राण और अपान को प्राणशक्ति का विसर्ग और आपूरण व्यापार बताया गया है। तदनुसार प्राण का अर्थ है श्वास छोड़ना और अपान का अर्थ है श्वास लेना। ऊपर बताया गया है कि बौद्ध वाङ्मय में इनके लिये आनापान (आश्वास-प्रश्वास) शब्द प्रयुक्त है। विज्ञानभैरव (श्लो० २४-२५) में प्राण और अपान शब्द का यही अर्थ स्वीकृत है। वहाँ व्यासभाष्य में प्रदर्शित अर्थ को स्वीकार नहीं किया गया। यहाँ ऊर्ध्व और अधः शब्द प्रयुक्त हैं। इनका अर्थ है कि पहले प्राण बाहर निकलता है और बाद में अपान का प्रवेश होता है। अपान को जीव इसलिये कहा जाता हैं कि प्राण के बाहर निकलने के बाद अपान जब शरीर में पुनः प्रविष्ट होता है, तभी यह बोध हो सकता है कि शरीर में जीवात्मा विद्यमान है। अपान के प्रवेश न करने पर शरीर निर्जीव हो जायगा। अपान के कारण ही शरीर में जीवात्मा की स्थिति बनी रहती है, अतः स्वाभाविक है कि अपान को जीव कहा जाय।

"प्राणापानौ समौ कृत्वा" (५।२७) इस गीता वचन में भी यही अर्थ स्वीकृत है। श्रीधरी टीका में प्राण और अपान के लिये उच्छ्वास और निःश्वास शब्द प्रयुक्त हैं। लोक-व्यवहार में संकेत (शक्ति = समय) के अनुसार शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। कभी-कभी ये परस्परविरोधी अर्थों में भी प्रयुक्त होने लगते हैं। जैसा कि आनापान, प्राणापान और उनके पर्यायवाची आश्वास-प्रश्वास आदि शब्दों के सम्बन्ध में देखने को मिलता है। इन शब्दों का हृदय-स्थित प्राण वायु और पायु-स्थित अपान वायु से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राण-शक्ति की प्राण, अपान आदि पाँच या दस वृत्तियाँ इनसे भिन्न हैं। प्रस्तुत प्रकरण में प्राण और अपान शब्दों का सम्बन्ध प्राणशक्ति की विसर्ग (त्याग) और आपूरण (ग्रहण) क्रियाओं से ही मानना चाहिये।

प्राण की उच्छ्वास दशा में स्वाभाविक रूप से हं का तथा निश्वास दशा में सः का उच्चारण होता है। प्राण और अपान की गति जब तक चलती रहती



सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय

चिर प्रतीक्षा के बाद गुह्यसमाजतन्त्र की आचार्य चन्द्रकीर्तिकृत प्रदीपोद्योतन नाम की षट्कोटिव्याख्या अब प्रकाशित होकर उपलब्ध होने लगी है। इसका सम्पादन तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने किया था। ग्रन्थ के प्रकाशन से पूर्व ही उनके स्वर्गीय हो जाने के कारण इसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका डॉ० सुनीतिकुमार पाठक ने लिखी है।

चन्द्रकीर्ति ने अपनी टीका में तीन बार (पृ० ५, २१६, २२९) सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय का उल्लेख किया है। पृ० २ से ५ तक यहाँ किसी व्याख्यातन्त्र के आधार पर सातों अलंकारों के लक्षण दिये गये हैं और पृ० ६ से ११ तक षट्कोटिपद विभाग तथा चतुर्विधाख्यायिका विभाग को गुह्यसमाज के प्रत्येक पटल में से कुछ वचनों को उद्धृत कर समझाया गया है। चन्द्रकीर्ति स्थान-स्थान पर अपनी व्याख्या में अन्यत्र भी इन अर्थों की चर्चा करते हैं। इस विषय की विस्तार से चर्चा करने से पहले हम चन्द्रकीर्ति के इस ग्रन्थ की कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं।

अपने ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त में चन्द्रकीर्ति आचार्य नागार्जुन को आदर के साथ स्मरण करते हैं। लंकावतारसूत्र के प्रमाण से वे इनको दक्षिणापथ का भिक्षु मानते हैं और इन्हीं को वज्रयान की महायोगतन्त्र की परम्परा का प्रवर्तक भी बताते हैं। वे कहते हैं कि गुरुपरम्परा से यह ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, साक्षात् नहीं (पृ० २२९)। स्पष्ट है कि चन्द्रकीर्ति के मत से शून्यवाद के महान् आचार्य नागार्जुन ही इसके प्रवर्तक हैं। गुह्यसमाजतन्त्र को वे वज्रयान के महायोगतन्त्र विभाग में रखते हैं। मंगलाचरण के बाद चन्द्रकीर्ति पाँच क्रमों का उल्लेख करते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ उनको

---

१. "दक्षिणापथवैदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः। श्रीनागार्जुननामा च सदसत्पक्षदालकः॥ प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तमम्। आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्॥" (पृ० २२९)। स्वल्प पाठान्तर के साथ ये दोनों श्लोक लंकावतारसूत्र (१०।१६५-१६६) में उपलब्ध हैं। यहाँ 'दक्षिणापथवेदल्याम्' पाठ है या 'दक्षिणापथदेहल्याम्'—इसकी समीक्षा प्राचीन हस्तलेखों तथा चीनी-तिब्बती अनुवादों की सहायता से होनी चाहिये। वेदली शब्द के अर्थ पर भी हमें गंभीरता से विचार करना होगा।

है, तब तक जीव प्रतिदिन निरन्तर 'हं सः, हं सः' इस मन्त्र का उच्चारण करता रहता है, प्राणापान का यह नदन-व्यापार निरन्तर स्वाभाविक रूप से चलता रहता है। इसीलिये इसे सहज, अर्थात् अकृत्रिम (स्वाभाविक) कहा जाता है। दिन-रात प्राण और अपान की इस निरन्तर गतिशीलता के कारण इस हंस मन्त्र का एक अहोरात्र में २१,६०० बार उच्चारण हो जाता है। इसीलिये इसको हंस गायत्री का जप, अजपा जप अथवा हंसोच्चार कहा जाता है। शरीर से प्राण के निकल जाने के बाद और अपान के पुनः प्रवेश न करने पर इस जप की विधि समाप्त हो जाती है। प्राण जब निकलते हैं, उस समय भी बिना प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से चल रहे इस अजपा जप के साथ अपनी तन्मयता को स्थिर कर पाना अनेक जन्मों के अर्जित अतिशय पुण्य के कारण ही सम्भव हो सकता है। अन्यथा प्राण निकलते समय इस तरह की तन्मयता नहीं रहने पाती।

शास्त्रों में प्राण और अपान का शुक्ल-कृष्ण, दिन-रात्रि, धर्म-अधर्म, चन्द्र-सूर्य तथा यमराज के श्याव-शबल श्वानों के रूप में वर्णन मिलता है। प्राणायाम के अभ्यास से इन पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। आचार्य नरेन्द्र-देव ने अपने ग्रन्थ में प्राणायाम की इस प्रक्रिया का भी विशद वर्णन किया है। प्राणायाम की यह प्रक्रिया विज्ञानभैरव के २५वें श्लोक की व्याख्या में भी प्रकारान्तर से वर्णित है। वहाँ ८८वें और १५१वें श्लोक की व्याख्या में बताया गया है कि बिन्दु और विसर्ग से रहित अनुत्तर अकार में, अर्थात् पूरक और रेचक प्राणायाम को छोड़ केवल कुंभक प्राणायाम में स्थित होकर जो साधक परम तत्त्व की भावना करते हैं, उनके चित्त में एक अलौकिक प्रकाश प्रस्फुरित हो उठता है। इसको हम चित्त की प्रभास्वरता कह सकते हैं। इस दशा में उस साधक के सामने सभी जागतिक प्रपंच धूमिल हो जाते हैं। यही देश, काल और आकार के भेदों को मिटा देने वाला परा देवी का स्वरूप है। इसी को निरावरण भगवती प्रज्ञापारमिता कहा जाता है—

निष्प्रपञ्चा निराभासा निर्विकल्पा निरामया।
निःस्वभावा परा सूक्ष्मा बिन्दुनादविवर्जिता॥
प्रज्ञापारपिताऽपारा सर्वबुद्धोदया परा।

सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय

चिर प्रतीक्षा के बाद गुह्यसमाजतन्त्र की आचार्य चन्द्रकीर्तिकृत प्रदीपोद्योतन नाम की षट्कोटिव्याख्या अब प्रकाशित होकर उपलब्ध होने लगी है। इसका सम्पादन तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने किया था। ग्रन्थ के प्रकाशन से पूर्व ही उनके स्वर्गीय हो जाने के कारण इसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका डॉ० सुनीतिकुमार पाठक ने लिखी है।

चन्द्रकीर्ति ने अपनी टीका में तीन बार (पृ० ५, २१६, २२९) सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय का उल्लेख किया है। पृ० २ से ५ तक यहाँ किसी व्याख्यातन्त्र के आधार पर सातों अलंकारों के लक्षण दिये गये हैं और पृ० ६ से ११ तक षट्कोटिपद विभाग तथा चतुर्विधाख्यायिका विभाग को गुह्यसमाज के प्रत्येक पटल में से कुछ वचनों को उद्धृत कर समझाया गया है। चन्द्रकीर्ति स्थान-स्थान पर अपनी व्याख्या में अन्यत्र भी इन अर्थों की चर्चा करते हैं। इस विषय की विस्तार से चर्चा करने से पहले हम चन्द्रकीर्ति के इस ग्रन्थ की कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं।

अपने ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त में चन्द्रकीर्ति आचार्य नागार्जुन को आदर के साथ स्मरण करते हैं। [1]लंकावतारसूत्र के प्रमाण से वे इनको दक्षिणापथ का भिक्षु मानते हैं और इन्हीं को वज्रयान की महायोगतन्त्र की परम्परा का प्रवर्तक भी बताते हैं। वे कहते हैं कि गुरुपरम्परा से यह ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, साक्षात् नहीं (पृ० २२९)। स्पष्ट है कि चन्द्रकीर्ति के मत से शून्यवाद के महान् आचार्य नागार्जुन ही इसके प्रवर्तक हैं। गुह्यसमाजतन्त्र को वे वज्रयान के महायोगतन्त्र विभाग में रखते हैं। मंगलाचरण के बाद चन्द्रकीर्ति पाँच क्रमों का उल्लेख करते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ उनको

---

१. "दक्षिणापथवैदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः। श्रीनागार्जुननामा च सदसत्पक्षदालकः॥ प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तमम्। आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्॥" (पृ० २२९)। स्वल्प पाठान्तर के साथ ये दोनों श्लोक लंकावतारसूत्र (१०।१६५-१६६) में उपलब्ध हैं। यहाँ 'दक्षिणापथवेदल्याम्' पाठ है या 'दक्षिणापथदेहल्याम्'—इसकी समीक्षा प्राचीन हस्तलेखों तथा चीनी-तिब्बती अनुवादों की सहायता से होनी चाहिये। वेदली शब्द के अर्थ पर भी हमें गंभीरता से विचार करना होगा।

नागार्जुन का पंचक्रम अभिप्रेत है। इनमें उत्पत्ति क्रम पहला और [1]चित्तनिध्यप्ति दूसरा क्रम है। तीसरे और चौथे क्रमों का नाम न देकर यहाँ उनके लक्षण दिये गये हैं। [2]नागार्जुन के पंचक्रम में इनके नाम स्वाधिष्ठान क्रम और अभिसम्बोधि क्रम हैं। पांचवाँ युगनद्ध क्रम है। यहाँ बताया गया है कि तन्त्रशास्त्र का ज्ञाता वही हो सकता है, जो कि इन क्रमों की विस्तार और संक्षेप में जानकारी रखता हो[3]। ऐसे तन्त्रज्ञ को पाँच [4]पिण्डार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद षट्कोटि[5] में प्रवेश करना चाहिये।

पंचक्रम के प्रारम्भ में नागार्जुन लिखते हैं कि (गुह्य)समाजतन्त्र के षट्कोटि अर्थ को भलीभाँति समझ कर मैं पिण्डीक्रम का वर्णन कर रहा हूँ[6]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति दोनों को इस तन्त्र की गहरी जानकारी थी।

पंचक्रम के टिप्पणीकार पण्डित परहितरक्षित पिण्डीक्रम का कायविवेक में, वज्रजाप क्रम का वाग्विवेक में और स्वाधिष्ठान क्रम का चित्तविवेक में

१. तिब्बती परम्परा के अनुसार नागार्जुन के मत में निष्पन्नक्रम के अन्तर्गत ही वज्रजाप, चित्तविवेक, मायाकाय, प्रभास्वर और युगनद्ध नामक पांच क्रम माने जाते हैं। आर्यदेव निष्पन्नक्रम के अन्तर्गत काय, वाक्, चित्त, मायाकाय, प्रभास्वर और युगनद्ध नामक छः भेद मानते हैं। चन्द्रकीर्ति के अनुसार सम्पूर्ण अनुत्तर तन्त्र की साधना पहले उत्पत्तिक्रम में और बाद में निष्पन्नक्रम में विभक्त होती है। निष्पन्नक्रम में ये चित्तनिध्यप्ति (काय, वाक्, चित्त का विवेक), मायाकाय, प्रभास्वर और युगनद्ध नामक चार क्रमों का समावेश करते हैं। प्रस्तुत स्थल में चित्तनिध्यप्ति शब्द का यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

२. नागार्जुन के समय और स्थान के विषय में 'सम्यग् वाक्' (के० उ० ति० शिक्षा संस्थान पत्रिका) के द्वितीय अंक के पृ० १२५–१३८ पर प्रकाशित प्रो० कृष्णनाथ का "नागार्जुन का काल" शीर्षक निबन्ध देखना चाहिये।

३. "एषां क्रमाणां भेदांस्तु प्रस्तारविधिना बहून्। संमीलनं च तेषां वै यो वेत्ति स हि तन्त्रवित्॥" (गु० प्र०, पृ० १)।

४. "मन्त्राच्चित्तादतः कायाद् विशुद्धेर्योगवाहतः। क्रमशः पञ्चपिण्डार्थान् ज्ञात्वा षट्कोटिमाविशेत्॥" (गु० प्र०, पृ० १)।

५. सन्ध्यायभाषा न च सन्ध्याभाषं नेयार्थमर्थं न च नेयमर्थम्। यथारुतं नैव यथारुतं च षट्कोटिकायं खलु तन्त्रशास्त्रे॥" (गु० प्र०, पृ० १०)। आगे इसका पूरा विवरण दिया गया है।

६. श्रीमत्समाजतन्त्रस्य षट्कोट्यर्थावबोधतः।
पिण्डीक्रममहं वक्ष्ये सर्वसत्त्वहितोदयम्॥ (प० क्र० १.२)।

उपयोग मानते हैं। सर्वशुद्धिविशुद्धि क्रम का भी चित्तविवेक में ही उपयोग बताया गया है, किन्तु अनुत्तरसन्धि नाम के इस प्रकरण के कर्ता शाक्यमित्र हैं, [1]नागार्जुन नहीं। इस व्याख्या के अनुसार चन्द्रकीर्ति के उत्पत्तिक्रम का हम पिण्डीक्रम में समावेश कर सकते हैं। दूसरे क्रम का नाम यहाँ चित्त-निष्पत्ति[2] दिया गया है। यह नागार्जुन के वज्रजाप क्रम का द्योतक है। वहाँ बताया गया है—"वज्रजापस्थितो योगी चित्तनिष्पत्तिमाप्नुयात्" (२।५) स्पष्ट है कि चन्द्रकीर्ति के सामने नागार्जुन का पंचक्रम विद्यमान था।

प्रस्तुत व्याख्या में निम्न ग्रन्थ उद्धृत हैं—

नाम	पृष्ठसंख्या[3]	नाम	पृष्ठसंख्या
असाधारणगुह्यमहायोगतन्त्र	१२	❀ वज्रमाला (महायोगतन्त्र)	१४-१७ २७-२८, ३०-३१, ५६, ५७, ७०
❀ आर्षव्याख्यान	४३-४४, ४८, ४९-५०, ६३, ७६-७७ ८३-८५, १०७	❀ वज्रामृत	१४९
❀ कर्मान्तविभाग	११८	❀ वज्रोष्णीषतन्त्र	७०, १४३, १५१
गुह्यसमाज	२९, २०३, २२९	वैरोचनाभिसंबोधि(चर्या)तन्त्र	६०, ८१, ११९
❀ गुह्येन्द्रतिलक	७९		
तत्त्वसंग्रह	१८६, १८८, १९१	❀ व्याख्यातन्त्र	२,४-५,१०,१३,२५, २७,३७,३९-४०,४५, ४७-४८,५२-५४,५८, ६०-६१,६६,१४२-१४३
देवेन्द्रपरिपृच्छा	१२-१३		
प्रज्ञासूत्र	२०८		
महामहायानरत्नराजसूत्र	२१६		
महायानसूत्र	५७	❀ सन्ध्याव्याकरण (व्याख्या)तन्त्र	११,१९,७०
❀ मायाजालमहातन्त्रराज	४७, ११९,२१६	समाज	२,१०,१७,१८९
❀ मूलतन्त्र	२०८	समाजोत्तर	५,५६,११६-११७,१२०
लङ्कावतारसूत्र	२२९		
❀ लाक्षी भट्टारिका	२१६	सम्बर (तन्त्र)	२०,६४
❀ वज्रपातालतन्त्र	२०५	साधनोपायिका	२७

१. गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह का उपोद्घात (पृ० २९, टि० ३) देखिये।

२. ऊपर पृ० ७२ पर दी गई १ संख्या की टिप्पणी के अनुसार इस पद का अर्थ करना चाहिये।

३. मूल ग्रन्थ के परिशिष्ट में दी गई उन पृष्ठ-संख्याओं को यहाँ नहीं दिया गया है, जिनमें वे वचन नहीं मिलते।

चन्द्रकीर्ति और नागार्जुन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य के नाम का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता। योगतन्त्र और वज्रयान शब्द यहाँ अनेक स्थलों पर उल्लिखित हैं। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्न शब्दों के उल्लेख के साथ भी कुछ वचन यहाँ उद्धृत मिलते हैं—

आम्नाय	१३०,१३४	नागार्जुन	१,२२९
आह	८०,१८२	(महा)योगतन्त्र	१,३,५,१०,१८७,
उक्तम्	२०६,२०९,२११		२२९,२३०
कल्पोक्त	१४७,१५०	वज्रयान	१२,४६-४७,७३-७४,
केचित्	१७८		१७६-२२९
चन्द्रकीर्ति	१	सूत्रान्त	३,१२

तारकांकित ग्रन्थों के यहाँ उपलब्ध वचनों का संग्रह 'धीः' के छठे अंक में "लुप्त बौद्ध-वचन संग्रह" की शृंखला में कर दिया गया है। पहले भी इनमें से कुछ ग्रन्थों के वचन[1] संगृहीत हो चुके हैं। साथ ही उक्त स्थलों पर उन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देने का भी प्रयत्न किया गया है। अतः इनके विषय में पुनः यहाँ कुछ लिखना द्विरुक्तिमात्र अथवा पिष्टपेषण मात्र होगा।

गुह्यसमाज अथवा समाज को यहाँ [2]तन्त्रशेखर कहा गया है। धर्मस्कन्ध, अर्थात् धर्म का विस्तार करने वाले शास्त्रों की संख्या ८४ हजार मानी जाती है। [3]चतुरशीतिसाहस्र धर्मस्कन्ध शब्द बौद्ध वाङ्मय में बहुत प्रचलित है। गुह्यसमाज को तन्त्रशेखर इसलिये कहा जाता है कि सभी धर्मस्कन्धों का सार इस समाजरूपी पिटारे में समाया हुआ है। चन्द्रकीर्ति के

---

१. 'धीः' के प्रथम अंक (पृ० ६५) में उद्धृत गुह्येन्दुमणितिलक गुह्येन्द्रतिलक से अभिन्न लगता है। सन्ध्याव्याकरण द्वितीय अंक (पृ० ६०) में, मूलतन्त्र द्वितीय (पृ० ५८) और तृतीय (पृ० ४२) अंकों में, वज्रमाला और वज्रामृत तृतीय अंक (पृ० ४४) में तथा देवेन्द्रपरिपृच्छा चतुर्थ अंक (पृ० २७) में भी उद्धृत हैं।

२. "चतुरशीतिसाहस्रो धर्मस्कन्धो महामुनेः। श्रीसमाजकरण्डोऽसौ तस्मात् तत् तन्त्रशेखरम् ॥" (गु० प्र०, पृ० १)।

३. "चतुरशीतिसाहस्रे धर्मस्कन्धे महामुने। तत्त्वं वै ये न जानन्ति सर्वे ते निष्फलाय वै ॥" चतुर्देवीपरिपृच्छामहायोगतन्त्र का यह वचन दोहाकोशव्याख्या (पृ० १०५, ११५, १४९) तथा चर्यागीतिकोशव्याख्या (पृ० २२) में उद्धृत है।

मत से इस तन्त्र में १७ पटल हैं। १७ पटल तक के ग्रन्थ का नाम समाज तथा १८वें पटल का समाजोत्तर नाम प्रायः पूरे बौद्ध वाङ्मय में, भोट अनुवाद साहित्य में भी स्वीकृत है। चन्द्रकीर्ति ने १७ पटल तक के ग्रन्थ की ही व्याख्या की है। अपनी व्याख्या में १८वें पटल के वचनों को उन्होंने समाजोत्तर के नाम से उद्धृत किया है। अतः समाज और समाजोत्तर दो भिन्न ग्रन्थ माने जाने चाहिये। गुह्यसमाज के मुद्रित संस्करणों में इनको एक ही मान लिया गया है। चन्द्रकीर्ति का ही कहना है कि इसमें सभी तन्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों का संग्रह[1] कर दिया गया है। उन्हीं के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि [2]षट्कोटि मार्ग पर अन्य आचार्यों ने भी बहुत कुछ लिखा है। गुह्यसमाज के अन्य व्याख्याकारों की ओर यह इंगित हो सकता है।

सन्ध्याव्याकरण को यहाँ व्याख्यातन्त्र माना गया है। व्याख्यातन्त्र के नाम से यहाँ अनेक वचन उद्धृत हैं। वे सब सन्ध्याव्याकरण के ही वचन हैं, इसको जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। फिर नागार्जुन के पंचक्रम में [3]सन्ध्याव्याकरण के साथ वज्रमाला और चतुर्देवीपरिपृच्छा को भी व्याख्यातन्त्र कहा है। इसीलिये हमने सन्ध्याव्याकरण और व्याख्यातन्त्र के वचनों को अभी अलग-अलग ही संगृहीत किया है[4]। चन्द्रकीर्ति ने—"एवं मया श्रुतम्। एकस्मिन् समये भगवान् सर्वतथागतकायवाक्चित्तहृदय-वज्रयोषिद्भगेषु विजहार" इस [5]आद्य वाक्य के प्रत्येक अक्षर का अर्थ वज्रमाला के आधार पर प्रस्तुत किया है (पृ० १४-१७)। इससे इस तन्त्र की व्याख्यातन्त्रता स्पष्ट है। हम समझते है कि चन्द्रकीर्ति द्वारा उद्धृत व्याख्यातन्त्र के वचन उक्त तीन तन्त्रों में से किसी न किसी में अवश्य मिल जाने चाहिये।

---

१. "साधनाङ्गमिदं षष्ठं सर्वतन्त्रार्थसंग्रहम्" (गु० प्र०, पृ० १)। पंचक्रम (१.२३०) में "साधनाङ्गामृतम्" पद देखने को मिलता है। बड़ोदा की ज्वालावली-वज्रमाला-तन्त्र की १३९६० संख्यक मातृका में 'षष्ठं' के स्थान पर 'श्रेष्ठं' पाठ मिलता है (पृ० ६)।

२. "भूयोभिर्जनपुङ्गवैर्विरचितं षट्कोटिमार्गं चिरात्" (गु० प्र०, पृ० २३०)।

३. द्रष्टव्य पंचक्रमान्तर्गत वज्रजापक्रम—चतुर्देवीपरिपृच्छाव्याख्यातन्त्रे (पृ० १८), वज्रमालानाम्नि व्याख्यातन्त्रे (पृ० १९), सन्ध्याव्याकरणव्याख्यातन्त्रे (पृ० २०)।

४. 'धीः' छठे अंक में लुप्त बौद्ध-वचन संग्रह (पृ० ४०-४६) देखिये।

५. इस आद्य वाक्य का प्रयोग प्रायः मूल और संग्रह तन्त्रों के प्रारंभ में मिलता है।

असाधारणगुह्यमहायोगतन्त्र, महायानरत्नराजसूत्र, महायानसूत्र, लंकावतारसूत्र, वैरोचनाभिसंबोधितन्त्र और सम्बरतन्त्र के वचन भी यहाँ उद्धृत मिलते हैं। इन वचनों का संग्रह अभी नहीं किया गया है। वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र की गणना चर्यातन्त्रों में की जाती है, अतः वैरोचनाभिसम्बोधिचर्यातन्त्र इससे अभिन्न है। तत्त्वसंग्रह को तीन बार चन्द्रकीर्ति ने स्मरण किया है। हेवज्रतन्त्र[1] में भी यह उद्धृत है। अतः मानना होगा कि मण्डल आदि के निर्माण की विधि का प्रदर्शक यह एक प्रामाणिक और प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सौभाग्य से यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। साधनोपायिका का यहाँ जिस तरह से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा लगता है कि इसकी रचना स्वयं चन्द्रकीर्ति ने की है[2]।

शब्दसूची में सारसमुच्चय को काले टाइप में अंकित किया गया है। उससे ऐसा लगता है कि यह किसी ग्रन्थ का नाम हो, किन्तु ऐसा है नहीं। प्रज्ञासूत्र और सम्बरतन्त्र के दो वचन सूची में निर्दिष्ट पृष्ठों पर अथवा अन्यत्र भी हमें उपलब्ध नहीं हो सके। ग्रन्थों के ऊपर बताये गये विशेष नामों के अतिरिक्त आम्नायः, आह, उक्तम् इत्यादि सामान्य पदों अथवा क्रियापदों के द्वारा भी कुछ वचन उद्धृत मिलते हैं। इनके आकर ग्रन्थों की खोज हमें करनी होगी।

चन्द्रकीर्ति ने अपनी व्याख्या में अनेक पारिभाषिक शब्दों के अर्थ दिये हैं। इनका भी संग्रह 'धीः' के [3]छठे अंक में कर दिया गया है। प्रसंगवश वहाँ कुछ अन्य विषयों की भी चर्चा हुई है, जैसे कि तिलशिम्बिन्याय। गुह्यसिद्धि आदि ग्रन्थों में भी यह शब्द आया है। तिलशिम्बि तिल की फली को कहते हैं। यह चौकोर होती है और इसके चारों कोनों में तिल के दानें एक-दूसरे से सटे हुए रहते हैं। इस न्याय का प्रस्तुत प्रसंग में अभिप्रायः यह है कि जैसे तिल के दाने बिना एक-दूसरे को दबाये तिल की फली में चारों तरफ ठंसे रहते हैं, उसी तरह से गुह्यसमाज की देशना को सुनने के लिये चारों दिशाओं में बुद्ध, बोधिसत्त्व आदि खचाखच भरे हुए हैं[4]।

---

१. "यथा तत्त्वसंग्रहे मण्डलविधिस्तथा कर्तव्यम्" (२.५.५७)।

२. "सर्वेषामासनादिनियमः साधनोपायिकायां कृत एव" (पृ० २७)। तोहकु सूचीपत्र (कंजुर-तंजुर) में १८१४ सख्या पर चन्द्रकीर्ति के इस ग्रन्थ का उल्लेख है।

३. बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय, पृ० ४८–६५ देखिये।

४. "यथा तिलशिम्बे तिलबीजान्यन्योन्यसम्पृष्ठा(क्ता)न्यपरस्परपीडनरूपेण स्थितानि, तथा देशनाकाले सर्वतथागता गगनं व्याप्य स्थिताः" (गु० प्र०, पृ० १८)

तन्त्रशास्त्र की साधना में पर्वताग्र[1], नदीतीर, प्रस्रवण, उद्यान, चतुष्पथ, श्मशान, एकवृक्ष, एकलिंग, शून्यागार आदि स्थानों का अपना महत्त्व है। यहाँ (पृ० १०४, ११०, १७१) इन शब्दों के विविध अर्थ देखे जा सकते हैं। पृ० १५७ पर इनको सप्त मातृकाओं का गृह (स्थान) कहा गया है। सप्त मातृकाओं का उल्लेख पौराणिक और तान्त्रिक वाङ्मय में तो पर्याप्त मात्रा में मिलता ही है, इनकी मूर्तियाँ और मन्दिर भी भारत के विस्तृत भूभाग में मिलते हैं। अमरकोश में इनके नाम इस तरह से दिये गये हैं—

[2]ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः॥

चन्द्रकीर्ति ने इनका इस तरह से उल्लेख किया है—

"ब्रह्माणी, वैष्णवी, रुद्राणी, इन्द्राणी, कौबेरी, वाराही, चामुण्डा चेति सप्त लोकमातरः" (पृ० १५७)

यहाँ कौमारी के स्थान पर कौबेरी पाठ है। हमें यह लेखन की अशुद्धि प्रतीत होती है, क्योंकि इस ग्रन्थ के भोट अनुवाद से कौमारी पाठ को ही समर्थन मिलता है।

जैसी कि ऊपर चर्चा की गई, चन्द्रकीर्ति ने श्मशान, शून्यागार, चतुष्पथ एकलिंग और एकवृक्ष को मातृकाओं का गृह बताया है। इन पाँच नामों में पर्वताग्र और नदीतीर को जोड़ने पर यह संख्या सात हो जाती है। इन सभी मातृकाओं का इन स्थानों पर निवास है या ये अलग-अलग मातृकाओं के अलग-अलग निवास स्थान हैं, यह खोज का एक मनोरंजक विषय है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि सात मातृकाओं की पूजा प्रायः एक साथ होती है। इनकी मूर्तियों और मन्दिरों की भी प्रायः यही स्थिति है।

सभी सम्प्रदायों के योगशास्त्र के ग्रन्थों में यह बताया गया है कि मनुष्य दिन-रात में मिलाकर प्रतिदिन २१६०० बार श्वास लेता और छोड़ता है[3]। इसी को अजपा-जप कहा जाता है। चन्द्रकीर्ति ने भी आर्षव्याख्यान के प्रमाण से इस विषय को इसी रूप में प्रस्तुत किया है—

---

१. गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह का उपोद्घात (पृ० ३५, टि० २) देखिये।

२. अमरकोश (१.१.३५) में यह वचन क्षेपक के रूप में मिलता है।

३. विज्ञानभैरव के इस श्लोक से तुलना कीजिये—"षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः। जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः॥" (श्लो० १५४)

अयुतद्वयं सहस्रं च षट्शतानि तथैव च।
अहोरात्रेण योगीन्द्रो जपसंख्यां करोति च ॥ (पृ० ६३)

अयुत शब्द से दस हजार की संख्या बोधित होती है। दो अयुत का अर्थ हुआ बीस हजार। इसमें एक हजार और छः सौ मिलाने पर उक्त संख्या संपन्न होती है। दिन-रात में योगिप्रवर इतनी जपसंख्या पूरी कर लेता है।

तन्त्रालोक जैसे शैव-शाक्त तन्त्र-ग्रन्थों में स्तोभ और आवेश जैसे शब्द प्रयुक्त हैं। गुह्यसमाज (१५।६५) में भी स्तोभ, स्तंभ, महाबिम्ब और आर्यभौम नामक चतुर्विध आवेशों की चर्चा आई है। स्तोभ और स्तंभ शब्दों का अर्थ करने के बाद चन्द्रकीर्ति ने तीसरे आवेश का नाम महादिव्य दिया है। गुह्यसमाज की टिप्पणी में भी यह पाठ मिलता है। आर्यभौम के स्थान पर चन्द्रकीर्ति की व्याख्या में आर्यपथ नाम मिलता है (पृ० १७१)। इन शब्दों के अर्थों को [1]अन्यत्र संगृहीत कर दिया गया है। इन उदाहरणों से यह प्रतीत होने लगता है कि गुह्यसमाज के परिष्कृत संस्करण की अभी आवश्यकता है।

गुह्यसमाज के १५वें पटल में आभिचारिक प्रयोगों के प्रसंग में नदीस्रोत की चर्चा आई है। चन्द्रकीर्ति नदी शब्द से यहाँ पश्चिमसमुद्रगामिनी नदी का ग्रहण करते हैं (पृ० १७४)। ऐसा करते समय उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। पश्चिमसमुद्रगामिनी नदियों में नर्मदा प्रमुख है। क्या इन नदियों का आभिचारिक प्रयोगों से कोई विशेष संबन्ध है ? अथवा क्या इसके आधार पर [2]चन्द्रकीर्ति के जन्मस्थान के विषय में कोई सुराग मिल सकता है ? बुस्तोन और तारानाथ चन्द्रकीर्ति को दक्षिण का निवासी मानते हैं। दक्षिण

---

१. द्रष्टव्य—बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय, 'धीः' अं० ६, पृ० ४८-६५।

२. चन्द्रकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से आठवी शताब्दी के पूर्वार्ध तक माना जाता है। दार्शनिक चन्द्रकीर्ति और तान्त्रिक चन्द्रकीर्ति को प्रायः अलग-अलग मानने की पद्धति चल पड़ी है। किन्तु अभी कोपेनहेगन से कम्बलपाद की आलोकमाला प्रकाशित हुई है। विद्वान् संपादक डॉ० सी० लिंडनर ने कम्बलपाद का समय ४५०–५२५ ई० निर्धारित किया है। आलोकमाला के श्लोक त्रिकदर्शन और वज्रयान के ग्रन्थों में समान रूप से उद्धृत हुए हैं। कश्मीर के दार्शनिक और साहित्यिक आचार्य तथा बिहार के नैयायिक विद्वान् उपासना के क्षेत्र में तान्त्रिक पद्धति का अनुसरण करते थे। इस स्थिति में दार्शनिक चन्द्रकीर्ति ही प्रदीपोद्योतन के भी लेखक हों, इसमें कुछ अनौचित्य की प्रतीति नहीं होती।

की तीन बड़ी नदियाँ (गोदावरी, कृष्णा और कावेरी) पश्चिमसमुद्रगामिनी नहीं हैं। नर्मदा और ताप्ती ये ही दो बड़ी नदियाँ पश्चिमगामिनी हैं।

गुह्यसमाज में साधना के उपयुक्त स्थानों की चर्चा इस प्रकार है—

महाटवीप्रदेशेषु विजनेषु महत्सु च।
गिरिगह्वरकुले(ञ्जे)षु सदा सिद्धिरवाप्यते ॥ (१२।६५)

चन्द्रकीर्ति ने इस श्लोक में आये पांच शब्दों का नीतार्थ इस प्रकार बताया है—

आदर्शाख्यमहाटव्या(व्यां) प्रदेशे समताह्वयि(ये)।
प्रत्यवेक्षाख्यविजये(ने) विशुद्ध(द्धि)गिरिगह्वरे ॥
कृत्यानुष्ठानकुञ्जेषु येष्वेवं प्राप्यते सुखम्। (पृ० १२०)

हम जानते हैं कि आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षणा, विशुद्धि और कृत्यानुष्ठान ज्ञान को पंचाकाराभिसंबोधि कहा जाता है। यहाँ क्रमशः महाटवी, प्रदेश, विजन, गिरिगह्वर और कुंज—ये पांच शब्द नीतार्थ पद्धति से आदर्श आदि पांच ज्ञानों का बोध कराते हैं। महाटवी आदि में जैसे साधक बाह्य साधना करता है, उसी तरह से उसे आदर्श ज्ञान आदि की सहायता से अपनी आन्तर साधना पूरी करनी चाहिये। इन पांच अभिसंबोधियों की चर्चा हेवज्र[1] आदि तन्त्रों में तो स्पष्ट रूप से मिलती है, किन्तु गुह्यसमाज में इनकी कहीं चर्चा है या नहीं, शब्दसूची की सहायता से हमें कोई जानकारी नहीं मिल पाती। गुह्यसमाज-प्रदीपोद्योतन की शब्दसूची में भी इन महत्त्वपूर्ण शब्दों का समावेश नहीं किया गया है। यद्यपि वहाँ पृ० ५१ पर भी ये शब्द नीतार्थ पद्धति से वैरोचन आदि पांच बुद्धों के लिये प्रयुक्त हैं। अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश (श्लो० ७३-७६) में भी पंचस्कन्ध, पंचबुद्ध और पंचभूतों को पंचज्ञानस्वभाव बताया गया है।

वज्रोष्णीष(तन्त्र) के प्रमाण पर यहाँ (पृ० १५१) कबन्ध नाम के मन्त्र का और आगे (पृ० १५३) निरन्त मन्त्र का लक्षण बताया गया है। चतुर्विध मन्त्रवाद और सप्तविध मन्त्रनय की भी यहाँ चर्चा है। [2]मन्त्रसंज्ञा,

---

१. देखिये—हेवज्रतन्त्र (१।८।६-८, २।४।४६-४७)।

२. भोट अनुवाद में इन पदों का अर्थ इस प्रकार किया गया है—१. मन्त्रसंज्ञा—मन्त्र के नाम का निर्माण इत्यादि, २. मन्त्रार्थ—स्तुति, आवाहन, चोदन, ३. मन्त्र-विदर्भण (मन्त्रवृद्धि)—शान्ति के मन्त्र में शान्ति कुरु स्वाहा, पुष्टि के मन्त्र में पुष्टि कुरु स्वाहा आदि का योजन, ४. स्वरवर्जित वज्रवाक्—वज्र शब्द का

मन्त्रार्थ, मन्त्रविदर्भण और स्वरवर्जित वज्रवाक्—मन्त्रनय के ये चार भेद हैं। यहीं (पृ० ९०) सप्तविध मन्त्रनय को बताते हुए यह श्लोक पढ़ा गया है—

[1]मण्डलं गणकुण्डं च बलिर्मेलापकक्रमः।
तत्त्वं सप्तविधाख्यानं स मन्त्रनय उच्यते ॥

भोट अनुवाद में मण्डल, गण, कुण्ड, बलि, मेलापक, क्रम और तत्त्व— मन्त्रनय के ये सात भेद गिनाये गये हैं। इन शब्दों की वहाँ व्याख्या नहीं मिलती।

इस तरह से हम देखते हैं कि चन्द्रकीर्ति ने अपनी व्याख्या में प्रसंगवश अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। अब हम इस निबन्ध के मूल विषय पर आना चाहते हैं।

सप्तविध अलंकार

सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय का सीधा-सादा अर्थ है सात प्रकार के अलंकारों का वर्णन करने वाला न्याय। १. पाँच प्रकार का उपोद्घात, २. चार प्रकार का न्याय, ३. षट्कोटिक व्याख्यान, ४. चतुर्विध आख्यान, ५. द्विविध पंचम अलंकार, ६. पाँच भेद वाला छठा अलंकार और ७. दो प्रकार का सातवाँ अलंकार—ये हैं सात अलंकार। इन सात अलंकारों के आधार पर गुह्यसमाज के विविध अर्थों को स्पष्ट करने वाली पद्धति ही इस न्याय के नाम से यहाँ कही गई है। चन्द्रकीर्ति ने किसी व्याख्यातन्त्र को उद्धृत कर इस प्रकरण को स्पष्ट किया है। इन वचनों को 'धीः' के छठे अंक में (पृ० ६०-६४) संगृहीत कर दिया गया है। उनको बिना उद्धृत किये यहाँ उनका सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है।

परित्याग कर उसका मन ही मन जाप करना। कश्मीरी विद्वान् क्षेमराज ने नेत्रतन्त्र की उद्योत टीका (१८।१०) में विदर्भण का अर्थ साध्य के नाम के बीच में एक बार मन्त्र का न्यास (नामान्तरं सकृन्मन्त्र इति विदर्भणम्) किया है।

१. भोट अनुवाद में इन पदों का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—१. मण्डल लिख कर अभिषेक प्राप्त करना, २. अभिषेक के पहले या बाद में गणचक्र की पूजा करना, ३. अपने-अपने कुल की विधि के अनुसार कुण्ड बना कर हवन करना, ४. समय-समय पर लोक और लोकोत्तर देवों को बलि अर्पित करना, ५. समयवान् योगी और योगिनियों को इकट्ठा करना, ६. क्रमद्वय की भावना करना और ७. सभी धर्मों के वास्तविक तत्त्व में स्थित होना।

१. पंचविध उपोद्घात

[1]इस तन्त्र की क्या संज्ञा है ? किसके लिये इसकी रचना की गई है ? इसका कौन कर्ता है ? इसका प्रमाण क्या है ? और इसका प्रयोजन क्या है ? इन पाँच बातों की चर्चा उपोद्घात में की जाती है। तन्त्र का नाम ही संज्ञा है। रागी जनों के लिये यह लिखा गया है। वज्रसत्त्व इसके कर्ता हैं। [2]परिच्छेद, कल्प, खण्ड अथवा पटल के रूप में तन्त्रों का विभाग किया जाता है और अनुष्टुप् छन्द के ३२ अक्षरों के आधार पर ग्रन्थ का परिमाण, अर्थात् श्लोकसंख्या बताई जाती है। निम्न तीन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये तन्त्रों का उपदेश किया जाता है—१. शान्तिक, पौष्टिक आदि क्रियाएँ, २. आठ सिद्धियों की प्राप्ति और ३. बुद्धत्व की प्राप्ति। इन प्रयोजनों को हम कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम सिद्धियों के रूप में देख सकते हैं।

२. चतुर्विध न्याय

चतुर्विध न्याय में यहाँ [3]सन्तान, निदान, निरुक्ति और हेतु का वर्णन किया गया है। भगवान् बुद्ध का मनुष्य योनि में जन्म लेना ही सन्तान है।

---

१. दर्शन के ग्रन्थों के प्रारंभ में अनुबन्ध-चतुष्टय के रूप में यह विषय वर्णित है। विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी—इन चार विषयों का प्रतिपादन प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ में करना पड़ता है। प्रकारान्तर से पंचविध उपोद्घात में भी ये सब विषय आ जाते हैं। ग्रन्थ के प्रारंभ में हो इन विषयों पर विचार किया जाता है, अतः उपोद्घात नाम की सार्थकता भी है।

२. महाकाव्यों को जैसे सर्ग में बाँटा जाता है, उसी तरह तन्त्र ग्रन्थों को भी इन चार विभागों में से किसी एक या दो में विभक्त किया जाता है। ये सभी विभाग किसी एक ही तन्त्र में नहीं मिलते। गुह्यसिद्धि को परिच्छेदों में बाँटा गया है। हेवज्रतन्त्र को दो कल्पों में बाँट कर पुनः इनको पटलों में विभक्त किया गया है। तत्त्वसंग्रह के चार खण्डों को विविध कल्पों में बाँटा गया है। पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता में भी परिच्छेद विभाग मिलता है। शक्तिसंगमतन्त्र चार खण्डों एवं पटलों में विभक्त है। शैवागमों को चार पादों तथा पुनः पटलों में विभक्त किया गया है। तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में पटल विभाग ही सर्वाधिक प्रचलित है।

३. षट्कोटिन्याय और चतुर्विधन्याय द्वारा प्रतिपादनीय तन्त्र अथवा प्रज्ञोपाय तत्त्व सन्तान कहलाता है। इसकी सहायता से एक ही जन्म में सम्यक्संबोधि की प्राप्ति होती है। सन्तान आदि चारों भेदों को रागरहित और रागयुक्त विधि से देखा जाता है। यहाँ रागरहित प्रथम विधि का वर्णन किया गया है। द्वितीय (रागयुक्त) विधि को संबरोदय, सर्वगुह्य आदि तन्त्रों में देखा जा सकता है।

अन्तःपुर से उनका निष्क्रमण निदान कहा जाता है। विनय ग्रन्थों में उपदिष्ट संवर निरुक्ति कहलाती है। उत्तम फल की इच्छा से धर्म का आचरण करना ही हेतु है। ये चार न्याय वैराग्य-प्रधान चर्या के हैं। राग-प्रधान चर्या में पाँच बुद्धकुलों में साधक की उत्पत्ति (दीक्षा द्वारा) ही सन्तान है। पाँचों कुलों में एकता की भावना निदान है। वज्र आदि का ग्रहण निरुक्ति और शृंगार आदि रसों की चर्या हेतु कहलाती है।

३. षट्कोटिक व्याख्यान

यह तीसरा अलंकार है। योगतन्त्रों में उपदिष्ट छिपे हुए रहस्यात्मक अर्थों को स्फुट करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। इसको संध्याभाषा, नोसंध्या, नेय, नीत, यथारुत और नरुत नामक छः कोटियों (अर्थों) के सहारे समझा जाता है। इन षट्कोटिक अर्थों की चर्चा यहाँ व्याख्यातन्त्र के वचन को उद्धृत करते हुए अन्यत्र (पृ० १०) भी की गई है। मलिनचित्त प्राणियों के लिये भगवान् नेयार्थ द्वारा धर्म का उपदेश करते हैं और शुद्धचित्त सत्त्वों के लिये नीतार्थ द्वारा। विशिष्ट रुचि वाले प्राणियों को जब शास्ता धर्म का उपदेश करते हैं, तो वे विरुद्धालाप वाली [1]सन्ध्याभाषा का प्रयोग करते हैं। इसके लिये आजकल हिन्दी में उलटबाँसी शब्द चल पड़ा है। इस भाषा को सुनने से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वास्तविक अभिप्राय उससे भिन्न ही होता है। मण्डल आदि की रचना किस प्रकार की जाय, साधक की सामान्य चर्या कैसी रहे, इसके लिये उत्तान (स्पष्ट) रूप से जो कहा जाता है, उसे यथारुत कहते हैं। [2]कोट आदि शब्दों का प्रयोग लोक और शास्त्र में भी निषिद्ध है। तथागत इन संकेतों के माध्यम से किसी विशेष अर्थ को कहना चाहते हैं। इनको नरुत कहा जाता है। मृदु (सरल) स्वभाव के सत्त्वों के लिये शास्त्रीय अर्थ की स्पष्ट प्रतीति हो, एतदर्थ तत्त्व की सरल भाषा में व्याख्या नोसन्ध्या कहलाती है।

४. चतुर्विध आख्यान (व्याख्याभेद)

[3]अक्षरार्थ, समस्तांग, गर्भी और कौलिक नाम की चार प्रकार की व्याख्यान-पद्धति यहाँ वर्णित है। प्रथम अक्षरार्थ व्याख्या का कोई भेद नहीं

---

१. गुह्यादि० उपोद्घात (पृ० ३६, टि० १) देखिये।
२. भोट अनुवाद में भी कोट शब्द ही दिया गया है, उसका अर्थ नहीं।
३. योगिनीहृदय नामक शाक्त तन्त्र में (२।१५-१६) भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, सर्वरहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ नामक छः प्रकार के मन्त्रार्थों का

है। समस्तांग दो प्रकार का, गर्भी तीन प्रकार का और कोलिक दो प्रकार का है। अनेक व्यक्ति बाह्य शास्त्रों के अध्ययन में लगे रहते हैं। मात्र शब्दों से खिलवाड़ करने वाले ऐसे व्यक्तियों के लिये अक्षरार्थ का उपदेश किया जाता है। सूत्रान्त आदि की शरण में आये व्यक्तियों के दुष्कर्मों के क्षय के लिये और उत्पत्तिक्रम को समझने लिये द्विविध समस्तांग प्रकाशित किया जाता है। रागधर्म का प्रकाशन, संवृति से सत्य का दर्शन और [1]ज्ञानत्रय का विवेचन—इस प्रकार गर्भी के तीन भेद हैं। द्विविध कोलिक अर्थ में प्रभास्वर पद का प्रकाशन और युगनद्ध का ज्ञान कराया जाता है। कोल शब्द पर्यन्त का वाचक है। इस कोलिक अर्थ से व्यक्ति को युगनद्ध नाम की अन्तिम स्थिति का बोध कराया जाता है।

५. द्विविध व्याख्यान

वक्ता दो प्रकार से शास्त्र का व्याख्यान करना चाहता है—सत्रव्याख्यान पद्धति से और शिष्यव्याख्यान पद्धति से। ऊपर वर्णित षट्कोटिक व्याख्यान और चतुर्विध आख्यान में मिलकर अर्थ दस प्रकार के हो जाते हैं। इनमें से यथारुत, नोसन्ध्या, नेयार्थ, अक्षरार्थ एवं समस्तांग नामक पाँच अर्थों का उपयोग सत्रव्याख्यान के लिये और नरुत, नीतार्थ, सन्ध्याभाषा, गर्भी एवं कोलिक अर्थों का शिष्यव्याख्यान के लिये उपयोग किया जाता है। उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम के आधार पर ये भेद किये जाते हैं, अर्थात् सत्रव्याख्यान नामक सामूहिक उपदेश उत्पत्तिक्रम की पद्धति से और परीक्षित शिष्य के लिये निष्पन्नक्रम की पद्धति से शास्त्र की व्याख्या की जाती है, शास्त्र का अर्थ और अभिप्राय समझाया जाता है।

६. पंचभेद षष्ठालंकार

शास्त्रों में पाँच प्रकार के ऐसे पुद्‌गल (जीव) वर्णित हैं, जिनका कि मन शास्त्रों के श्रवण में लगता है। स्वभावतः ये सब भिन्न-भिन्न प्रकृति के होते हैं। इनके नाम हैं—रत्न, चन्दन, पद्म, पुण्डरीक और उत्पल। प्रकृति

निरूपण किया गया है। वहाँ बताया गया है कि इन अर्थों का निरूपण महाज्ञानार्णव नामक तन्त्र तथा विद्यापीठ संबन्धी निबन्धों में किया गया है। भावार्थ को यहाँ अक्षरार्थ बताया गया है। इसी तरह से गर्भी और कोलिक नाम की तुलना निगर्भार्थ और कौलिकार्थ से की जा सकती है।

१. आलोक, आलोकाभास और आलोकलब्ध नामक त्रिविध ज्ञान का निरूपण अनुत्तरसन्धि आदि ग्रन्थों में भी मिलता है।

(स्वभाव) के भेद के अनुसार सर्वज्ञ जिन ने ये भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। इनमें से जो जीव गुरुमुख से बिना सुने पुस्तकों को पढ़ कर शास्त्रों का अभ्यास करता है, किन्तु साथ ही सब कुछ भूल भी जाता है, उसे उत्पल पुद्गल कहते हैं। गुरुमुख से शास्त्रों का श्रवण तो खूब करता है, किन्तु अपने अर्जित ज्ञान को जो दूसरों के सामने प्रकाशित नहीं कर पाता, उसे [1]पुण्डरीक पुद्गल कहते हैं। जो श्रद्धालु है, जिसका मन करुणा से भरा है, शास्त्र के श्रवण से जिसका हृदय विशाल हो गया है, उसे [2]पद्म पुद्गल कहते हैं। जिसने सुना तो कम है, किन्तु अहंकार से भरा हुआ है और निराधार बकवास ज्यादा करता है, उसे चन्दन पुद्गल कहा जाता है। गुरु को ऐसे शिष्यों पर कभी अनुग्रह नहीं करना चाहिये। जो सुशील है, निर्मल बुद्धि, चतुर, बुद्धिमान् और एक निश्चय वाला है तथा जो गुरु से प्राप्त ज्ञान को भलीभाँति प्रकाशित कर सकता है, उसे रत्न पुद्गल कहते हैं। पुण्डरीक, उत्पल, पद्म और चन्दन नाम के पुद्गल सत्रव्याख्यान पद्धति के अधिकारी हैं। सदाचारी और निष्पन्नक्रम की साधना में समर्थ रत्न पुद्गल ही शिष्यव्याख्यान पद्धति का अधिकारी माना गया है। पुद्गल के स्वरूप को ठीक से समझ कर, शिष्य की पात्रता एवं अपात्रता की पूरी तरह से परीक्षा करने के उपरान्त ही बुद्धिमान् वज्राचार्य को यथायोग्य सत्रव्याख्यान पद्धति अथवा शिष्यव्याख्यान पद्धति से शास्त्रों का उपदेश करना चाहिये।

सप्तम अलंकार

ऊपर बताये गये छः अलंकारों के आधार पर संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के स्वरूप को समझ कर सातवें अलंकार की सहायता से निष्पन्नक्रम

---

१. बहुश्रुत होने पर भी बहुत से साधक विद्वान् अपने अभिप्राय को व्यक्त करने में असफल रहते हैं। जैसे कलश में कपास का बीज भर देने पर वह बाहर नहीं निकल सकता, उसी प्रकार पुण्डरीक पुद्गल भी अपनी ज्ञानरूप गन्ध को पराग में बन्द कर रखता है, बाहर नहीं छोड़ पाता।

२. श्रद्धावान् बहुश्रुत होने पर भी पद्म पुद्गल अपने भीतर गुरुप्रदत्त ज्ञान को संचित नहीं रख पाता। बिना गाँठ वाले बांस से जैसे पानी बाहर निकल जाता है, सूर्य के उदय के साथ फूलों पर पड़ी ओस जैसे आंखों से ओझल हो जाती है, उसी तरह से पद्म पुद्गल का ज्ञान भी समय पाकर लुप्त हो जाता है।

यहाँ कुछ टिप्पणियों में प्रदीपोद्योतन के भोट अनुवाद से सहायता ली गई है। इसके लिये हम तिब्बती संस्थान के विद्वान् अध्यापक डॉ० बड्छुग् दोर्जे नेगी के आभारी हैं।

की साधनाविधि को अंगीकार करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि सत्यद्वय का साक्षात्कार करने के बाद साधक जो युगनद्ध क्रम में प्रवेश करता है, निष्पन्नक्रम की साधना द्वारा अद्वय स्थिति में पहुँचता है, यही सप्तम अलंकार की विधेयता है।

सात अलंकारों का इस प्रकार वर्णन कर यहाँ बताया गया है कि सभी योगतन्त्रों का तात्पर्य व्याख्यातन्त्रों में बताये गये सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय से समझना चाहिये। चन्द्रकीर्ति ने अपनी पूरी व्याख्या में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। ऊपर प्रदर्शित सभी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग व्याख्याकार ने प्रसंग के अनुसार पद-पद पर किया है। शब्दसूची की सहायता से इनमें से कुछ स्थलों को देखा भी जा सकता है, किन्तु इस सूची में अनेक महत्त्वपूर्ण शब्दों का पृष्ठांकन छूट गया है। इन शब्दों का जहाँ प्रयोग हुआ है, उन प्रसंगों का सही अभिप्राय समझने के लिये कुछ चुने हुए शब्दों के ऊपर वर्णित अर्थों को हृदयंगम कर लेना आवश्यक है।

ऊपर षट्कोटिव्याख्यान, चतुर्विधाख्यान और द्विविध व्याख्यान शीर्षक के अन्तर्गत इस प्रकार के अर्थों का निरूपण किया गया है। इनमें से सन्ध्या-भाषा का अपना महत्त्व है। बौद्ध तन्त्रों और अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन के प्रसंग में सन्ध्या अथवा सन्धा भाषा के विषय में पर्याप्त विचार हो चुका है। शास्त्रों में इसका प्रयोग क्यों किया जाता है? इस विषय को भी चन्द्रकीर्ति ने सन्ध्याव्याकरण व्याख्यातन्त्र के लम्बे उद्धरण द्वारा समझाया है। इस उद्धरण को 'धीः' के छठे अंक (पृ० ४६-४७) में संगृहीत कर दिया गया है। जिज्ञासुओं को उसे वहीं देख लेना चाहिये॥

बौद्ध एवं शैव-शाक्त तन्त्रों का समान दृष्टिकोण[1]

तर्कतीर्थ श्रीलक्ष्मण शास्त्री जोशी भारतीय विद्या और संस्कृति के तथा आधुनिक समाजवाद के प्रबुद्ध चिन्तक मनीषी हैं। हमें याद पड़ता है कि इनके भारतीय संस्कृति सम्बन्धी किसी ग्रन्थ पर आचार्य नरेन्द्रदेव ने प्रस्तावना लिखी थी। अभी हाल में उन्होंने केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी में लालमणि जोशी स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत एक सारगर्भ व्याख्यान दिया था। उसमें उन्होंने प्राचीन औपनिषद साहित्य का बौद्ध साहित्य पर तथा प्राचीन बौद्ध विचारधारा का महाभारत पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा, इसका सुन्दर विश्लेषण किया था।

उनका कहना है कि बुद्ध के उपदेशों की प्रतिध्वनि महाभारत के शान्ति-पर्व के तुलाधार-जाजलि संवाद में ध्वनित होती है। जाजलि ब्राह्मण ऋषि हैं और तुलाधार किराना माल को बेचने वाला वैश्य[2]। यह कथा वहाँ (गीता प्रेस संस्करण) २६१-२६४ अध्यायों में वर्णित है। जाजलि ने घोर तपस्या की थी। तपस्या करते समय इनकी जटा में गोरैया ने घोंसला बना लिया था। इस तपस्या के प्रभाव से इनको जल और आकाश में भी अबाध गमन की सिद्धि प्राप्त हुई थी। इससे इनका अहंभाव जाग उठा। इनकी गर्वोक्ति को सुनकर अपरिज्ञात राक्षसों और पिशाचों ने उससे कहा था कि ऐसी गर्वोक्ति तो वाराणसी का धार्मिक तुलाधार भी नहीं कर सकता। थोड़ी देर बाद इसी सूचना को आकाशवाणी ने भी दुहराया। इससे क्रुद्ध कर वह तुलाधार से मिलने वाराणसी की ओर चल पड़ा। वार्तालाप के प्रसंग में तुलाधार ने जाजलि से कहा कि [3]धन कमाने के लोभी नास्तिक पुरुषों ने वैदिक वचनों का तात्पर्य न समझ कर सत्य से प्रतीत होने वाले मिथ्या यज्ञों का प्रचार किया

---

१. केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी द्वारा 'सम्यक् वाक्' सिरीज संख्या ४, श्रमण विद्या, प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय स्मृति अंक २ में सन् १९८८ में प्रकाशित।

२. शास्त्री जी के मुद्रित भाषण का पृ० १९ देखिये।

३. लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम्॥ (२६३।६)

है।[1] वस्तुतः मनुष्य को आत्मयज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये। २६४ वें अध्याय में उसी ऋषि की जटा में पले हुए पक्षी जाजलि को श्रद्धा का महत्त्व समझाते हैं।

इस कथा में अहंकारी ब्राह्मण से विनयशील वैश्य की श्रेष्ठता बताई गई है। महाभारत के वनपर्व में इस प्रकार के ब्राह्मण से स्त्री और शूद्र की भी श्रेष्ठता प्रदर्शित है। यह उपाख्यान वहाँ २०६-२१६ अध्यायों में वर्णित है। इसमें बताया गया है कि वेदाध्यायी कौशिक नामक ब्राह्मण वृक्ष की छाया में बैठ कर वेदपाठ कर रहा था। पेड़ पर बैठी बलाका ने उस पर बीट कर दी और कुपित ब्राह्मण के देखने मात्र से वह भस्म हो गई। वह ब्राह्मण भिक्षा के लिये एक गृहस्थ के यहाँ पहुँचा। उसने भिक्षा के लिये आवाज लगाई और उसको गृहिणी का आश्वासन भी मिला, किन्तु इसी बीच गृहिणी बाहर से घर आये अपने पति की सेवा-सुश्रूषा में लग गई और याद आने पर फिर ब्राह्मण को भिक्षा देने पहुँची। इस व्यवहार से ब्राह्मण कुपित हो गया और कहने लगा कि ब्राह्मणों से इन्द्र भी डरता है, ये कुपित होने पर सारी पृथ्वी को भस्म कर सकते हैं। इस पर गृहिणी ने कहा कि हे ब्राह्मण देवता! मैं बलाका नहीं हूँ कि आपकी क्रोधभरी दृष्टि से भस्म हो जाऊँगी। वह कहती है कि देवता उसी को ब्राह्मण मानते हैं, जिसने क्रोध और मोह को जीत लिया है। स्त्री की बातों से लज्जित हो वह ब्राह्मण उस स्त्री के कहने से मिथिला के धर्मव्याध से धर्म का रहस्य जानने को निकल पड़ता है। वह लोगों से पूछ कर धर्मव्याध के कसाईखाने तक पहुँच जाता है और उसके इस घोर कर्म की निन्दा करता है। धर्मव्याध उसको बताता है कि मैं अपनी कुलक्रमागत वृत्ति से अपनी गृहस्थी चलाता हूँ और अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा करता हूँ। यहाँ अनेक अध्यायों में धर्मव्याध धर्म की सूक्ष्मता का वर्णन करता है। अन्तिम तीन अध्यायों में वह माता-पिता की सेवा का महत्त्व समझाता है और उस ब्राह्मण को भी ऐसा ही करने के लिये कहता है। धर्मव्याध के उपदेश से प्रभावित वह वेदपाठी कौशिक ब्राह्मण ऐसा ही करने का निश्चय करता है और उस उपदेष्टा धर्मव्याध (कसाई) की परिक्रमा[2] कर अपने घर के लिये चल पड़ता है।

---

१. सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः।
जाजले! तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव ॥ (२६३।४२-४३)

२. प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः। (२१६।३२)

महाभारत के ही आश्वमेधिक पर्व के ९०वें अध्याय में एक नेवला उञ्छ वृत्ति के ब्राह्मण परिवार द्वारा किये गये सेर भर सत्तू के दान की महिमा को युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ से बढ़ कर बताता है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के पूरा होने पर वहाँ एक नेवला आता है, जिसके शरीर का एक तरफ का हिस्सा सोने का-सा था। ब्राह्मणों के पूँछने पर उसने कुरुक्षेत्र में रहने वाले ब्राह्मण परिवार द्वारा दिये गये सेर भर सत्तू के दान की महिमा बताई। अनेक दिनों का भूखा परिवार सेर भर जौ का सत्तू बना और उसको बराबर बाँटकर जब खाने बैठा, तो उसी समय कोई अतिथि आ गया। उस अतिथि को पहले ब्राह्मण ने अपना हिस्सा दिया, तब ब्राह्मणी ने। उसके बाद पुत्र और पुत्रवधू ने भी अपना हिस्सा उस अतिथि को दे दिया। इस कथा को सुना कर नेवला लोगों से कहता है कि थोड़ी देर बाद मैं अपने बिल में से निकला और वहाँ बिखरे हुए सत्तू को खाने लगा। इससे मेरा मुँह और आधा शरीर, जिससे सत्तू का स्पर्श हुआ, सुवर्ण के वर्ण का हो गया। अब मुझे चिन्ता लगी कि मैं अपने बचे आधे शरीर को कैसे सुवर्णमय बनाऊँ। युधिष्ठिर के यज्ञ की चर्चा सुन कर बड़ी आशा से मैं यहाँ आया था, किन्तु आप लोग देख रहे हैं कि इस पवित्र यज्ञस्थली में भी मेरा आधा शरीर सुवर्णमय नहीं हो रहा है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि युधिष्ठिर का यह यज्ञ गरीब ब्राह्मण परिवार के सेर भर सत्तू के दान के सामने कुछ भी नहीं है।

शास्त्री जी ने विभिन्न भारतीय धर्मों में आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिये दर्शनों के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, हरिवंश, विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों का तथा भास, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि कवियों का भी उल्लेख किया, किन्तु आगम और तन्त्रशास्त्र की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की, जब कि यह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय धर्मों की एकनीडता तान्त्रिक धर्म में ही अधिक स्पष्ट हो पाई है। हमने दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोधयोजना की शोधपत्रिका 'धीः' के प्रथम और तृतीय अंक में बौद्ध और शैव-शाक्त तन्त्रों की तुलनात्मक सामग्री का संकलन किया है और अगले अंकों में भी इस प्रकार की सामग्री संकलित होती रहेगी। इसको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अनेक विषयों में इन सभी धर्मों अथवा सम्प्रदायों का दृष्टिकोण अद्भुत रूप से एक जैसा है।

बौद्ध धर्म में जाति को प्रारम्भ से ही अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। भगवान् बुद्ध का नापित जाति का सेवक विनयधर उपालि उनके निर्वाण के बाद बुद्ध-वचनों का संग्रह करने में प्रमुख भाग लेता है। महाभारत के ऊपर वर्णित आख्यानों में भी इसकी झलक मिलती है। तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त ने

महाभारतीय शान्तिपर्व के मोक्षधर्म प्रकरण और मुकुटसंहिता आदि के प्रमाण से जातिग्रह को दुराग्रह मात्र सिद्ध किया है कि [1]ब्राह्मण्य की निष्पत्ति में योनि को कारण नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ब्राह्मण वही है, जिसकी आत्मा शान्त है। [2]एक ब्राह्मण बुरा काम करता है और शूद्र भला काम। ऐसी अवस्था में धर्म और अधर्म के आचरण में जाति को कारण कैसे माना जा सकता है? मुकुटसंहिता का कहना है कि [3]कपटी ब्राह्मण की अपेक्षा निश्छल मन का म्लेच्छ कहीं श्रेष्ठ है। ऐसा ही भक्त शिव को प्रिय है, चार वेदों का अध्येता कपटी ब्राह्मण नहीं। अभिनवगुप्त के परवर्ती क्षेमराज, जयरथ, अमृतानन्द, महेश्वरानन्द आदि आचार्यों ने भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। स्वच्छन्दतन्त्र[4] का भी कहना है कि दीक्षा के बाद व्यक्ति के जातिपरक सारे भेट मिट जाते हैं। तब पूर्व जाति का स्मरण करने वाला व्यक्ति प्रायश्चित्त का भागी होता है।

जातिग्रह के ही समान विधि-निषेध, शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि की चिन्ताओं से भी व्यक्ति का मन सदा सशंक बना रहता है। इस तरह की शंका को भी तन्त्रशास्त्र में पाश (बन्धन) ही माना गया है। इन बन्धनों से मुक्त हुए बिना व्यक्ति को मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषय में मालिनीविजयतन्त्र (१८।७४-८१) में एक लम्बा उद्धरण दिया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का निरूपण, द्वैत और अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने का विधान, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या निषेध, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम, गोत्र आदि को रखना या न रखना -जैसी बातों के पक्ष या विपक्ष में

---

१. योनिर्न कारणं तत्र शान्तात्मा द्विज उच्यते ॥ (तन्त्रा० १५।५१३)

२. ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम् ।
किमत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते ॥ (तन्त्रा० वि० १५।५१४)

३. द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः ।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः ॥
(तन्त्रा० वि० १५।५१४)

४. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्येऽथवा प्रिये ।
सर्वे ते समधर्माणः शिवधर्मे नियोजिताः ॥....
एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया ।....
प्राग्जात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥
(स्व० त० ४।५४०-५४६)

कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। ये सभी व्यवहार विहित भी माने जा सकते हैं और निषिद्ध भी। इसमें साधक की इच्छा ही प्रमाण है कि वह इनका आचरण करे या न करे। वस्तुतः तत्त्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर शास्त्रों में केवल इतना ही कहा गया है कि योगी को प्रयत्नपूर्वक परम तत्त्व में अपने चित्त को स्थिर करने का प्रयास करते रहना चाहिये। चित्त की यह स्थिरता जैसे भी हो, योगी को तदनुसार अपनी चर्या बना लेनी चाहिये। जिस योगी का चित्त परम तत्त्व में स्थिर हो गया है, वह विषयों का उपभोग करता हुआ भी उनके दोषों से उसी प्रकार लिप्त नहीं नहीं होता, जैसे जल में रहते हुए भी कमलदल उससे निर्लिप्त रहता है। विष को दूर करने वाला गारुड़िक अपने शरीर को मन्त्रों से जब सुरक्षित कर लेता है, तो उस पर जहर का असर नहीं होता। उसी तरह से यह महान् मतिशाली योगी विषय रूपी विष को खाकर भी मोहित नहीं होता।

ये सब बातें महान् मतिशाली योगी के लिये ही नहीं, सामान्य मानव पर भी लागू हो सकती हैं। चित्त की शुद्धि के लिये मिट्टी, जल आदि से की जाने वाली शारीरिक शुद्धि का तब तक कोई उपयोग नहीं है, जब तक की व्यक्ति बहिर्मुख बना रहता है, एषणाओं के जाल में फँसा रहता है। ऊपर से चम-चमाता विष्ठा से भरा सोने का घड़ा जैसे पवित्र नहीं माना जा सकता, उसी तरह से स्नान, सन्ध्या से पवित्र बहिर्मुख कपटी व्यक्ति भी वास्तव में पवित्र नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि केवल शरीर की शुद्धि से अथवा पूजा-पाठ आदि से चित्त निर्मल नहीं हो सकता। इससे केवल पाखंड को ही बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत मलिन शरीर में भी पवित्र आत्मा निवास करती है। बौद्ध सिद्धों, वैष्णव आलवारों, सन्तों और गुरुओं की परम्परा में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि जातिग्रह के समान विधि-निषेध, शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि व्यवस्थाओं के आधार पर मनुष्य का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसीलिये तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में इन बाह्य विधि-विधानों की अपेक्षा मानव मन को उदार बनाने वाले तत्त्वों पर अधिक बल दिया गया है।

तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में इस तरह के उदाहरण मिलते हैं कि यहाँ अच्छे विचारों को एक-दूसरे से ग्रहण करने में भी कोई संकोच नहीं किया गया है। चर्यागीतिकोश की व्याख्या में अभिनवगुप्त का एक श्लोक उद्धृत है। अन्य भी अनेक वचन ठीक उसी रूप में विभिन्न शाखाओं में मिलते हैं। कहीं-कहीं शब्द-भेद या वाक्य-भेद होने पर भी उनका अभिप्राय एक सरीखा दिखता है। स्वात्मदेवतावाद और एक ही

जन्म में मुक्ति की बात भी सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों में स्वीकार की गई है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब कुछ मनुष्य के शरीर में भी है। अतः अपने शरीर की पूजा करने से सब कुछ पूजित हो जाता है। वासनाओं के दमन के लिये कठोर तप करने की अपेक्षा यहाँ वासनाओं के शमन का उपदेश किया गया है। दमित वासनाएँ कभी भी भड़क कर व्यक्ति को पथभ्रष्ट कर सकती हैं, किन्तु उपभोग से जब वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, तो उससे स्वहित और परहित की उज्ज्वल संभावनाएँ निखर उठती हैं। वह इहलोक और परलोक की एषणाओं से ही नहीं, मोक्ष की आकांक्षा से भी मुक्त हो जाता है। बन्ध और मोक्ष की परिभाषा सभी अद्वैतवादी दार्शनिकों ने एक-सी की है। उनका कहना है कि चित्त की विशुद्धि से व्यक्ति इसी जन्म में मुक्त हो जाता है, उसका सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है, संकुचित विचार समाप्त हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी देश, जाति या धर्म का हो, इसी जन्म में एक अनोखे अन्तस्तोष की अनुभूति कर सकता है, यदि वह किसी को सताता नहीं और दुःखी मानवता को राहत पहुँचाने का भरसक प्रयत्न करता है। तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा का यही डिण्डिम-घोष है। दक्षिण भारत के शैव और वैष्णव सन्त, उत्तर भारत के सिद्ध और नाथ, कबीर, रैदास, दादूदयाल जैसे सन्त और नानक आदि गुरुओं की परम्परा तन्त्रशास्त्र के इसी दृष्टिकोण से अनुप्राणित हैं।

तान्त्रिक रहस्यवाद की मृगतृष्णा में न भटक कर हमें तन्त्रशास्त्र के इस सामाजिक परिवेश, परहित-कातरता और विश्वजनीन दृष्टिकोण को अपनाना चाहिये। तान्त्रिक रहस्यवाद ने भारत को बहुत भरमाया है। अपने को ऊँचा मानने वाले तबके को नीचे गिराने का काम इसी ने किया है और उन्हीं की करतूतों से तन्त्रशास्त्र का उज्ज्वल पक्ष तिरोहित हो गया है। सभी धर्मों को एक ही छतरी के नीचे इकट्ठा करने का रास्ता मात्र तन्त्रशास्त्र ही दिखा सकता है। दुनियाँ को जिस एकता की आवश्यकता है, तन्त्रशास्त्र ने उस पथ को एक हजार वर्ष पहले ही प्रशस्त कर दिया है। आवाप और उद्वाप, ग्रहण करना और छोड़ना भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। वह पुराने कालातीत विचारों को छोड़ती जाती है और नये उपादेय तत्त्वों को अपनाती रहती है, उनको अपने में समेटती चलती है। आगम और तन्त्रशास्त्र ने इस कार्य को पूरी तत्परता से पूरा किया है और आज भी हम उसका अनुसरण कर विश्व की पूरी मानवता को शान्ति का नया सन्देश सुना सकते हैं॥

●

तन्त्रालोक-उपोद्घात समीक्षा[1]

भारतीय विद्या सम्बन्धी ग्रन्थों की विश्वप्रसिद्ध प्रकाशन संस्था मोतीलाल बनारसीदास ने अभिनवगुप्त के सम्पूर्ण तन्त्रालोक को जयरथ की विवेक नामक टीका के साथ आठ जिल्दों में पुनः प्रकाशित किया है। इसके पहले भाग में उपोद्घात के अतिरिक्त कुछ परिशिष्ट भी दिये गये हैं और अन्तिम भाग में विवेकोद्धृत प्रमाणवाक्यानुक्रमणी तथा तन्त्रालोक की पद्यानुक्रमणी भी दी गई है। यहाँ औचित्य की दृष्टि से पद्यानुक्रमणी को पहले तथा प्रमाणवाक्यानुक्रमणी को बाद में स्थान मिलना चाहिये था। यह अच्छी बात है कि प्रमाणवाक्यानुक्रमणी में वचनों के आकर ग्रन्थों का स्थलनिर्देश करने का भी प्रयत्न किया गया है। उपोद्घात के लेखक ने भी माना है कि श्रीपूर्वशास्त्र मालिनीविजय-तन्त्र से अभिन्न है। इन वचनों का भी स्थाननिर्देश हो जाना चाहिये था। ऐसा करने से उनके इस मत की पुष्टि होती। यह भी ध्यान रखने की बात है कि न्या- सि. मु. (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) एक परवर्ती ग्रन्थ है। जयरथ द्वारा उद्धृत वचनों के लिये इसका उल्लेख उचित नहीं है।

२ से ७ तथा ८ वीं जिल्द में कश्मीर ग्रन्थमाला में १२ जिल्दों में प्रकाशित श्रीनगर संस्करण की फोटो स्टेट कापी छापी गई है। तन्त्रालोक और उसकी टीका विवेक के अब अनेक हस्तलेख उपलब्ध हैं और मुद्रित संस्करण में हमें अनेक त्रुटियाँ मिलती हैं। तन्त्रालोकविवेक (१.१८, ११.८८) के अनुसार सिद्धा, नामक और मालिनी—ये तीन तन्त्र प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के आधार-स्तम्भ हैं। इनमें नामक नाम संदिग्ध लगता है। इसी तरह से श्रीकण्ठीसंहिता को उद्धृत कर जयरथ ने चौसठ भैरवागमों की नामावली दी है, किन्तु यहाँ कुल ६२ ही नाम मिलते हैं। इस तरह की त्रुटियों का परिमार्जन उपलब्ध हस्तलेखों की सहायता से ही संभव हो सकता है। उपोद्घात के लेखक ने भी इसकी आवश्यकता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है, किन्तु इस तरह के कार्य की आशा किसी अनुसन्धान संस्थान से ही की जा सकती है, प्रकाशन संस्था से नहीं।

समालोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने तन्त्रालोक और उसकी व्याख्या का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया है और इस अध्ययन को आगे बढ़ाने की इच्छा

---

१. 'धीः' दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध-योजना की पत्रिका, सारनाथ, वाराणसी, अं० ८, सन् १९८९ में प्रकाशित ग्रन्थ-समीक्षा।

वाले व्यक्तियों की सहायता के लिये बड़े परिश्रम और समझदारी के साथ २० परिशिष्ट जोड़े हैं। इनमें से १७ परिशिष्ट तन्त्रालोक और उसकी विवेक-टीका से संबद्ध हैं तथा अन्तिम तीन परिशिष्ट प्रस्तुत उपोद्घात से। १७ वें परिशिष्ट में दी गयी विषयसूची का समावेश नूतन संस्करण के प्रत्येक भाग में भी किया गया है। ऊपर निर्दिष्ट पहली जिल्द में उपोद्घात के अतिरिक्त चार परिशिष्ट भी जोड़े गये हैं। अतः इस स्वतन्त्र ग्रन्थ का अपना महत्त्व है, यह अपने में परिपूर्ण है।

पहले, तेरह-ए और तेरह-बी परिशिष्टों में लेखक ने अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां भी जोड़ी हैं। इनमें लुप्तागमसंग्रह द्वितीय भाग के उपोद्घात की भी चर्चा आई है और उसमें आवश्यक संशोधनों का सुझाव दिया गया है। ये सुझाव स्वागत योग्य हैं, किन्तु २५५ पृ० की १३ वीं टिप्पणी में उपोद्घात के २०९ पृ० की तीसरी टिप्पणी के साथ पृ० २१ का भी उल्लेख होना चाहिये था। यहां ईशानशिव के विषय में कुछ नयी सूचनाएँ दी गई हैं। यह भी हमें स्मरण रखना है कि ईशानशिवगुरुदेवपद्धति चार भागों में प्रकाशित हुई थी और अब इसका फोटो-प्रिंट संस्करण हो चुका है।

लुप्ता० उपोद्घात के २१७-२१८ पृष्ठों पर (सार्ध)त्रिशतिकालोत्तर और मतङ्गपारमेश्वर इन दो ग्रन्थों के रामकण्ठ भट्ट कृत वृत्ति के साथ हुए पांडिचेरी संस्करणों की सूचना दी गई है। सार्धत्रिशतिकालोत्तर के उपोद्घात (पृ० ४८-६१) में प्रो० एन० आर० भट्ट ने कालोत्तरतन्त्र के १३ संस्करणों की चर्चा की है और परिशिष्ट में इनमें से कुछ के वचनों का संग्रह भी किया है। इटली (रोम) के डॉ० आर० तोरेला ने सार्धत्रिशतिकालोत्तर मूलमात्र का सम्पादन किया है। इस सूची में देवीकालोत्तर का भी नाम है, किन्तु उसकी श्लोक-संख्या २४ हजार बताई गई है। संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से तन्त्रसंग्रह द्वितीय भाग में प्रकाशित देवीकालोत्तर में मात्र ८४ श्लोक हैं और यह द्वैताद्वैतवादी वीरशैवों का ग्रन्थ है, द्वैतवादी सिद्धान्तशैवों का नहीं। इस प्रसंग में हमें यह भी स्मरण रखना है कि कालोत्तर और निश्वाससंहिता को बौद्ध तान्त्रिक पद्मवज्र ने अपनी गुह्यसिद्धि (८।१२) में स्मरण किया है। अतः उक्त प्रसंग का यह अभिप्राय निकालना कि कालोत्तर अथवा (सार्ध)त्रिशतिकालोत्तर मतंगपारमेश्वर का दूसरा नाम है, सही नहीं है। किन्तु यहाँ चकार के छूट जाने से ऐसी प्रतीति होने लगती है कि ये दोनों ग्रन्थ एक हैं, यद्यपि आगे 'अनयोः' पद दिया गया है।

तन्त्रालोकविवेक (१।१८) में उद्धृत श्रीकण्ठीसंहिता में चौंसठ भैरवागमों में से ६२ के ही नाम मिलते हैं, ६३ के नहीं, जैसा कि यहाँ पृ० ३२४ तथा अभिनवगुप्त०, पृ० १४१-१४३ में बताया गया है। भैरवाष्टक और यामलाष्टक में सात-सात ही नाम हैं। भैरवाष्टक में केवल भैरव कोई नाम नहीं हो सकता। स्वच्छन्द, चण्ड आदि आठ भैरव तन्त्रशास्त्र में अतिप्रसिद्ध हैं।

ऊपर की भैरवाष्टक-सूची में रुरु का नाम नहीं है, इसलिये लुप्ता० उपो० (पृ० ९४-१११) की सूची में उसका समावेश कर दिया गया है। प्रतिष्ठालक्षण-सारसमुच्चय[1] से भी इसकी पुष्टि होती है। उड्डीश, कुक्कुटाख्या और कुब्जिका— ये नाम श्रीकण्ठी की नामावली के न होकर सर्वोल्लासतन्त्र की नामावली के हैं। असावधानी से ये नाम श्रीकण्ठी की पांचवीं नामावली पर चढ़ गये हैं, जब कि इनको सर्वोल्लास की छठी नामावली में अंकित होना चाहिये था। इस त्रुटि की ओर ध्यान आकृष्ट कराने के लिये हम लेखक के आभारी हैं।

सोलहवें परिशिष्ट में जयरथ द्वारा उद्धृत उन वचनों की अकारादि क्रम से सूची दी गई है, जिनका स्थान निर्दिष्ट नहीं हो सका है। इसमें भगवद्गीता, कुछ प्रसिद्ध उपनिषत्, सांख्यकारिका, स्वच्छन्दतन्त्र, शिवदृष्टि, विज्ञानभैरव, मालिनीविजय (श्रीपूर्वशास्त्र), नित्याषोडशिकार्णव, किरण, कालोत्तर, मतंग, मृगेन्द्र आदि आगम ग्रन्थों के और सद्योज्योति शिवाचार्य के भी अनेक वचन हैं। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त लुप्तागमसंग्रह दो भाग, अष्टप्रकरण तथा अन्य मुद्रित ग्रन्थों की सहायता से इसमें से अनेक वचनों का स्थान-निर्देश किया जा सकता है। कुछ वचनों के बौद्ध तन्त्रों में मिलने की सम्भावना है।

अभिनवगुप्त का तन्त्रालोक और उस पर जयरथ की विवेक टीका तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोश है। इन पर विविध परिशिष्टों की रचना कर डॉ० रस्तोगी ने इनमें वर्णित सभी विषयों को सबके लिये सुलभ बना दिया है। स्वार्थ और परार्थ का यहाँ अद्भुत संगम हुआ है। इन्हीं की सहायता से लेखक इस ग्रन्थ पर अपना यह महत्त्वपूर्ण उपोद्घात प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ है और साथ ही सभी प्रकार के तन्त्रशास्त्र के जिज्ञासुओं और अनुसन्धाताओं के लिये भी अपनी रुचि के विषयों का चयन करने और उन पर विचार करने का दरवाजा खोल दिया है। इसके लिये लेखक बधाई का पात्र है।

---

१. स्वच्छन्दभैरवं चण्डं क्रोधमुन्मत्तभैरवम्। असिताङ्गं रुरुं चैव कपालीशं समुच्चयम् ॥" (२.११६)। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ अष्टभैरवों के नामों में कुछ भिन्नता है।

इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। पहले अध्याय में तन्त्रालोक, दूसरे में अभिनवगुप्त और तीसरे अध्याय में व्याख्याकार जयरथ के विषय में विशद विचार प्रस्तुत किये गये हैं। चौथे अध्याय में तन्त्रालोक और विवेक-व्याख्या के मुद्रित संस्करण की त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है और अन्तिम पाँचवें अध्याय में लेखक ने भावी अनुसन्धाताओं के संमुख कुछ समस्याएँ प्रस्तुत की हैं।

प्राक्कथन में लेखक ने उपोद्घात लिखते समय आई बाधाओं का उल्लेख किया है और तन्त्रालोक के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन व्यक्तियों और कृतियों का उल्लेख किया है, जिनका उपयोग उपोद्घात की रचना में किया गया। लेखक इसमें एक अध्याय और बढ़ाना चाहता था, किन्तु वह संभव न हो सका। स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में तन्त्रालोक के आधारभूत ग्रन्थों का परिचय देने की बात लेखक ने कही है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसमें केवल आगम ग्रन्थों का ही नहीं, पूरी आधार-सामग्री का परिचय दिया जा सके, तो यह महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। हम आशा करते हैं कि यह उपयोगी निबन्ध शीघ्र विद्वानों के समक्ष आ सकेगा। 'क्रम तान्त्रिसिज्म' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रस्तोता तथा अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों और निबन्धों के रचयिता डॉ० नवजीवन रस्तोगी से आगम और तन्त्रशास्त्र के अध्येताओं को बहुत कुछ आशा और भरोसा है।

हमारी दृष्टि में यहाँ कुछ परिवर्तन अथवा परिवर्धन अपेक्षित हैं। यहाँ हम उनका संक्षेप में उल्लेख करना चाहते हैं—

१. "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ० ८४-८७) में हमने ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग स्थिर किया है। यहाँ (पृ० १) इनका समय १२ वीं शताब्दी बताया गया है। उपोद्घातकार ने इस विषय पर विशद चर्चा "क्रम तान्त्रिसिज्म" (पृ० २००-२०८) में की है। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये अभी इस विषय पर और विचार होना चाहिये।

२. तन्त्रालोक को श्लोकवार्त्तिक अथवा वार्त्तिक भी कहा जा सकता है, किन्तु चकार का प्रयोग होने से उसको अलग मानना ही उचित है। श्लोक-वार्त्तिक पद से मालिनीविजयवार्त्तिक का ग्रहण करना अधिक संगत है। उद्धृत वचनों के आधार पर ही किसी निश्चय पर पहुँचा जा सकता है।

३. तन्त्रावलोक यह नाम संस्करण की अशुद्धि के कारण पैदा हुआ है। यह नाम त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड की श्रीनिवासबुध रचित टीका में नहीं,

योगिनीहृदय की दीपिका टीका के दूसरे संस्करण में मिलता है। इस ग्रन्थ के सभी हस्तलेखों में 'तन्त्रान्तर' पाठ है। यही पाठ उचित भी है, क्योंकि यह श्लोक तन्त्रशास्त्र के किसी ग्रन्थ का न होकर मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि (२.२) का है।

४. हम देखते हैं कि रुद्रयामल, ब्रह्मयामल आदि में तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में प्रकाशित विषयों का संकलन हुआ है। देव्यायामल की भी यही स्थिति होनी चाहिये। ईशानशिव ने इसकी व्याख्या की है और हम जानते हैं कि शिव और शम्भु नामान्त आचार्य प्रधानतः द्वैतवादी सिद्धान्त शैव आगमों का अनुसरण करते हैं। अतः देव्यायामल को क्रमसम्प्रदाय का ग्रन्थ मानना अभी जल्दबाजी होगी। द्वैतवादी पद्धतिकार वैरोचन के ग्रन्थ प्रतिष्ठालक्षण-सारसमुच्चय में यह अनेक बार उद्धृत है।

५. भारत में पद्धति-ग्रन्थ लिखने की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। श्रौतसूत्र आदि के आधार पर दर्शपूर्णमास आदि यागों के अनुष्ठान की प्रक्रिया को व्यूहबद्ध करने के लिये अनेक पद्धतियाँ लिखी गईं। द्वैतवादी सिद्धान्तशैवों में १८ पद्धतिकार प्रसिद्ध हैं[२]। उनमें से एक की चर्चा ऊपर की गई है। उसी क्रम में तन्त्रालोक को भी एक विशाल पद्धति-ग्रन्थ माना जा सकता है। इस ग्रन्थ के विभिन्न आह्निकों में क्रम, कुल, वाम, दक्षिण, त्रिक आदि की पूजाविधियों को पद्धतिबद्ध किया गया है। अतः इसको प्रक्रिया-ग्रन्थ कहने की अपेक्षा पद्धति-ग्रन्थ कहना ही उचित है। इसमें विभिन्न आगमों में प्रतिपादित पूजाविधियों को व्यवस्थित रूप दिया गया है। इस दृष्टि से नाथ सम्प्रदाय की सिद्धसिद्धान्तपद्धति को इस कोटि के ग्रन्थों में नहीं रखा जा सकता।

६. तन्त्रप्रक्रिया और कुलप्रक्रिया शब्दों का यहाँ अनेक स्थलों पर जिन अर्थों में प्रयोग हुआ है, उसको जयरथ के इस वचन से भी समर्थन मिलता

---

१. डॉ० ए० सांडर्सन (शैविज्म एण्ड दी तान्त्रिक ट्रेडीशन, पृ० २३) इसको त्रिक सम्प्रदाय का ग्रन्थ मानते हैं। हमारे मत से न यह त्रिक सम्प्रदाय का ग्रन्थ है और न क्रम सम्प्रदाय का ही। (लुसा० उपो०, पृ० ४१-४२) देखिये।

२. उग्रोत्तरज्योतिरथोपसद्यः श्रीरामकण्ठोऽपि च वैद्यकण्ठः।
नारायणश्चापि विभूतिकण्ठः श्रीनीलकण्ठोऽपि च सोमशम्भुः॥
ईशानशम्भुर्हृदयादिना स्याद् विरञ्चिवैराग्यकयुग्मवाच्यौ।
ज्ञानस्त्रिणेत्रो वरुणेश्वरौ ज्ञावित्यादयस्ते स्युरघोरशम्भुः॥ (शैवभूषणे)

है—"तन्त्रप्रक्रियोपासन्नगुर्वभिमुखीकरणानन्तरं विश्रान्तिस्थानतया कुलप्रक्रियागुरुमप्युत्कर्षयति" (भा० १, पृ० ३१), किन्तु प्रत्यभिज्ञाहृदय के आठवें सूत्र की व्याख्या में क्षेमराज ने—"विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः, विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः, विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविदः" इस तरह से तन्त्र, कुल और त्रिक को अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित किया है। स्वच्छन्दतन्त्र (११।१८४-१८३) तथा शतरत्नसंग्रह (पृ० ८-९) में शास्त्रों के लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मन्त्र-तन्त्र नामक पाँच भेद किये हैं। शतरत्नसंग्रहकार ने कामिकागम, सोमसिद्धान्त आदि के प्रमाण पर इनमें से प्रत्येक के पुनः पाँच-पाँच भेद किये हैं और बताया है कि इनका स्वरूप सर्वात्मशम्भु-कृत सिद्धान्तदीपिका में देखना चाहिये। लौकिक आदि अतिमार्ग पर्यन्त शास्त्रों के भेदों का तो यहाँ उल्लेख नहीं है, किन्तु कामिकागम के प्रमाण पर शिव के पाँच मुखों से विनिर्गत तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्त, गारुड, वाम, भूत और भैरव नामक पाँच भेदों की सूचना हमें मिलती है। [1]अतिमार्ग शब्द का प्रयोग यहाँ पूरी कुलप्रक्रिया के लिये हुआ प्रतीत होता है। केवल त्रिपुरा या क्रम सम्प्रदाय तक ही सीमित न रह कर यह शब्द उन सभी सम्प्रदायों को समेटता है, जो सामान्य लौकिक प्रक्रियाओं से ऊपर उठ कर कुलप्रक्रिया का अनुसरण करते हैं। "येन येन निबध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा। सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात्॥" (५।२७) जयरथ द्वारा उद्धृत यह वचन पाठभेद के साथ [2]बौद्ध वज्रयानी तन्त्रों में भी मिलता है। सहजयान सरीखी अनुपाय प्रक्रिया के प्रतिपादक प्रत्यभिज्ञा अथवा त्रिक सम्प्रदाय की स्थिति क्षेमराज के उक्त वचन के अनुसार भी तन्त्रप्रक्रिया और कुलप्रक्रिया से भिन्न ही माननी पड़ेगी। इस विषय पर हम आगे पुनः विचार करेंगे।

---

१. डॉ० ए० सांडर्सन उपर्युक्त ग्रन्थ (पृ० ७) में पाशुपत और लकुलीश पाशुपत मत की अतिमार्ग में गणना करते हैं। सम्भवतः उनका यह वर्णन निःश्वाससंहिता पर आधारित है। अतिमार्ग और मन्त्रमार्ग की यहाँ दी गई परिभाषा अधूरी लगती है। श्रीकण्ठ-प्रवर्तित प्राचीन पाशुपत मत की गणना अतिमार्ग के अन्तगत नहीं की जा सकती। शिवपुराण वायवीयसंहिता (१।३२।११-१२) में शैवागम के श्रौत और स्वतन्त्र नामक दो भेद किये हैं। वहाँ पाशुपत मत को श्रौत तथा कामिक आदि शैवागमों को स्वतन्त्र माना गया है।

२. द्रष्टव्य—हेवज्रतन्त्र, (२।२।५०), गुह्यसिद्धि (६।८६), अद्वयसिद्धि (श्लो० ७)।

७. तन्त्रालोक के ३६।१२ और ३९।६०-६१ को एक साथ देखने से आमर्दक और आनन्द की अभिन्नता अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु हमें ऐसे सभी स्थलों पर अन्य प्रमाणों से भी उनकी उक्ति की परीक्षा करनी होगी। आमर्दक तपोवन से द्वैतवादी परम्परा का प्रसार हुआ है। हमें पहिले यह निश्चित करना होगा कि यह किसी आचार्य का नाम है अथवा स्थानविशेष या मठ-विशेष का। कुछ विद्वान् वर्तमान ग्वालियर के आस-पास इस नाम के मठ की स्थिति मानते हैं, तो अन्य विद्वान् आधुनिक उज्जैन को ही आमर्दक कहते हैं[1]। हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि आमर्दक नाम मठ का तथा आनन्द नाम उस मठ के प्रथम आचार्य का हो।

८. अभिनवगुप्त द्वारा दी गई नामावली में सब उनके साक्षात् गुरु हों, यह जरूरी नहीं है। सोमानन्द और उत्पल उनके साक्षात् गुरु नहीं थे। इसी तरह से ३७ वें आह्निक के ६२ वें श्लोक में अभिनवगुप्त ने अपने समय के प्रसिद्ध आचार्यों का उल्लेख किया है। सम्भव है इनमें से कुछ की उनके समय में स्थिति न हो। मतंगशास्त्र के व्याख्याता अनिरुद्ध को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। प्रस्तुत उद्धरणों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि अनिरुद्ध से उन्होंने साक्षात् अध्ययन किया अथवा उनकी टीका के आधार पर वे उनको गुरु मानते हैं। अनेक स्थानों पर अभिनवगुप्त बृहस्पतिपाद जैसे प्राचीन आचार्यों को आदर के साथ गुरु कह कर सम्बोधित करते हैं।

९. मुद्रित मालिनीविजयवार्त्तिक मालिनीविजय के केवल पहले श्लोक की व्याख्या है। इनमें जयरथ द्वारा पंचिका के नाम से उद्धृत (२३।७५) दो श्लोक उपलब्ध नहीं होते। इसी तरह से अभिनवगुप्त के मुद्रित तन्त्रसार में २३ प्रकार की नैमित्तिक विधियों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है। अतः पंचिका अथवा पूर्वपंचिका के और तन्त्रसार के विषय में डॉ० रस्तोगी के निष्कर्ष से हम सहमत हैं।

१०. शतरुद्र भुवनों की स्थिति पृथिवी तत्त्व में मानी जाती है। पृथिवी तत्त्व की कला निवृत्ति है, प्रतिष्ठा नहीं। भूतिराज ने भी शतरुद्रों के प्रसंग में निवृत्ति कला का ही उल्लेख किया है।

११. जयरथ (१।२१३) सुमति को अतिमार्ग का विशिष्ट आचार्य मानते हैं। उन्होंने जालन्धर पीठ के शम्भुनाथ को इनका शिष्य बताया है। साथ

---

१. द्रष्टव्य—ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, भा० २ की प्रस्तावना, पृ० १-२ एवं प्राच्यविद्या निबन्धावली (म० म० वासुदेव मिराशी), पृ० १७५.

ही वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि सुमति के सोमदेव और सोमदेव के शम्भुनाथ शिष्य हैं। सुमति का निवासस्थान उक्त स्थल पर दक्षिणभूमि-पीठ माना गया है। वज्रयान की उत्पत्ति और प्रवृत्ति प्रथमतः दक्षिण में मानी जाती है। अतिमार्ग या कौलमार्ग की साधनापद्धति वज्रयान से मिलती-जुलती है। संभव है सुमति भी दक्षिण के ही हों। उनसे अथवा उनके शिष्य सोमदेव से अतिमार्ग की दीक्षा प्राप्त कर शम्भुनाथ ने जालन्धर पीठ को अपनी साधना-स्थली बनाया हो। इसकी दूसरी व्याख्या समालोच्य ग्रन्थ के लेखक ने प्रस्तुत की है। एक तीसरा पक्ष भी हो सकता है। श्रीयन्त्र के आद्य त्रिकोण की दक्षिण रेखा में जालन्धर पीठ और उसकी अधिष्ठात्री देवी वज्रेश्वरी का स्थान है। वज्रेश्वरी देवी का मन्दिर हिमांचलप्रदेश-स्थित कांगड़ा घाटी में है, पंजाब के जालन्धर शहर में नहीं। सम्भव है दक्षिणभूमि-स्थित पीठ से इसी स्थान की ओर इंगित किया गया हो और सुमति, सोमनाथ, शम्भुनाथ आदि आचार्यों की साधना-स्थली यही हो। शम्भुनाथ कुलसम्प्रदाय के अनुयायी हैं, अतः त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उनका नाम उद्धृत हो, यह कोई आवश्यक नहीं है।

१२. मन्त्र का पुरश्चरण करते समय जितनी संख्या में मन्त्र का जप किया जाता है, उसका दशांश होम, होम का दशांश तर्पण, तर्पण का दशांश मार्जन और मार्जन का दशांश ब्राह्मण-भोजन कराया जाता है। तन्त्रालोक (२९।९५) के अनुसार शम्भुनाथ ने होम की दस विधाओं का उल्लेख न कर यहाँ यह बताया है कि मन्त्र के जप के बाद दशांश होम क्यों करना चाहिये।

१३. आधुनिक शब्दकोशों और ग्रन्थों में आगम और निगम शब्द की जो [1]परिभाषाएँ मिलती हैं, वे बहुत प्राचीन नहीं हैं। अतः उनके आधार पर अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत आगमों में आगम और निगम का भेद दिखाना उचित नहीं है। यह सही है कि निगम की परिभाषा से क्रमागमों की प्रकृति मिलती-जुलती है।

१४. शीधु, सुरा, मैरेय, वारुणी, मदिरा, कादम्बरी आदि का भेद आयुर्वेद के ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है। अतः केवल जयरथ को इसके विवरण प्रस्तुत करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता।

---

१. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजानने। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥ निर्गतं गिरिजावक्त्राद् गतं च गिरिशश्रुतौ। मतं च वासुदेवस्य तस्मान्निगम-मुच्यते॥ लुप्तो० उपो०, पृ० २८-२९ की टिप्पणी भी देखिये।

१५. भगवान् बुद्ध की यह उक्ति प्रसिद्ध है—"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्"। अभिनवगुप्त और जयरथ के विषय में भी हम इसे लागू कर सकते हैं। तन्त्रालोकविवेककार के अर्धपीठ-विषयक मत की समालोचना हम नित्या० उपो० (पृ० ७९) में कर चुके हैं। तदनुसार यहाँ तन्त्रालोक प्रतिपादित पक्ष ही ठीक है। जयरथ की तीनों आपत्तियों का वहाँ समाधान कर दिया गया है[1]। इसी तरह से अभिनवगुप्त मालिनीविजय के प्रमाण से मन की राजस अहंकार से उत्पत्ति मानते हैं—"श्रीपूर्वशास्त्रे तु मनो राजसात्, सात्त्विकात् पुनः। इन्द्रियाणि समस्तानि, युक्तं चैतद् विभाति नः॥" (९।२७६-२७७)। यहाँ वे खेटपाल (सद्योज्योति) के मत की समालोचना कर रहे हैं और अपने मत के समर्थन में श्रीपूर्वशास्त्र (मालिनीविजयतन्त्र) का उल्लेख करते हैं। मालिनीविजय में यह प्रसंग इस प्रकार है—

तत् त्रिधा तैजसात् तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत।
वैकारिकात् ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात्॥ (१।३१)

यहाँ तैजस अहंकार से मन की और वैकृत अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति बताई गई है। अभिनवगुप्त ने सांख्यकारिका के मत से प्रभावित होकर उक्त बात कही है। शैवागमों में तैजस[2] शब्द का सात्त्विक गुण के लिये तथा वैकृत का राजस के लिये प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत सांख्यकारिका में तैजस से राजस और वैकृत से सात्त्विक अर्थ लिया गया है। मालिनीविजय में पहले तैजस और बाद में वैकृत शब्द प्रयुक्त है। स्पष्ट है कि मालिनीविजय में शैवागमों का ही अनुसरण किया गया है। तदनुसार यहाँ मन की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से मानी गयी है। इस तरह से अभिनवगुप्त का मालिनीविजय को प्रमाण मान कर किया गया खेटपाल के मत का खण्डन उचित नहीं है।

१६. तन्त्रशास्त्र में पुरुष-देवताओं के मनुओं को मन्त्र तथा सभी स्त्री-देवताओं के मनुओं को विद्या कहा जाता है। तन्त्रालोक में भी विद्या शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ हैं। ब्रह्मविद्या का अभिप्राय उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद्या से न होकर तन्त्रशास्त्र-वर्णित स्त्री-देवताओं के रहस्यात्मक मन्त्रों से है। तीसवें आह्निक के प्रारम्भ में पहले पुरुष-देवताओं के मन्त्रों का तथा बाद में स्त्री-देवता वाली ब्रह्मविद्याओं का रहस्यात्मक पद्धति से निरूपण किया

---

१. नित्या० उपो०, पृ० ७९ की पहली टिप्पणी देखिये।

२. योगिनीहृदयदीपिका, पृ० १८८ को पहली टिप्पणी तथा अष्टप्रकरण उपोद्घात, पृ० ३७-३८ द्रष्टव्य।

गया है। इन मन्त्रों और विद्याओं का उद्धार जयरथ ने बड़ी निपुणता और प्रमाणों के साथ किया है। जयरथ ने भी विद्या और मन्त्र की यही परिभाषा दी है—"शक्तिप्रधानां विद्यां शिवप्रधानं कूटं मन्त्रं वा" (२९।१६८)।

१७. हमने पहले बताया है कि श्रीकण्ठीसंहिता में ६४ भैरवागमों में से ६२ के ही नाम मिलते हैं। उनमें से भैरवाष्टक नामावली के रुरु नाम की पूर्ति तो प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय से हो जाती है, किन्तु यामलाष्टक के छूटे नाम की पूर्ति में यह ग्रन्थ सहायक नहीं हो पाता। दुर्भाग्य से इसमें ६४ में से केवल ३२ भैरवागमों के ही नाम मिलते हैं[1]। उनमें यामलाष्टकों के नाम नहीं है। अन्य भी बहुत से नाम श्रीकण्ठी की नामावली से एकदम भिन्न हैं।

१८. तन्त्रप्रक्रिया और कुलप्रक्रिया के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। इन शब्दों के आधार पर तन्त्रालोक शब्द में आये तन्त्र शब्द के अर्थ के विषय में संशय में नहीं पड़ जाना चाहिये। यह शब्द यहां आगम और तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं का बोध कराता है। सिद्धान्त, दक्ष, वाम, पाशुपत, कुल, क्रम, त्रिक आदि सभी शैवागम अथवा तन्त्रों की पद्धतियाँ यहाँ संगृहीत हैं। अतः तन्त्रप्रक्रिया और कुलप्रक्रिया की व्याख्या हमें ब्राह्मणवशिष्ठन्याय से करनी चाहिये। कुलप्रक्रिया भी तन्त्रप्रक्रिया के अन्तर्गत ही है, किन्तु कुलप्रक्रिया की विशिष्टता को बताने के लिये यहाँ उसका अलग से निर्देश किया गया है। तन्त्रालोक के छठे और सातवें आह्निक में क्रमशः काल और चक्र की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। बौद्ध तन्त्रों में विमलप्रभा टीका के साथ (लघु)कालचक्रतन्त्र उपलब्ध है। आलोकमाला के कुछ वचन स्पन्दप्रदीपिका, स्पन्दनिर्णय, विज्ञानभैरवटीका आदि में मिलते हैं। यह ग्रन्थ अब रोमन लिपि में [2]प्रकाशित हो गया है। यह आचार्य कम्बलपाद की कृति है। इसमें उक्त वचन ही नहीं, जयरथ द्वारा उद्धृत अन्य [3]वचन भी मिल जाते हैं। वामनदत्त रचित

---

१ प्रतिष्ठालक्षण० (२।११६-१२०) द्रष्टव्य।

२. इंडिस्के स्टडीअर, भा. ५, मिसलीनिया बुद्धिका में डॉ० सी० लिंडनर द्वारा सम्पादित तथा कोपेनहेगेन से सन् १९८५ में प्रकाशित।

३. जयरथ द्वारा उद्धृत "परमार्थविकल्पेऽपि" (१।५७, ३।७) तथा "रागादिमलिनं चित्तम्" (१।६४) इत्यादि वचन क्रमशः आलोकमाला का छठा तथा चौथा श्लोक है।

संवित्प्रकाश भी उपलब्ध हो चुका है[1]। वैष्णव परमार्थसार (आधारकारिका) की पद्धति का यह वैष्णव ग्रन्थ है। उत्पल वैष्णव ने और तन्त्रालोककार ने भी इसके अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः हम तन्त्रालोक और उसकी विवेक-व्याख्या को आगम अथवा तन्त्रशास्त्र का विश्वकोश कह सकते हैं। उसमें तन्त्र अथवा आगमशास्त्र की ऊपर चर्चित सभी शाखाओं पर संक्षेप अथवा विस्तार से विचार किया गया है। अतः तन्त्रालोक नाम में प्रयुक्त तन्त्र शब्द तन्त्रप्रक्रिया और कुलप्रक्रिया के साथ ही बौद्ध और वैष्णव तन्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों को भी समेटने वाला है।

इस उत्कृष्ट, नये विचारों के वाहक ग्रन्थ को लिखने और छापने के लिये लेखक और प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

•

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

(मनु० २।१६२)

---

१. डॉ० मार्क डिच्कोफस्की इस ग्रन्थ को प्रकाशित करा चुके हैं। "अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते। यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते॥" (१।१३) यह प्रसिद्ध श्लोक वहीं का है।

इतिहास-साहित्य

- सरस्वती भवन का एक अलभ्य ग्रन्थ
- प्रख्यात वेदभाष्यकार महीधर
- सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य और उनका ग्रन्थालय
- काशी का एक महान् यात्री
- गैरिकसूत्र और उसके रचयिता गंगाराम जड़ी
- काशी की वैदिक मण्डली का शाखा-स्वाध्याय
- बौद्ध ग्रन्थ-सम्पत्ति
- काशी का गुजराती समाज
- प्राच्य विद्या परिषद् का गोहाटी अधिवेशन
- तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि : प्रतिसमालोचना

सरस्वती भवन का एक अलभ्य ग्रन्थ

ऋग्वेद के अनेक भाष्य उपलब्ध हो चुके हैं। उनमें से कुछ प्रकाशित हो गये हैं, कुछ विभिन्न स्थानों के हस्तलिखित ग्रन्थागारों में सुरक्षित हैं। कई भाष्यों के हस्तलेख तो नहीं मिलते, परन्तु प्रसंगवश वैदिक साहित्य में उनका जिक्र आया हुआ है। आज हम इन सबसे भिन्न एक भाष्य का परिचय पाठकों को देते हैं, जो काशी की उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थित एक ऐतिहासिक पुस्तकालय में सुरक्षित है। काशीवासी इस पुस्तकालय से सुपरिचित हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों के लिये संसार-प्रसिद्ध इने-गिने पुस्तकालयों में इसकी गिनती होती है। इस पुस्तकालय का नाम सरस्वती भवन है। काशी के जगतगंज मुहल्ले में स्थित गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज का यह पुस्तकालय है। इस पुस्तकालय की नई इमारत तो अभी हाल की बनी हुई है। किन्तु कालेज की भव्य इमारत में इस पुस्तकालय की स्थापना आज से १०० वर्ष पहले ही हो चुकी थी।

इस पुस्तकालय के तत्कालीन उपाध्यक्ष म० म० पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते सन् १९३० में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में रीवां गये हुए थे। उस समय उनको इस अपूर्व ग्रन्थ का हस्तलेख प्राप्त हुआ था। वह भट्ट गोविन्द द्वारा रचित 'श्रुतिविकास' नाम का भाष्य है। यह भाष्य अभी तक अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है। वैदिक साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों मे इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

ऋग्वेद दो प्रकार से विभक्त है। एक मण्डल-विभाग और दूसरा अष्टक-विभाग। पहले विभाग में ऋग्वेद दस मण्डलों में विभक्त है। इसीलिये ऋग्वेद संहिता को 'दाशतयी' भी कहते हैं। प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त हैं तथा सूक्तों में ऋचाएँ। दूसरे विभाग में ऋग्वेद आठ अष्टकों में विभक्त है। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। इस प्रकार ६४ अध्यायों में पूरा ऋग्वेद विभक्त है। इन अध्यायों में भी वर्ग नाम का अवान्तर विभाग है। इसी अष्टक विभाग को आधारित कर प्रस्तुत भाष्य की रचना हुई है।

भट्ट गोविन्द ने पूरे ऋग्वेद पर अपना भाष्य किया होगा, किन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता हैं कि प्रस्तुत हस्तलेख केवल अन्तिम अष्टक का ही है, अर्थात् केवल ५७ वें अध्याय से लेकर ६४ वें अध्याय तक का भाष्य ही इसमें है। पूरे हस्तलेख में ५९ पत्र हैं। इनमें से भी बीच के तीन पत्र प्राप्त नहीं हुए। इस कारण ६० वें अध्याय के सातवें वर्ग से लेकर बाईसवें वर्ग

तक का तथा ६२ वें अध्याय के तेरहवें वर्ग से लेकर सोलहवें वर्ग तक का यह भाष्य त्रुटित हो गया है।

इस हस्तलेख को आनन्दपुर के निवासी द्विवेद धारिग ने १३६७ संवत् में पूरा किया था। इस प्रकार यह हस्तलेख पर्याप्त प्राचीन है—

श्रीमद्विक्रमकालस्य संवत्सरशतेष्विह।
त्रयोदशसु यातेषु सप्तषष्ट्यधिकेषु च॥
मार्गे मासि सिते पक्षे एकादश्यां गुरोर्दिने।
द्विवेदधारिगेनेदमलेख्यृग्भाष्यपुस्तकम्॥

श्रीमदानन्दपुरवास्तव्येन द्वि०धारिगेन इदमृग्भाष्यपुस्तकमलेखि।

वेदभाष्यकारों में सायणाचार्य सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनका समय इतिहासकारों ने संवत् १३७२-१४४४ माना है। सायणाचार्य के जन्म के पूर्व ही भट्ट गोविन्द के भाष्य का हस्तलेख तैयार हो चुका था। अतः भट्ट गोविन्द का समय सायणाचार्य से पर्याप्त प्राचीन होना चाहिये।

धाराधिपति भोज से लेकर सायणाचार्य के पूर्व तक तत्कालीन साहित्य में तीन स्थान पर गोविन्द का उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम महाराज भोज के एक दानपत्र में भट्ट गोविन्द का उल्लेख है, जो कि संवत् १०७८ में भट्ट गोविन्द के पुत्र धनपति भट्ट को दिया गया था—

"ब्राह्मणधनपतिभट्टाय भट्टगोविन्दसुताय बह्वृचाश्वलायनशाखाय विप्रवराय वेल्लवल्लप्रतिबद्धश्रीवादविनिर्गतधरासुरसङ्ककर्णाटाय......संवत् १०७८ चैत्रसुदि चतुर्दशी ... स्वहस्तोऽयं श्रीभोजदेवस्य"।

इसी भोज के शासनकाल में उव्वट ने उज्जयिनी में रहकर अपने माध्यन्दिनसंहिता के भाष्य की रचना की थी। उव्वट के पिता आनन्दपुर (गुजरात) के रहने वाले थे, यद्यपि वास्तव में वे कश्मीरी थे। भट्ट गोविन्द के भाष्य के प्रस्तुत हस्तलेख का लेखक द्विवेद धारिग भी आनन्दपुर का ही रहने वाला है। क्या यह परम्परा श्रुतिविकासकार भट्ट गोविन्द का भोजकालीन भट्ट गोविन्द से, जिसको कि भोज का [1]राजगुरु भी बताया गया है, कोई सम्बन्ध स्थापित कर सकती है?

दक्षिणापथ के चोल जनपद में कावेरी नदी के दक्षिण तट (आधुनिक तंजोर और त्रिचनापल्ली के आसपास का प्रदेश) के निवासी वेङ्कटमाधव ने पूरे ऋग्वेद पर अपने भाष्य की रचना की है। एक स्थान पर इन्होंने अपने

१. देखिये सरस्वतीकण्ठाभरण-भूमिका, पृ० १८३ निर्णयसागर प्रेस द्वितीय संस्करण।

पुत्र का नाम गोविन्द दिया है। इसी प्रकार ऋक्सर्वानुक्रमणी पर वेदार्थ-दीपिका नाम की टीका लिखने वाले षड्गुरुशिष्य के ६ गुरुओं में एक गोविन्द हैं। वेङ्कटमाधव के पुत्र गोविन्द का और षड्गुरुशिष्य के गुरु गोविन्द का समय प्रायः एक ही माना गया है, जो कि संवत् ११७५-१२२५ के बीच पड़ता है। श्रुतिविकासकार भट्ट गोविन्द इन्हीं में से कोई एक है या अन्य, निश्चित प्रमाणों के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता।

भट्ट गोविन्द के सम्पूर्ण भाष्य की उपलब्धि के लिये प्रयत्न होना चाहिये।

---

१. दैनिक आज, १९ जुलाई, सन् १९५१ में प्रकाशित।

प्रख्यात वेदभाष्यकार महीधर

भोलेनाथ की इस निराली नगरी को अनेक विद्वानों तथा महात्माओं को आश्रय तथा जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त रहा है। अपनी अनिर्वचनीय विशेषताओं से यह दूर-दूर के विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र रही है। शंकर, रामानुज आदि आचार्य यहीं आकर अपने मत का प्रचार-प्रसार तथा शान्तिलाभ कर सके हैं। इसी परम्परा में आज से लगभग ४०० वर्ष पहले सौराष्ट्र प्रदेश के आनर्त जनपद के अहिच्छत्र नामक ग्राम के निवासी भट्ट महीधर इस असार संसार से विरक्त होकर यहाँ चले आये थे। भगवान् नृसिंह की उपासना के साथ-साथ वह वेद, तन्त्र तथा भक्ति-साहित्य का गम्भीर अध्ययन करने लगे और थोड़े ही दिनों में वह काशी में इन विषयों के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् गिने जाने लगे। उन्होंने अपने कल्याण नाम के पुत्र तथा अन्य विद्वानों के आग्रह से 'मन्त्रमहोदधि' नाम के तन्त्रशास्त्र के उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की और साथ ही इस ग्रन्थ की नौका[1] नामक टीका का भी निर्माण किया। मन्त्रमहोदधि की समाप्ति में ग्रन्थकार स्वयं अपना परिचय इस प्रकार देते हैं—

अहिच्छत्रद्विजच्छत्रो वत्सगोत्रसमुद्भवः।
आसीद् रत्नाकरो नाम विद्वान् ख्यातो धरातले॥

तत्तनूजो रामभक्तः फनूभट्टाभिधोऽभवत् ।
महीधरस्तदुत्पन्नः संसारासारतां विदन् ॥
निजदेशं परित्यज्य गतो वाराणसीं पुरीम् ।
सेवमानो नरहरिं तन्त्रग्रन्थमिमं व्यधात् ॥
कल्याणाभिधपुत्रेण तथान्यैर्द्विजसत्तमैः ।
संप्रार्थितः स्वमत्यासौ नाम्ना मन्त्रमहोदधिम् ॥

स्कन्दपुराण के नागरखण्ड से तथा जातिभास्कर के नागरब्राह्मणोत्पत्ति प्रकरण से मालूम होता है कि सौराष्ट्र के आनर्त जनपद में जो द्वारिकापुरी के समीप का प्रदेश है—अहिच्छत्र नामक एक ग्राम था। इसी ग्राम से सम्बद्ध एक कथा से पिशुनहर नागरों की उत्पत्ति बताई गई है। पिशुनहर शब्द का विकृत रूप अब प्रश्नोरा हो गया है। इन प्रमाणों के आधार पर ऊपर उद्धृत श्लोकों से यह निष्कर्ष निकलता है—

प्रश्नोरा ब्राह्मणों में वत्सगोत्री रत्नाकर नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् हो चुके हैं। उनके फनूभट्ट नाम के पुत्र हुए, जो कि राम के अनन्य भक्त थे। फनूभट्ट से महीधर उत्पन्न हुए। महीधर ने संसार की असारता को देखकर अपने देश को छोड़ दिया और काशी चले आये। यहाँ नृसिंह भगवान् की सेवा करते हुए अपने कल्याण नाम के पुत्र के तथा अन्य ब्राह्मणों के आग्रह से मन्त्रमहोदधि नामक तन्त्र-ग्रन्थ की रचना की।

महीधर ने मन्त्रमहोदधि की समाप्ति में ग्रन्थ का निर्माणकाल भी दिया है—

अब्दे विक्रमतो जाते बाणवेदनृपैर्मिते ।
ज्येष्ठाष्टम्यां शिवस्याग्रे पूर्णो मन्त्रमहोदधिः ॥

इसी ग्रन्थ की स्वनिर्मित नौका टीका में ग्रन्थकार ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—

"पञ्चचत्वारिंशदुत्तरषोडशशततमे विक्रमनृपाद् गते सति"

अर्थात् विक्रम संवत् १६४५ के ज्येष्ठ मास की अष्टमी के दिन यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मन्त्रमहोदधिकार महीधर प्रश्नोरा नागर ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम रत्नाकर और पिता का नाम फनूभट्ट था। इनके कल्याण नाम का पुत्र था और ये विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में काशी में विद्यमान थे। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् आफ्रेख्ट ने अपने 'कैटलागस कैटलागरम्' नाम के बृहद् ग्रन्थ में महीधर के १७ ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। महीधर के गुरु का नाम

केशवसुत रत्नेश्वर दिया है। पिता का नाम फनूभट्ट न देकर रामभक्त दिया है। मालूम होता है कि उन्होंने ऊपर उद्धृत श्लोक में फनूभट्ट के विशेषण रामभक्त को ही विशेष्य मान लिया है। महीधर के सम्बन्ध में आफ्रेख्ट की अन्य सूचनाएँ मन्त्रमहोदधि से मिलती-जुलती हैं।

आफ्रेख्ट ने महीधर के जिन १७ ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनमें एक शुक्ल यजुर्वेद का 'वेददीप' नामक भाष्य भी है। इस ग्रन्थ के रचयिता महीधर के सम्बन्ध में तथा उनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों में वैमत्य है। कुछ विद्वान् मन्त्रमहोदधिकार तान्त्रिक महीधर से वेदभाष्यकार महीधर को भिन्न मानते हैं।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने 'निरुक्तालोचन' में और डाक्टर लक्ष्मण-स्वरूप ने 'इण्डेक्सेज एण्ड अपेण्डिक्सेज आफ दि निरुक्त' नामक पुस्तक की भूमिका में एक ताम्रलेख के आधार पर वेदभाष्यकार महीधर का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी का चतुर्थ चरण (संवत् ११७०-१२००) निश्चित किया है। ताम्रलेख कन्नौज राज्य के अधिष्ठाता प्रसिद्ध जयचन्द्र का है और बनारस की उत्तरपूर्व दिशा में स्थित सिंहवार नामक ग्राम में उपलब्ध हुआ था। यह ताम्रलेख काशीविद्यासुधानिधि (सितम्बर, १८६९) और इण्डियन एण्टिक्वेरी (भाग १५, पृ० १२९,१३४ सन् १८८९) में प्रकाशित हो चुका है। इस ताम्रलेख का आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है।

"कन्नौजराज्याधिपतिना महाराजाधिराजजयचन्द्रदेवेन राजपुत्रहरिश्चन्द्रनाम-करणमहोत्सवे द्वौ ग्रामौ ताम्रपत्रोपरि लिखित्वा द्वाविंशदधिकद्वादशशत-संवत्सरे भाद्रे मासे शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां तिथौ रविदिने महापण्डित-श्रीमहीधरपौत्राय महामिश्रपण्डितश्रीहालेपुत्राय महापण्डितश्रीहृषीकेशशर्मणे ब्राह्मणाय प्रदत्तौ मया"।

कन्नौज राज्याधिपति महाराज जयचन्द्र ने राजपुत्र हरिश्चन्द्र के नामकरण संस्कार के अवसर पर संवत् १२३२ भाद्रपद शुक्ल त्रयोदशी रविवार के दिन महापण्डित श्री महीधर के पौत्र, महापण्डित श्री हाले के पुत्र श्री हृषीकेश शर्मा को दो ग्राम दान किये।

उक्त दोनों विद्वानों के मत से इस ताम्रलेख में उल्लिखित हृषीकेश के पितामह महीधर ही शुक्लयजुर्वेद-भाष्य (वेददीप) के रचयिता हैं।

महीधर ने अपने भाष्य के आरम्भ में उव्वट और माधव के भाष्य का उल्लेख किया है। माधव से सायणमाधव (सायणाचार्य) का

भाष्य, जो कि काण्वसंहिता पर है, समझा जाता है। किन्तु उक्त दोनों विद्वानों के मत से वहाँ वेंकटमाधव के भाष्य का उल्लेख है, जिसको कि निघण्टु-निरुक्त के टीकाकार देवराज, स्कन्दस्वामी आदि ने अपने ग्रन्थों में स्मरण किया है और जो एक प्राचीन ऋग्भाष्यकार हैं। यदि यहाँ सायणभाष्य का उल्लेख मान लिया जाय, तो महीधर का समय उतना प्राचीन नहीं सिद्ध हो सकता, जितना कि उक्त विद्वान् स्वीकार करते हैं, क्योंकि सायणाचार्य का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। अत एव इनके मत से महीधर ने अपने भाष्य में माधव के जिन वचनों का उद्धरण दिया है, वे वर्तमान काण्वसंहिता के सायण भाष्य में नहीं मिलते।

उक्त मत को अन्य विद्वान् नहीं मानते। उनके मत से वेददीपकार महीधर इतने प्राचीन नहीं हैं। हृषीकेश के पितामह के वेदभाष्यकार होने में कोई प्रमाण नहीं है। महीधर ने अपने भाष्य के आरम्भ में सायणमाधव के भाष्य का ही उल्लेख किया है। जिस वेंकटमाधव के भाष्य की उक्त विद्वान् चर्चा करते हैं, वह अब निश्चित हो गया है कि ऋग्वेद पर है। यजुर्वेद का भाष्य लिखते समय ऋग्वेद-भाष्य की चर्चा अप्रासंगिक सी मालूम होती है। उक्त विद्वानों का यह कहना भी ठीक नहीं कि महीधर ने माधव के जिन वचनों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है, वे वर्तमान सायणभाष्य में नहीं मिलते। क्योंकि थोड़े पाठभेद के साथ ये वचन काण्वसंहिता के सायणभाष्य में मिल जाते हैं। संस्कृत के ग्रन्थों में, जिनका कि अच्छा संस्करण प्रकाशित न हुआ हो, इस प्रकार का स्वल्प अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। एक बात और भी है। महीधर मन्त्रमहोदधि के आरम्भ में जिस प्रकार का मंगलाचरण करते हैं, उससे बहुत कुछ मिलता-जुलता मंगलाचरण वेददीप के आरम्भ में भी है—"प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं महागणपतिं गुरुम्" (मन्त्रमहोदधि), "प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशम्" (वेददीप)।

इस कारण से तथा अन्य अनेक समानताओं से मन्त्रमहोदधिकार ही वेददीपकार हैं। उनका समय सत्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग ही है, बारहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग नहीं।

यही मत ठीक मालूम होता है। काशी में भैरवनाथ (कालभैरव) के समीप भैरोबाजार मकान नं० ३०/७४ में नृसिंह भगवान् की मूर्ति है। यहाँ प्रसिद्ध है कि यह मकान वेदभाष्यकार महीधर का है तथा यह नृसिंह की मूर्ति उन्हीं की स्थापित की हुई है। महीधर के ग्रन्थों से इतना तो निश्चित ही है कि वे नृसिंह के परम भक्त थे, क्योंकि प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में वे

उनका स्मरण करते हैं। वेददीप के प्रारम्भ में भी उन्होंने नृसिंह का स्मरण किया है। सन् १९३० में इसी मकान से २५०० के लगभग हस्तलिखित ग्रन्थ सरस्वती भवन पुस्तकालय के लिये खरीदे गये और इस संग्रह का नाम महीधर संग्रह रखा गया। इस संग्रह में कुछ ग्रन्थ स्वयं महीधर के लिखे हुए मिले हैं, जिनमें इस मत की पुष्टि के लिये पर्याप्त सामग्री है। यह सब सामग्री 'सारस्वती सुषमा' (वर्ष ५, अंक ४) में प्रकाशित हो चुकी है। अतः यहाँ उसका उद्धरण अनावश्यक है। इस सामग्री में महीधर का नाम दो ही बार आया है, अन्यथा लेखक सर्वत्र अपना नाम महीदास, भूदास, महीकिंकर आदि देता है। महीधर नृसिंह-भक्त वैष्णव थे। उनका इस प्रकार लिखना उचित ही है। इतना होने पर भी उनकी प्रसिद्धि महीधर नाम से ही है। महीधर ने संवत् १६३०-१६६८ के बीच सब ग्रन्थ लिखे हैं। अतः उनके समय के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार का विवाद नहीं रह जाना चाहिये।

महीधर वंश में अब केवल एक स्त्री उत्तराधिकारिणी रह गई है, जो कि इस वंश के अन्तिम पुरुष श्री दामोदर जी वैद्य की पुत्री हैं और जिनका विवाह जयपुर में हुआ है। इस मकान की देख-रेख तथा नृसिंह भगवान् की सेवा का प्रबन्ध आजकल श्री दामोदर जी के मित्र वैद्यराज श्री मुन्नीलाल औदीच्य करते हैं।

महीधर के पुत्र का नाम कल्याण था। इन्होंने बालतन्त्र नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की थी। प्रसिद्ध नैयायिक वेणीदत्त महीधर के पौत्र थे, ऐसी प्रसिद्धि है। महीधर-संग्रह के कई ग्रन्थों में वेणीदत्त का नाम बहुत बार आया भी है, किन्तु पूरी सामग्री के अभाव में अभी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि महीधर कुल का वंशवृक्ष किसी प्रकार मिल सकता, तो इस कार्य में बड़ी सहायता मिलती। महीधर-संग्रह की सामग्री में भिन्न-भिन्न समय के लेखकों के नाम मिलते हैं, जो कि कई प्रकार के साम्य से एक ही परिवार की कड़ी मालूम पड़ते हैं, किन्तु किसी दृढ़ आधार के बिना उनकी शृंखला नहीं बनाई जा सकती। महीधर के १७ ग्रन्थों में से अभी दो-चार का ही प्रकाशन हुआ है। महीधर के अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाशन और अध्ययन होना परमावश्यक है।[1]

१. दैनिक आज, सौर ५ ज्येष्ठ, संवत् २००८ में प्रकाशित।

सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य और उनका ग्रन्थालय

नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला, सह्याद्रिखण्ड आदि के विश्वविश्रुत भारतीय पुस्तकालयों के उत्थान और पतन का इतिहास जनता को थोड़ा बहुत मालूम है। उनका किस प्रकार सर्वनाश किया गया, यह भी सर्वविदित है। इतना होने पर भी, प्रकाशन की आधुनिक सुविधा के अभाव में भी, अब तक ताल-पत्रों पर सूइयों से खोद-खोद कर, भूर्जपत्र और तूलपत्र पर अथक परिश्रम करके अपार ग्रन्थराशि सुरक्षित रखी गई, जिसकी संख्या हमारे महामान्य प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार ५०, ६० हजार है (हिन्दुस्तान की कहानी, पृष्ठ १०७)। वास्तविक संख्या तो इससे कई हजार अधिक ही है। विदेशों में जहाँ प्राचीन हस्तलेख इने-गिने उपलब्ध होते हैं, वहाँ भारत में संस्कृत भाषा की इस विशाल ग्रन्थराशि की सुरक्षा किस प्रकार से हो सकी, इसके कारणों की खोज में यदि हम जाय, तो उसमें सर्वप्रथम श्रेय हमको भारत के बंशानुगत व्यक्तिगत संग्रहों को ही देना होगा। जितने सार्वजनिक संग्रह या पुस्तकालय थे, उनमें से तो आततायियों की कोपदृष्टि से बहुत कम ही बच सके, किन्तु ये वंशानुगत या व्यक्तिगत संग्रह, जिनका कि पूरे भारतवर्ष में जाल सा बिछा हुआ था, हमारी अमरनिधि को बचाने में अवश्य सफल रहे।

इन संग्रहों की भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न स्थिति है। दक्षिण में एक संग्रह में ३०० से अधिक ग्रन्थ नहीं पाइयेगा, वहीं उत्तर भारत में इन संग्रहों की पुस्तक संख्या दो-तीन हजार या कहीं इससे अधिक भी है। दक्षिण भारत से उत्तर भारत के संग्रहों की एक विशेषता और है, दक्षिण भारत में जहाँ पुस्तकों की किसी प्रकार की सूची नहीं मिलेगी, वहीं उत्तर भारत में हस्तलिखित ग्रन्थों की अपने ढंग की सूची भी साथ में रहती है। काशी के इसी कोटि के एक बंशानुगत संग्रह का परिचय हम 'आज' के पाठकों को 'प्रख्यात वेदभाष्यकार महीधर' नामक लेख में दे चुके हैं (आज सौर ५ ज्येष्ठ, संवत् २००८), जिसमें कि लगभग ढाई हजार ग्रन्थ थे। आज हम पाठकों को काशी के ही एक दूसरे व्यक्तिगत संग्रह का परिचय देने जा रहे हैं। यह संग्रह सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती का था और प्रसिद्ध संस्कृतप्रेमी मुगल युवराज दाराशिकोह के समय में वरुणा नदी के तट पर वेदान्ती बाग में अवस्थित था।

दो हजार हस्तलिखित ग्रन्थ

सेण्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री सन् १९१८ में हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के निमित्त काशी पधारे थे। उस समय कुछ विद्वानों ने उनसे कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय की चर्चा की, जो ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में अपनी समृद्धावस्था में विद्यमान था। उस पुस्तकालय की ग्रन्थ-सूची के मिलने की सम्भावना भी प्रगट की गई। संयोग-वश कुछ दिन बाद यह सूची यहाँ के किसी मठ में सरस्वती भवन के भूतपूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष स्वर्गीय म० म० पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी को हस्तलिखित पुस्तकों की खोज करते समय मिल गई। उन्होंने यह सूची संस्कृत कालेज के तत्कालीन अध्यक्ष म० म० पण्डित गंगानाथ झा को दी। सन् १९१९ में जब कि अखिल भारतीय प्राच्यविद्या महासंमेलन का प्रथम अधिवेशन पूना में हुआ था, इस सूची को म० म० पण्डित गंगानाथ झा अपने साथ वहाँ एकत्र विद्वानों को दिखाने के लिये ले गये थे। इस सूची को देख कर श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री, जो कुछ दिन पहले ही बनारस में इस सूची की प्राप्ति की सम्भावना की बात सुन गये थे, बड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने झा जी से वह सूची लेकर रातोंरात उसकी नकल कर ली। बाद में उन्होंने इस सूची को गायकवाड़ संस्कृत सिरीज में प्रकाशित करने की उनसे आज्ञा ली और झाजी की अनुमति मिल जाने पर यह सूची उक्त सिरीज में सन् १९२१ में 'कवीन्द्राचार्य सूचीपत्र' नाम से प्रकाशित हुई। इसके साथ ही झाजी की प्रस्तावना तथा श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री की भूमिका भी प्रकाशित हुई है, जिससे कवीन्द्राचार्य सरस्वती और उनकी इस सूची पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस सूची का इतना महत्त्व इसलिये आँका गया है कि इसमें दर्जनों ऐसी पुस्तकों का भी नामोल्लेख है, जिनका अस्तित्व हमारे विचार से सैकड़ों वर्ष पहले ही नामशेष हो चुका था। इस सूची में ऐसी अपूर्व पुस्तकों के नाम देख कर हमारे मन में इस आशा का संचार हुआ कि यदि हम प्रयत्न करें, तो अभी सैकड़ों ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ प्राप्त हो सकते हैं, जिनकी प्राप्ति की हमने आशा छोड़ दी है, क्योंकि आज से ३-४ सौ वर्ष पहले इस प्रकार के ग्रन्थ कम से कम काशी में तो उपलब्ध थे ही। इस सूची से मालूम होता है कि कवीन्द्राचार्य के संग्रह में उस समय २१९२ ग्रन्थ विद्यमान थे।

कवीन्द्रकल्पद्रुम तथा कवीन्द्रचन्द्रोदय नाम के दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, जिनसे कवीन्द्राचार्य सरस्वती की जीवनी पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कवीन्द्र-चन्द्रोदय पूना ओरियण्टल सिरीज से सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ है। कवीन्द्रकल्पद्रुम का हस्तलेख इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन तथा

एशियाटिक सोसायटी बंगाल में उपलब्ध है। इसकी एक प्रति सरस्वती भवन में भी विद्यमान है। उन्हीं के आधार पर यहाँ कुछ लिखा जा रहा है।

जन्म और जीवनी

कवीन्द्राचार्य का जन्म दक्षिण में गोदावरी नदी के तटवर्ती पुण्यभूमि नामक नगर में हुआ था। ये दक्षिणी ब्राह्मण थे और ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा के अध्येता थे। इन्होंने वेद और वेदांग के अध्ययन के बाद संन्यास ग्रहण कर लिया। ये यद्यपि एक सम्पन्न व्यक्ति थे, पर इन्होंने कभी विवाह नहीं किया। इनका कृष्णभट्ट नाम का एक भंडारी था, जो सदा इनके साथ रहता था। कुछ कारणां से, जिनमें मुगलों का आक्रमण और अत्याचार ही मुख्य हो सकता है, इन्होंने अपनी जन्मभूमि को छोड़ दिया और अपने भंडारी के साथ वे काशी चले आये। कवीन्द्राचार्य एक अध्ययनशील विद्वान् थे। यहाँ आने के थोड़े ही दिन बाद इन्होंने यहाँ के पण्डित समुदाय में संमानित स्थान प्राप्त कर लिया, धीरे-धीरे इन्होंने यहाँ पर एक अद्भुत पुस्तकालय की स्थापना की, जिसकी महत्ता उसकी प्रकाशित सूची से ही सहज में आंकी जा सकती है। कवीन्द्राचार्य सरस्वती की सर्वाधिक प्रसिद्धि निम्नलिखित घटना से हुई।

जजिया कर की समाप्ति

उन दिनों काशी और प्रयाग आदि तीर्थस्थानों में हिन्दू यात्रियों से मुगल-सम्राटों द्वारा एक यात्री-कर वसूल किया जाता था, जिसका कि नाम जजिया था। यद्यपि अकबर के समय में यह बन्द कर दिया गया था, किन्तु बाद में वह फिर चालू कर दिया गया। इस कर से हिन्दू जनता त्रस्त थी। कवीन्द्राचार्य ने इसके विरुद्ध एक जबर्दस्त मोरचा लिया। वे एक बहुत बड़ा शिष्ट-मण्डल ले आगरा में सम्राट् शाहजहाँ के दरबार में उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने दीवाने आम में अपना पक्ष इतना तर्कसंगत और मधुरता से उपस्थित किया कि सम्राट् शाहजहाँ और दाराशिकोह पश्चात्ताप के आँसू बहाने लगे। वहाँ उपस्थित ईराक, ईरान, कन्दहार, कश्मीर, बलख आदि स्थानों से आये हुए राजदूत इनकी वाक्पटुता को देखकर आश्चर्य-चकित रह गये। परिणामस्वरूप वह यात्री-कर हटा लिया गया और शाहजहाँ ने कवीन्द्र को 'सर्वविद्यानिधान' की पदवी से विभूषित किया। इस विजय से पूरे देश में खुशी छा गयी और चारों तरफ से कवीन्द्राचार्य के पास प्रशंसा-पत्र आने लगे। इन प्रशस्तियों में से शताधिक प्रशस्तियाँ अब तक मिल चुकी हैं। उनमें से एक प्रशस्ति बंगाल के प्रसिद्ध नैयायिक विश्वनाथ न्यायपंचानन की है, जो कि

उस समय काशी में ही रहते थे। अपनी वृद्धावस्था में वे वृन्दावन चले गये थे। कवीन्द्र जनता में इतने अधिक संमानित हो गये थे कि उनके नाम पर कई कवीन्द्राष्टक लिखे गये। ये अष्टक तथा प्रशस्तियाँ कवीन्द्रचन्द्रोदय तथा कवीन्द्रकल्पद्रुम में संगृहीत हैं।

दाराशिकोह के गुरु

काशी के शिवरामेन्द्र सरस्वती और ब्रह्मेन्द्र सरस्वती नाम के संन्यासियों को कवीन्द्राचार्य संमान की दृष्टि से देखते थे। संभव है वे उनके गुरु रहे हों। कवीन्द्राचार्य का चतुर्थाश्रम का नाम नृसिहाश्रम था। दाराशिकोह ने अपने एक पत्र में, जो कि कवीन्द्रकल्पद्रुम में उद्धृत है—"शङ्कराचार्यसमानेषु नृसिहाश्रमेषु.....ॐ नमो नारायणायेत्यष्टाक्षरमन्त्रपूर्वका नमस्काराः सन्ति" इस प्रकार इनको संबोधित किया है। भारतीय इतिहास की पुस्तकों में मिलता है कि दाराशिकोह के एक हिन्दू साधु गुरु थे। वह हिन्दू साधु यही कवीन्द्राचार्य थे।

कवीन्द्राचार्य पाणिनीय अष्टाध्यायी की काशिकावृत्ति के समर्थक थे और भट्टोजी दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी के विरोधी। इन्होंने भट्टोजी दीक्षित की प्रौढमनोरमा का 'मनोरमाखण्डन' नामक पुस्तक में खण्डन और चक्रपाणिदत्त की 'मनोरमाविमर्दन' का समर्थन किया है। पण्डितराज जगन्नाथ भी इनके समसामयिक थे और भट्टोजी दीक्षित के विरुद्ध कवीन्द्राचार्य और चक्रपाणिदत्त के मत के समर्थक थे।

कवीन्द्राचार्य के सम्बन्ध में जो तथ्य संगृहीत किये गये हैं, उनसे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि कवीन्द्राचार्य का जीवनकाल ईसा की सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित रूप से रहा है। सामग्री के अभाव में उनकी जन्म और मृत्यु की तिथि निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती।

आफ्रेख्ट ने अपने बृहद् ग्रन्थ में कवीन्द्राचार्य के सम्बन्ध में कोई भी सूचना नहीं दी है। इनकी सर्वविद्यानिधान पदवी इनके संस्कृत के बहुमुखी ज्ञान की द्योतक है। सायणाचार्य की तरह इन्होंने भी वेद से लेकर काव्य तक के अनेक ग्रन्थों की व्याख्याएँ तथा स्वतन्त्र रचनाएँ की हैं। अब तक इनके दशाधिक ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं।

कवीन्द्राचार्य सरस्वती का वास्तविक नाम क्या था, वह अभी तक मालूम नहीं हो सका है। उनका यह नाम बाद का है। विद्वानों ने उनकी कवीन्द्र, आचार्य आदि उपाधियाँ दीं और वे इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हो गये। उनका वास्तविक नाम काल-गह्वर में लीन हो गया।

कवीन्द्राचार्य एक संन्यासी थे। इसलिये उनकी मृत्यु के बाद उनका स्थापित किया हुआ वह प्रख्यात पुस्तकालय अधिक दिनों तक व्यवस्थित न रह सका। संभव है कुछ दिनों तक श्रीकृष्ण सरस्वती ने, जो कवीन्द्राचार्य की प्रशस्तियों के संग्रहकर्ता थे तथा नाम-साम्य से उनके जन्म-स्थान से उनके साथ आये हुए उनके भंडारी श्रीकृष्ण भट्ट ही मालूम होते हैं, इस पुस्तकालय की देखभाल की हो, किन्तु उनके बाद यह छिन्न-भिन्न हो गया। इसकी पुस्तकें काशी के विभिन्न मठों तथा निजी संग्रहालयों में चली गईं। इनमें से कुछ पुस्तकें तो सरस्वती भवन में आ गयी हैं, किन्तु अधिकांश पुस्तकें काशी से बाहर चली गयीं। विदेशी एजेन्सियों द्वारा बहुत-सी पुस्तकें यूरोप भेज दी गईं। बड़ौदा, बीकानेर आदि स्थानों के पुस्तकालयों में भी कवीन्द्राचार्य सरस्वती के पुस्तकालय की कुछ पुस्तकें विद्यमान हैं। कवीन्द्र की प्रत्येक पुस्तक पर "सर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनामिदं पुस्तकम्" यह अवश्य लिखा मिलता है। इसीलिये इनकी प्रत्येक पुस्तक चाहे वह कहीं भी गयी हो, अवश्य पहचान में आ जाती है। कवीन्द्राचार्य की उपलब्ध सभी पुस्तकों का प्रकाशित सूची के साथ तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये'॥

•

काशी का एक महान् यात्री

विष्णुभट्ट शास्त्री गोडशे वरसईकर रचित मराठी भाषा के 'माझा प्रवास' नामक यात्राग्रन्थ से हिन्दी के पाठक अपरिचित नहीं हैं, क्योंकि 'मेरा प्रवास' नाम से अनूदित होकर वह प्रकाशित हो चुका है। इस पुस्तक में सन् ५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम का इतिहास तथा तत्सामयिक सामाजिक परिस्थिति का विस्तार से वर्णन मिलता है। यात्रा-वृत्तान्त भारतीय साहित्य में प्रायः नहीं के बराबर हैं। बौद्ध भिक्षुओं तथा दक्षिण भारतीय राजकुलों द्वारा ईसा की प्रथम दशाब्दी में एशिया भर में जो सांस्कृतिक तथा राजनीतिक नवचेतना का विकास किया गया था, उसका इतिहास, उन कठिन साहसिक यात्राओं का वर्णन भी

१. आज, ७ सितम्बर सन् १९५१ में प्रकाशित।

हमें भारतीय भाषाओं में देखने को बहुत कम ही मिलता है। ऐसी अवस्था में यात्रावृत्तान्त सम्बन्धी एक भी नूतन ग्रन्थ की उपलब्धि भारतीय साहित्य के भाण्डागार के लिये एक अमूल्य निधि ही साबित हो सकती है। काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के पुस्तकालय, सरस्वती भवन में हमने एक इसी प्रकार के ग्रन्थ को खोज निकाला है, जो संस्कृत के श्लोकों में लिपिबद्ध है। यहाँ की त्रैमासिक पत्रिका 'सारस्वती सुषमा' में इस निबन्ध के लेखक द्वारा सम्पादित होकर यह ग्रन्थ गत वर्ष प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी के पाठकों को इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार से परिचित कराना ही इस लेख का उद्देश्य है।

श्री महेश्वर भट्ट

ग्रन्थकार ने बहुत सोच-समझ कर इसका नाम पथिकजनपातकचिन्तन-स्मृति रखा है, क्योंकि इसमें यात्रा के कष्टों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता हैं श्री महेश्वर भट्ट। ये काशी के रहने वाले थे। इनका जन्म काशी के एक कुलीन नागर परिवार में हुआ था। इनके प्रपितामह का नाम रामकृष्ण भट्ट था, जो काशी के एक प्रसिद्ध मन्त्रशास्त्री थे। इनके पितामह का नाम देवकृष्ण भट्ट तथा पिता का नाम हरिकृष्ण भट्ट था। द्रव्यार्जन की अभिलाषा से इन्होंने यह यात्रा प्रारम्भ की और अवध राज्य के संस्थापक, अवध के प्रथम शासक [नबाब] सआदत खाँ की सेना के साथ ये दिल्ली पहुँचे। दिल्ली में रहते हुए इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की।

यात्रा-ग्रन्थ की उपयोगिता

इस ग्रन्थ में कुल १२५ अनुष्टुप् श्लोक हैं। ग्रन्थकार ने जहाँ से यात्रा का वर्णन करना प्रारम्भ किया है, वहाँ से उसके अन्त तक प्रत्येक श्लोक का चतुर्थ चरण 'पातकं किमतः परम्' रखा है, जो किसी-किसी श्लोक के अन्त में तो बड़ा ही मनोरंजक प्रतीत होता है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही ग्रन्थकार ने कहा है कि निर्धन हो या धनी, परदेश में सबको कष्ट उठाना ही पड़ता है, किन्तु जो मेरे इस ग्रन्थ को पढेगा, उसकी यात्रा निश्चय ही सुखप्रद हो जायगी और वह परदेश में आने वाली आपत्तियों से सावधान हो जायगा।

सर्वप्रथम ग्रन्थकार ने ग्रीष्म ऋतु की यात्रा में पड़ने वाले कष्टों का वर्णन किया है। बुन्देलखण्ड की गर्मी का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इसके बाद वर्षाकाल के तथा शीतकाल के कष्टों का वर्णन है। ग्रन्थकार ने साधारणतया बारहों मास यात्रियों के सामने जो बिभीषिकाएँ उपस्थित होती हैं, उनका बहुत ही सजीव वर्णन किया है।

ठगों के हथकण्डे

यात्री की भोजन-सामग्री में धतूरे के बीज का चूर्ण मिला देना, वैष्णव बनकर विषयुक्त नैवेद्य खिलाना, साथी बनकर मौका पाने पर सब सामान हड़प लेना, बड़ी आवभगत के साथ अपने घर बुलाकर विषमय भोजन खिलाकर यात्री को लूट लेना आदि बातें प्राचीन होती हुई भी इस नूतन युग में भी चिरनवीन ही हैं।

वर्षा ऋतु में यात्रा

वर्षा ऋतु में नदियों में बाढ़ आने पर उनको पार करने का वर्णन बड़ा हृदयद्रावक है। नदी पार करने के लिये सामान को नाव पर रखकर टट्टू, घोड़ा, बैल आदि को नाव की बगल में बाँध दिया जाता है, किन्तु पानी के वेग से रस्सी टूट जाती है और ये पशु प्रखर प्रवाह में विलीन हो जाते हैं। कभी-कभी गाड़ी वगैरह सामान तो उस पार पहुँच जाता है, किन्तु विपरीत प्रवाह व प्रचण्ड पवन के कारण नाव इस तट पर वापस नहीं आ पाती। अधिक बोझा हो जाने से, ज्यादा आदमियों के बैठ जाने से कभी-कभी नाव डूब जाती है। कोई बैल की पूँछ पकड़कर नदी पार करता है तो कोई तैर कर। वृद्ध पिता नदी पार कर जाता है और दुर्भाग्य से पुत्र नदी में डूब जाता है।

पहाड़ी यात्रा

इसके बाद ग्रन्थकार अपनी केदारनाथ, बदरीनाथ आदि पहाड़ी तथा जयनगर, पुष्कर, हरिद्वार आदि मैदानी तीर्थस्थानों की यात्रा का वर्णन करता है। इसी बीच वह सआदतखाँ की सेना में भरती हो जाता है। स्वरोदय ज्योतिष की सहायता से सआदतखां को युद्ध में विजय प्राप्त कराने की दृष्टि से वह सेना में प्रवेश करता है, किन्तु स्थान-स्थान पर ग्रन्थकार युद्धस्थल में स्वयं शस्त्रग्रहण करता है। पाछापुर ग्राम में वहाँ के किले पर कब्जा करने के लिये वह आगे बढ़ता है। ऊपर से उस पर आग की वर्षा की जाती है। आग से जलकर वह नीचे खाई में गिर पड़ता है। पकरी ग्राम में वह घनघोर युद्ध करता है। वहाँ मुँह के नीचे एक तीर आकर उसको लगता है। इसके युद्ध से सन्तुष्ट होकर सआदतखां इसका संमान करता है। पारितोषिक स्वरूप पालकी में बैठाकर इसको गाजीपुर में बड़ी धूमधाम से घुमाया जाता है। नेवादा की लड़ाई में बुरी तरह से क्षत-विक्षत हो जाने पर भी इसको चार कोस तक घोड़े को साथ लेकर जाना पड़ता है। रास्ते में न कहीं जल मिलता है और न कहीं छाया के ही दर्शन होते हैं। सआदतखां को जब दिल्ली के ऊपर पेशवा बाजीराव के आक्रमण की खबर मिलती है, तो वह अपनी फौज लेकर मथुरा

होते हुए दिल्ली पहुँचता है। ग्रन्थकार भी साथ-साथ जाता है। वहाँ मराठों से उनका युद्ध होता है। तीन दिन तक निरन्तर युद्ध होता रहता है। न तो शरीर से शस्त्र ही हटाये जा सकते हैं और न खाने-पीने का ही कुछ ठिकाना है। चौथे दिन जाकर जल मिलता है। किसी प्रकार पाँच सेर मूंग भी मिल जाती है। इसी को भिगोकर किसी तरह से खाना पड़ता है और इस पाँच सेर मूंग में भी ३० आदमियों का हिस्सा लगता है। ग्रन्थकार कहता है कि इस प्रकार के भयंकर कष्टों को उठाकर जो द्रव्य इकट्ठा किया था, वह एक ही दिन में नादिरशाह के आने पर नष्ट हो जाता है, लूट लिया जाता है। साथ में ग्रन्थकार के पिता का अभिन्न मित्र दांनतराय भी, जो कि कोरा जहानाबाद में सआदतखाँ का छै हजारी मनसबदार था, इस युद्ध में काम आता है।

इस ग्रन्थ के हस्तलेख के मुखपृष्ठ पर ग्रन्थकार ने संक्षेप में नादिरशाह के दिल्ली के कत्लेआम का भी वर्णन किया है। पश्चिम दिशा में 'विलाइत' नामक एक यवन देश है। वहाँ पर 'टोपी वाले' ईरानी रहते हैं, जो कि 'मोगल' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के एक अत्यन्त निर्दयी किन्तु 'शूरवीर बादशाह' का नाम 'नादर्शाह' है। वह सब राज्यों को लूटता हुआ 'पाणीपथ' में दिल्लीपति 'मह्मदशाह' को जीतकर और उनको कैदकर संवत् १७९५ शके १६६० में फाल्गुन शुक्ल एकादशी के दिन दिल्ली में घुसा। वहाँ उसने सब अपने अधिकार में कर लिया। दूसरे दिन द्वादशी को प्रातःकाल से लेकर निरन्तर तीन पहर तक उसके सैनिकों ने उसकी आज्ञा से बन्दूकों और तलवारों से मनुष्य, पशु आदि का संहार जारी रखा।

ग्रन्थकार इसके बाद मारे गये मनुष्यों की संख्या, कितने दिन नादिरशाह वहाँ रहा तथा किस दिन मुहम्मद शाह को उसका राज्य वापस देकर लौटा, इनकी भी सूचना देना चाहता था, किन्तु इस हस्तलेख में उक्त संख्या तथा तिथि आदि लिखने के लिये स्थान छोड़ दिया गया है।

इस प्रकार इस लघुकाय ग्रन्थ में एक प्रत्यक्षदर्शी और भुक्तभोगी के अनुभव हमको पढ़ने को मिलते हैं। थोड़ी बहुत ऐतिहासिक सामग्री भी इसमें विद्यमान है, जिस पर ऐतिहासिकों को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। श्री आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने अवध के प्रथम दो नवाबों का विस्तृत वर्णन किया है, किन्तु उसमें इस पुस्तक में दी गई घटनाओं का कोई वर्णन नहीं मिलता। सआदतखाँ के सेनापति दानतराय का भी उसमें कहीं जिक्र नहीं है। इसी प्रकार नादिरशाह के कत्लेआम की तिथि में भी अन्तर है। सर यदुनाथ सरकार द्वारा सम्पादित

'लैटर मुगल्स' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित तिथि से भी इसका थोड़ा अन्तर है। ऐतिहासिकों से हम निवेदन करेंगे कि इस ग्रन्थ की सहायता से वे किसी निर्णय पर पहुँचें।

इस ग्रन्थ की रचना ग्रन्थकार ने दिल्ली में रहते हुए की थी। इसकी रचना के बाद भी वे दिल्ली में ही रहे थे। उनका बादशाह से परिचय भी हो गया था और उनकी विजय-यात्राओं पर उन्होंने एक पृथक् काव्य भी लिखा था। यह सूचना भी हमको इसी ग्रन्थ से मिलती है। उस काव्य का क्या नाम था, यह एक गवेषणा का विषय है।

प्रस्तुत हस्तलेख की समाप्ति शके १६७१, संवत् १८०६ में ज्येष्ठ शुक्ल ५ बुधवार पुष्य नक्षत्र के दिन हुई थी। ग्रन्थकार ने इस हस्तलेख को अपने किसी शिष्य से लिखवाया था, किन्तु इसमें टिप्पणी स्वयं उन्ही की लिखी हुई है, जो कि ग्रन्थ को समझने और उसका ऐतिहासिक महत्त्व बढ़ाने में पर्याप्त समर्थ है।

•

गैरिकसूत्र और उसके रचयिता गंगाराम जडी

किस्से-कहानी की किताबों की बात जाने दीजिये, लेकिन जब हम किसी गंभीर विषय की पुस्तक को पढ़ने बैठते हैं, तो हमारे हाथ में अक्सर लाल पेन्सिल रहती है। स्वर्गीय भारतरत्न डाक्टर भगवान्दास के हाथ में इस अवसर पर स्केल भी रहती थी, ताँकि पेन्सिल की लाइन पुस्तक पर टेढ़ी-मेढ़ी न हो जाय। आज के प्रेस के युग में भी, जब कि भाँति-भाँति के टाइपों तथा पुस्तक को सुबोध और सुन्दर बनाने के विविध उपकरणों की बहुतायत है, हमें लाल पेन्सिल की जरूरत पड़ ही जाती है, तो उस प्राचीन काल में, जब कि इन साधनों का नितान्त अभाव था, पोथियाँ तालपत्र, भोजपत्र या तूलपत्र पर बिना पदच्छेद-अनुच्छेद आदि के और बिना विरामचिह्नों के अबाध नदीधारा के समान निरन्तर लिखी जाती थीं, लाल पेन्सिल के सदृश किसी साधन की खोज हो, यह अत्यन्त स्वाभाविक था। उस समय जिस साधन की खोज की गई,

वह थी गैरिक धातु। आज हम अनेक आकार के टाइपों, भाँति-भाँति के विरामचिह्नों और अध्याय, परिच्छेद आदि की समाप्ति पर पेज बदल कर पुस्तक को सुबोध बनाने और सजाने का प्रयत्न करते हैं, उस समय यह सारा काम गेरू से लिया जाता था। तूलपत्र (कागज) पर लिखी गई पुरानी पोथियाँ प्रायः स्थान-स्थान पर गेरू से रंगी हुई मिलती हैं। इनका रंगा जाना कुछ निश्चित नियमों के आधार पर था या नहीं? यदि था तो नियम क्या थे? यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है।

गैरिकसूत्र

गैरिकसूत्र और उसकी वृत्ति में हमें इन प्रश्नों का समाधान उपलब्ध होता है। इस छोटे से ग्रन्थ में केवल नौ सूत्र हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इन सूत्रों की वृत्ति भी लिखी है। पोथियों में गैरिक कहाँ-कहाँ लगाना चाहिये, सूत्रों में संक्षेप में उन स्थलों का निदर्शन किया गया है और वृत्ति में उदाहरणों द्वारा उनको समझाया है। यहाँ संक्षेप में इसी ग्रन्थ का परिचय दिया जा रहा है।

प्रतिपाद्य विषय

पोथियों का आरम्भ 'श्रीगणेशाय नमः', 'श्रीसरस्वत्यै नमः' इत्यादि अपने इष्ट देवता के नमस्कार के साथ होता है। कहीं-कहीं अध्याय, प्रकरण आदि के आरम्भ में भी यह रहता है। पोथियों में इस अंश को रंग दिया जाता था। ग्रन्थकार ने भी अपने ग्रन्थ के पहले सूत्र में इसकी व्यवस्था की है। आजकल छपी पुस्तकों में कुछ बड़े टाइपों में इसको अलग पंक्ति में रखा जाता है। भाष्य, टीका, वृत्ति, व्याख्या आदि ग्रन्थों में मूल ग्रन्थ के कुछ अंश को उद्धृत कर उसका भाष्य आदि लिखा जाता है। इस अंश की पारिभाषिक संज्ञा है 'प्रतीक'। इन प्रतीकों को और उद्धृत किये जाने वाले सूत्र अथवा अन्य अंशों को रंगने का विधान द्वितीय सूत्र में है। आजकल मुद्रित पुस्तकों में प्रतीकों और उद्धरणों का टाइप बदल दिया जाता है। इसी प्रकार आगे के सूत्रों में—ओम्, तदाहुः, यदाहुः, आहुः, अत्र ब्रूमः, तच्चिन्त्यम्, एतेन, अत एव, अपास्तम्, अलम्, यद्वा, अथवा, किञ्च, अपि च—इत्यादि शब्दों के रंगने का विधान है। संस्कृत ग्रन्थों में उन शब्दों का उपयोग मतान्तर या शंका के उपस्थापन या उपसंहार में, निश्चित पक्ष की स्वीकृति अथवा उसके परिहार में होता है। उपर्युक्त शब्दों का भी आजकल टाइप बदल दिया जाता है और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को यथासम्भव अलग-अलग अनुच्छेदों में बाँट दिया जाता है। 'इति श्री' इत्यादि से ग्रन्थ, अध्याय, सर्ग आदि की समाप्ति की जाती है। इस समाप्ति-सूचक वाक्य को 'पुष्पिका' कहते हैं। इसको भी रंगने

का विधान है। अन्तिम सूत्र में गणित सम्बन्धी अंकों के रंजन की उपयोगिता बताई गई है। १९ संख्या से यदि १ और ९ इन दो संख्याओं का बोध कराना हो, तो इनकी अलग-अलग रंगना चाहिये और यदि एक ही संख्या का बोध अभीष्ट है, तो दोनों अंकों को एक साथ रंगना अपेक्षित होगा। इसी प्रकार ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नामों को रंगने का भी यहाँ विधान किया गया है। आजकल ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के नामों को या तो टाइप बदल कर परिचित कराया जाता है अथवा ऐसे स्थलों पर प्रत्येक अक्षर के बीच में कुछ स्थान छोड़कर भिन्नता प्रदर्शित की जाती है। इस प्रकार आजकल अनेक विधि-विधानों से पुस्तकों को सुबोध तथा सुन्दर बनाने का जो प्रयत्न किया जाता है, वह सब कार्य पोथियों में रंग द्वारा ही प्रदर्शित हो जाता था और इससे पुस्तक को और उसके अवान्तर भागों को समझने में सहूलियत होती थी। हमारी जानकारो में इस रंजन-पद्धति का प्रतिनिधित्व करने वाला एकमात्र यही ग्रन्थ आज उपलब्ध है।

ग्रन्थकार

गैरिकसूत्र और उसकी वृत्ति के रचयिता हैं गंगाराम जडी। ये काशी के निवासी थे। इनके पिता का नाम नारायण जडी था और गुरु थे नीलकण्ठ। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी के विवरणात्मक सूचीपत्र में २१२३ संख्या की पोथी के विवरण में महादेव भट्ट दिनकर के गुरु नीलकण्ठ भट्ट को गंगाराम जडी का भी गुरु माना गया है। यह ठीक नहीं है। भट्ट नीलकण्ठ भगवन्त-भास्कर नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ के द्वादश मयूखों के रचयिता, काशी के प्रसिद्ध भट्ट वंश में उत्पन्न नारायण भट्ट के पौत्र और शंकर भट्ट के पुत्र थे। ये तिथ्यर्क, आचारार्क आदि अनेक धर्मशास्त्र-ग्रन्थों के रचयिता, बालकृष्ण भारद्वाज के पौत्र और महादेव भारद्वाज के पुत्र दिवाकर के मातामह थे। दिनकर दिवाकर के छोटे भाई थे। भट्ट नीलकण्ठ दिवाकर और दिनकर दोनों के ही मातामह और विद्यागुरु भी थे। इनमें से दिनकर गंगाराम जडी के मातामह थे। स्वयं ग्रन्थकार ने अपने एक अन्य ग्रन्थ तर्कामृतचषक में इसका उल्लेख किया है। दिनकर ने विश्वनाथ भट्टाचार्य द्वारा रचित न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली की अपने पिता महादेव भारद्वाज के द्वारा प्रारम्भ की गई टीका को पूरा किया था। यह टीका बाद में केवल उन्हीं के नाम से (दिनकरी) प्रसिद्ध हो गई। वास्तव में दिनकरी टीका दो व्यक्तियों की संमिलित रचना है। किन्तु इण्डिया आफिस लाइब्रेरी की सूची में उक्त विवरण में महादेव दिनकर को अभिन्न व्यक्ति माना है। आफेख्ट की बृहत्सूची (भा० १, पृ० ४३६) में भी महादेव भट्ट दिनकर को एक ही व्यक्ति माना है और

बालकृष्ण भट्ट को इनका पिता और दिनकरी का प्रारम्भ करने वाला माना है। इसकी अप्रामाणिकता अब भली प्रकार से सिद्ध हो चुकी है। अस्तु, गंगाराम जडी ने तर्कामृतचषक और उसकी रचना में अपने मातामह की कृति दिनकरी से सहायता ली थी। उक्त ग्रन्थ के श्लोकों से यह स्पष्ट है। इस प्रकार दिनकर गंगाराम जडी के मातामह थे और दिनकर के मातामह और विद्यागुरु नीलकण्ठ भट्ट थे। महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास के प्रथम भाग में और व्यवहारमयूख की भूमिका में भी नीलकण्ठ भट्ट का साहित्यिक काल १६१०-१६४५ ई० निर्धारित किया है। गंगाराम जडी का साहित्य-रचनाकाल १७४२-१७७३ ई० है। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वर्तमान भट्ट नीलकण्ठ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान गंगाराम जडी के गुरु नीलकण्ठ भट्ट न होकर कोई अन्य ही नीलकण्ठ हैं।

ग्रन्थकार की अन्य रचनाएँ

आफ्रेख्ट की बृहत्सूची में गंगाराम के अन्य ग्रन्थों का भी विवरण है। वे ग्रन्थ ये हैं—स्वरचित टीका के साथ रसमीमांसा, रसतरंगिणी की नौका टीका, दिनकरीखण्डन और स्वरचित टीका के साथ तर्कामृतचषक। इनमें से सटीक रसमीमांसा और भानुदत्त रचित रसतरंगिणी की नौका टीका वाराणसी में १९४० वि० में शिलाक्षरों में मुद्रित हुई थी। रसमीमांसा के अन्त में वृत्ति के साथ गैरिक सूत्र भी छपे थे। मद्रास में बालमनोरमा प्रेस से १९२३ ई० में मुक्तावली की अन्य टीकाओं के साथ दिनकरीखण्डन भी प्रकाशित हुआ है। यह गंगाराम जडी की ही कृति है, इसमें सन्देह है। इनके अन्य ग्रन्थों से इसमें कुछ साम्य नहीं प्रतीत होता। १८८४ ई० में प्रयाग से मुद्रित हस्तलेख-सूची के आठवें खण्ड (पृ० २६) से ज्ञात होता है कि दिनकरी-खण्डन की पोथी काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा के पास थी। गंगाराम जडी ने तर्कामृतचषक और उसकी टीका की रचना दिनकरी के आधार पर की थी, यह बताया जा चुका है। अपने ग्रन्थ के आधारभूत ग्रन्थ का, जो कि मातामह की कृति है, यहाँ खण्डन किया गया हो, यह एक गवेषणा का विषय है। रसतरंगिणी की ग्रन्थकार रचित नौका टीका (पृ० १५) से ज्ञात होता है कि उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने मणिमाला नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी। यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र का प्रतीत होता है। ग्रन्थालयों की प्रकाशित सूचियों में इसका अभी कहीं उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

ग्रन्थ रचनाकाल

गंगाराम जडी ने उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे पहले 'मणिमाला' की रचना की। तदनन्तर क्रमशः नौका टीका, रसमीमांसा और उसकी टीका, तर्कामृत-

चषक और उसकी तात्पर्य टीका का निर्माण किया। इन ग्रन्थों की समाप्ति में स्वयं ग्रन्थकार ने इनका रचनाकाल दिया है। तदनुसार नौका टीका की समाप्ति संवत् १७९७ में हुई। सरस्वती भवन और भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट के हस्तलेखों में यही तिथि दी हुई है। म० म० पी० वी० काणे ने अपने अलंकारशास्त्र के इतिहास (पृ० ३९५) में नौका टीका का रचना-काल १७३२ ई० दिया है। तदनुसार १७८९ संवत् में इसकी रचना-तिथि आती है। किस आधार पर यह तिथि दी गई है, वहाँ कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। रसमीमांसा टीका की समाप्ति संवत् १८०८ में हुई। संवत् १८०८ में तर्कामृतचषक और १८३० में चषक-तात्पर्यटीका की रचना पूर्ण हुई। इस प्रकार उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर गंगाराम जडी का साहित्य रचनाकाल संवत् १७९७ से १८३० तक का है।

ग्रन्थ का संस्करण

पहले बताया गया है कि गैरिकसूत्र और उसकी वृत्ति का मुद्रण वाराणसी में संवत् १९४२ में शिलाक्षरों में हुआ था। सूत्र और वृत्ति की भाषा संक्षिप्त पद्धति के कारण दुरूह है, अतः सरस्वती भवन स्थित तीन पाण्डुलिपियों के आधार पर इनका संशोधन किया गया है और दुरूहता को दूर करने के लिये संस्कृत विश्वविद्यालय के वेदान्त विभाग के अध्यक्ष गुरुवर्य श्री रघुनाथ शर्मा जी के द्वारा निर्मित विवरण का इसमें समावेश किया गया है। इस विवरण के साथ ग्रन्थ का संशोधित संस्करण संस्कृत विश्वविद्यालय की त्रैमासिक पत्रिका सारस्वती सुषमा में लघुग्रन्थरत्नप्रभावलि की नवम संख्या के रूप में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा संपादित होकर अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। आज के इस प्रेस युग में इस ग्रन्थ की कोई महत्ता नहीं रह गई है, किन्तु पोथियों के उस युग में इस ग्रन्थ का और इसकी परम्परा का महत्त्व स्वयं सिद्ध था। निरन्तर पंक्तियों के भूलभूलैये में विषयों, अवान्तर प्रकरणों आदि का, उद्धरणों, उद्धृत ग्रन्थकारों का, पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष आदि का परिचय प्राप्त करने का सरल माध्यम तब गैरिक रंजन की यह पद्धति ही थी। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। गैरिक रंजन पद्धति का आरम्भ भी पोथियों की, विशेष कर कागज की पोथियों की लेखन कला के साथ हुआ होगा, किन्तु दुर्भाग्य से आज उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाला यह एकमात्र छोटा-सा ग्रन्थ उपलब्ध है।

●

काशी की वैदिक मण्डली का शाखा-स्वाध्याय

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के नवम दीक्षान्त समारोह के प्रसंग में वसन्त पंचमी के सांस्कृतिक पर्व पर शाखास्वाध्याय का आयोजन किया गया था। वैदिक मण्डली में शाखास्वाध्याय वसन्तपूजा के नाम से परिचित है, किन्तु वसन्तपूजा शब्द में कोई स्वारस्य नहीं है। यह एक प्रकार का रूढ शब्द हो गया है। दो-चार या इससे अधिक, एक-दो या सब वेदों के वेदपाठी वैदिक जब कभी भी निमन्त्रित होकर वेदपाठ की विविध प्रक्रियाओं का आश्रय लेकर वेदपाठ करते हैं और चन्दन, अक्षत, पुष्प-माला, मिष्टान्न, दक्षिणा द्वारा पूजित होते हैं, तो उसे वसन्तपूजा कहा जाता है। वसन्त से इसका केवल इतना ही संबन्ध है कि यह पूजा वसन्त पंचमी के दिन अवश्य होती है। इसी को आधार मानकर जब कभी भी वेदपाठी वेदपाठ के बाद पूजित होते हैं, तो उसको भी वसन्तपूजा कह दिया जाता है। इस प्रकार इस शब्द को हम योगरूढ़ भी कह सकते हैं, किन्तु सहस्राब्दी की परतन्त्रता ने इसका सारा स्वारस्य नष्ट कर दिया है। आज यह केवल वेदपाठी की एक प्रकार की जीविकामात्र का अभिव्यंजक है। इसको सुनने से किसी सांस्कृतिक भाव का उदय नहीं होता।

शाखा स्वाध्याय

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय तथा सरस्वतीभवन के विद्वानों ने वसन्त-पूजा के स्थान पर शाखा स्वाध्याय शब्द को चुना है। शाखा और स्वाध्याय ये दोनों ही शब्द भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम रूप का स्मरण कराते हैं। वेदों के उपविभाग को शाखा कहा जाता है। महाभाष्यकार पतंजलि के मत से ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १००, सामवेद की १ हजार और अथर्ववेद की ९, इस प्रकार सब वेदों की कुल ११३० शाखाएँ थीं।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य में स्वाध्याय शब्द से 'अपनी-अपनी शाखा का अध्ययन' इस अर्थ का बोध होता है। पूर्वमीमांसा के आरम्भ में ही इस शब्द के अर्थ पर विस्तार से विचार किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति की एक शाखा निश्चित होती थी, जिसका अध्ययन उसको अवश्य करना होता था। अपनी शाखा का पूर्ण ज्ञाता हो जाने के बाद ही उसको इतर शाखाओं तथा वेदों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त होता था। आज की वसन्तपूजा में भी यह परम्परा हमको सुरक्षित मिलती है। किसी शाखा की संहिता आदि के

पाठ के लिये उसी शाखा के वेदपाठी को वरीयता दी जाती है। इस सांस्कृतिक भाव का बोध शाखा-स्वाध्याय शब्द से ही हो सकता है।

सांस्कृतिक अभ्युत्थान

सांस्कृतिक क्षेत्र में काशी की महिमा अक्षुण्ण रही है। परतन्त्रता की अन्तिम घड़ियों में स्वर्गीय महामना मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में अन्धकारावृत भारतीय संस्कृति के स्वरूपदर्शन के लिये एक ज्योति जगायी। उस ज्योति के आलोक में आज हम भारतीय संस्कृति को पहचान पा रहे हैं कि नहीं, यह अलग बात है। डाक्टर भगवानदास के सांस्कृतिक अनुष्ठानों का पूरे राष्ट्र ने अभिनन्दन किया है, यह उनको प्राप्त भारत-रत्न संमान से ही स्पष्ट है। उत्तरप्रदेश का मुख्यमन्त्रित्व भी आज काशी के प्रकाश से आलोकित है। यह काशी मानव जाति के ज्ञात इतिहास में सर्वप्रथम आबद्ध उस वैदिक साहित्य की रक्षा में भी अपना अग्रस्थान रखती है।

काशी के विद्वानों द्वारा रक्षा

महाभाष्यकार पतंजलि ने जिन ११३० शाखाओं का उल्लेख किया है, हमारे दुर्भाग्य से उनमें से मुश्किल से एक दर्जन शाखाएँ आज उपलब्ध हैं। पतंजलि के समय में भी वे सब शाखाएँ उपलब्ध नही थीं, तो भी आज से अधिक मात्रा में तब वैदिक साहित्य उपलब्ध था। वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के प्रथम श्लोक की टीका में उद्धृत 'सूक्ष्मामर्थेन' यह श्रुति और संस्कृत वाङ्मय में उद्धृत अनेक श्रुतिवचन उपलब्ध वैदिक ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलते। यह सारा साहित्य वैदिकों के अथक प्रयत्नों के बावजूद कालकवलित हो गया। ऋग्वेद में स्वर और मात्रा का भी अन्तर न आने देने वाले वैदिक विद्वान् इस साहित्य की पूर्णतया रक्षा न कर सके। किन्तु काशी ने इस रक्षाकार्य को अनेक विघ्न-बाधाओं, आततायियों के भयंकर आक्रमणों के बावजूद भरसक जारी रखा। इसी का यह परिणाम है कि आज भी काशी में सैकड़ों वैदिक विद्वान् सारी ऐहिक अभिलाषाओं का त्याग कर इस साहित्य की रक्षा के लिए बद्धपरिकर हैं।

विभिन्न शाखाओं के वेदपाठी

ऋग्वेद की आश्वलायन और शांखायन, शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व, कृष्ण यजुर्वेद की हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब, सामवेद की कौथुमी और राणायनी तथा अथर्ववेद की शौनक शाखा के वेदपाठी काशी में आज भी उपलब्ध हैं। उत्तर भारत में माध्यन्दिन संहिता का प्रचार सर्वाधिक है और यह ठीक भी है, क्योंकि चरणव्यूह के कथनानुसार पूरा उत्तरभारत माध्यन्दिन

संहिता का ही प्रचारक्षेत्र है। काशी की महिमा इसी में है कि वह चारों ओर से माध्यन्दिन संहिता के प्रचारक्षेत्र से घिरे रहने पर भी अन्य शाखाओं की रक्षा में भी उसी तत्परता से संलग्न है।

वेदपाठ की रक्षा के लिये प्राचीन भारत ने कितने ही प्रकार के उपायों का आविष्कार किया था। पदपाठ आदि आठ प्रकार के विकृतिपाठ, ऋषि, देवता, छन्द आदि की अनुक्रमणियाँ, चरणव्यूह, सूत्रग्रन्थ, प्रातिशाख्य आदि प्रमुख वैदिक साहित्य पाठविधि और अर्थविधि की सुरक्षा के लिये ही रचा गया था।

परम्परा काशी में ही सुरक्षित

मैकडानल जैसे पाश्चात्य वैदिक विद्वान् और डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या आदि भाषावैज्ञानिक ई० पूर्व १५०० वर्ष के लगभग वैदिक साहित्य का प्रारम्भकाल मानते हैं। विश्व के किसी विद्वान् ने वैदिक साहित्य का रचनाकाल इससे अधिक नवीन नहीं माना है। भारतीय परम्परा तो वेद को अनादि मानती है और लोकमान्य तिलक आदि ने ईसा से ६ हजार वर्ष पूर्व तक वेद का रचनाकाल माना है। यदि हम मैकडानल द्वारा निश्चित समय को ही थोड़ी देर के लिये ठीक मान लें, तो भी ३५०० वर्ष की इस लम्बी अवधि में ऋग्वेद में एक भी पाठभेद का उपलब्ध न होना संसार के उपलब्ध प्राचीन वाङ्मय के इतिहास में असाधारण घटना है और पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीयों के इस अतर्क्य प्रयत्न की मुक्तकण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

लोप हो जाने का भय

किन्तु आज जब कि भारत स्वतन्त्र हो गया है, इस पाठपद्धति के लोप हो जाने की आशंका उत्पन्न हो गई है। ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा और कृष्ण यजुर्वेद की हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब शाखा के वेदपाठी तो दो-चार दर्जन विद्वान् उपलब्ध भी हैं, किन्तु सामवेद, अथर्ववेद और ऋग्वेद की शांखायन शाखा के अध्येता आज दो-चार ही रह गये हैं। इन सभी शाखाओं के वेदाध्यायी आज अपने जराजीर्ण कलेवर से किसी प्रकार पाठविधि को सुरक्षित रखे हुए हैं। उनकी परवर्ती पीढ़ी उनका भार ढोने में अपने को असमर्थ पा रही है और जो कुछ साहसी नवयुवक इसमें लगे हुए हैं, वे भी जीविका की चिन्ता से त्रस्त हैं। जिन वैदिकों के घर पर कभी दूध, दही, घी, शहद की नदियाँ बहती थीं, वे आज फटी लंगोटी और चबेने के ऊपर अपना गुजारा कर रहे हैं अथवा वंशपरम्परागत अपनी विद्या को छोड़कर दुरन्तपूरा उदरदरी को भरने के लिये अन्य उपायों का सहारा ले रहे हैं। फलतः वेदपाठ की यह परम्परा आज विनाश के कंगारे पर लटकी हुई है।

तत्काल संरक्षण की आवश्यकता

वर्मा की समाजवादी सरकार छठें धर्मसंगायन का आयोजन कर आज त्रिपिटकों के शुद्ध संस्करण के लिये लाखों रुपया खर्च कर सकती है, काशी की भौतिक संस्कृति के प्रतीक घाटों की सुरक्षा के लिये करोड़ों रुपये का प्रबन्ध हो सकता है, तो क्या हम काशी की ही नहीं, पूरे भारत की प्राचीनतम संस्कृति के प्रतीक इस शाखास्वाध्याय की संरक्षा के लिये बद्ध-परिकर न होंगे ?

हमको स्मरण रखना है कि इसी पद्धति ने वेदों के प्राचीनतम उच्चारण की प्रक्रिया को आज तक सुरक्षित रखा है और इसी की आधारशिला पर आधुनिक भाषा-शास्त्र का विकास होकर भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भाषा के इतिहास के ज्ञान में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ है। हम एक ओर मृत संस्कृतियों के अध्ययन के लिये अद्भुतालयों और संग्रहालयों की आयोजनाओं पर लाखों रुपया खर्च करें और दूसरी तरफ जीवन्त संस्कृतियों के प्रभा-स्तम्भों की उपेक्षा करें, तो क्या यह हमारे लिये लज्जा की बात न होगी।

भारत आज गणतन्त्र के मार्ग पर अग्रसर है। वर्गविशेष के संकुचित स्वार्थ के घेरे में आज हम कोई भी अच्छी चीज सोच नहीं सकते। हमें शाखास्वाध्याय के क्षेत्र का भी विस्तार करना होगा। हमें केवल यही देखना है कि यह विद्या कहीं 'अवीर्यवती' न हो जाय। वेदाध्यायी केवल पाठविधि तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखते हैं। इस परम्परा से ऊपर उठना होगा। "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्" कहते हुए निरुक्तकार यास्क ने वेद के अर्थज्ञान के पक्ष पर अत्यधिक जोर दिया है। वेदों के अर्थज्ञान की एक लम्बी भारतीय परम्परा है। विगत दो शताब्दियों में यूरोप में भी अर्थज्ञान से सम्बद्ध उत्कृष्ट कोटि का ऊहापोह हुआ है। भारतीय राष्ट्र को आज पाठविधि और अर्थविधि की प्राचीन और नवीन दोनों पद्धतियों के ज्ञाता वैदिकों की आवश्यकता है। तभी हम प्राचीनतम संस्कृति के इन प्रतीकों की पुनः प्रतिष्ठा कर सकते हैं[1]॥

•

१. दैनिक आज १८ फरवरी १९५५ में प्रकाशित।

बौद्ध ग्रन्थ-सम्पत्ति[1]

प्रथम धर्म-संगीति

गोतम बुद्ध के जीवन-काल में उनके उपदेश लिपिबद्ध नहीं हुए थे। उनके महापरिनिर्वाण के बाद उनके यावत् उपदेशों को एक सूत्र में ग्रथित करने के लिये राजगृह में प्रथम धर्म-संगीति का आयोजन किया गया। इस सभा में ५०० भिक्षु सम्मिलित हुए थे। इसलिये बौद्ध अनुश्रुति में यह सभा 'पंचशतिका' के नाम से भी विख्यात है।

विनय और सूत्र का संग्रह

बौद्ध संघ में ज्येष्ठ स्थविर प्रमुख माना जाता है। उस समय आज्ञात कौण्डिन्य सबसे ज्येष्ठ भिक्षु थे। प्रथम संगीति के प्रधान का पद इन्हीं को मिलना चाहिये था। किन्तु ऐसा न होकर महाकाश्यप इसके सभापति बने। इस संगीति में उन्हीं भिक्षुओं को संमिलित किया गया, जो अर्हत्पद पा चुके थे। धर्मभाण्डागारिक आनन्द, जिनकी भगवान् बुद्ध ने बहुश्रुत, धर्मधर कह कर भूरि-भूरि प्रशंसा की थी, आरंभ में इस संगीति में संमिलित नहीं किये गये। चूँकि सूत्रों के संग्रह के लिये उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी, अतः बाद में उनको भी संमिलित किया गया। इस संगीति में विनयधर उपालि ने विनय का तथा आनन्द ने सूत्रों का संगायन किया था। प्रथम संगीति में अभिधर्म के संगायन का उल्लेख प्राचीन पालि-साहित्य में नहीं मिलता। पर इतना स्पष्ट है कि प्रथम संगीति के इस संगायन के आधार पर ही आगे चलकर पालि त्रिपिटक के अभिधर्मपिटक का भी विकास हुआ।

द्वितीय धर्म-संगीति

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद वैशाली में दूसरी संगीति का आयोजन किया गया था। इसमें ७०० भिक्षु संमिलित हुए थे। पालि-साहित्य में यह 'सप्तशतिका' के नाम से प्रसिद्ध है। विनय सम्बन्धी कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों के समाधान के लिये यह सभा बुलाई गई थी। यह आठ मास तक चलती रही। विनय सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान के बाद इसमें धर्म (सूत्र) का

---

१. त्रिपथगा, व० २, अ० १ (बुद्धजयन्ती अंक), पृ० १६३-१७८ तथा अन्यत्र, अक्टूबर, सन् १९५६.

संगायन किया गया था। इन दोनों संगीतियों के विवरण लिपिबद्ध हुए थे या नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। बुद्ध ने अपने जीवनकाल में ही अपनी-अपनी बोली में (सकाय-निरुत्तिया) बुद्ध-वचन के प्रचार की अनुमति दे दी थी। अतः इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संगीतियों में संगीत विनय और धर्म का बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ देश की तत्कालीन विभिन्न बोलियों में मौखिक रूप से प्रचार होता रहा। भविष्य में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची आदि भाषाओं में त्रिपिटक साहित्य उपनिबद्ध किया गया। किन्तु काल की गति से आज हमारे लिये केवल पालि-त्रिपिटक ही सम्पूर्ण उपलब्ध है। गिलगिट हस्तलेखों की उपलब्धि के बाद संस्कृत वा खण्डित त्रिपिटक भी दृष्टिगोचर हुआ है।

ग्रन्थ-सम्पत्ति का विभाजन

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद से आज तक संसार की विभिन्न भाषाओं में अपार बौद्ध वाङ्मय की सृष्टि हुई है। इस अपार ग्रन्थ-सम्पत्ति का परिचय देना सहज नहीं है। हाँ, मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का परिचय प्राप्त करने के लिये हम इस ग्रन्थ-संपत्ति को दो विभागों में बाँट सकते है। पालि ग्रन्थ और संस्कृत ग्रन्थ। तीसरे विभाग में अन्य देशी और विदेशी भाषाओं के ग्रन्थों का समावेश करना उचित होगा।

पालि-ग्रन्थ

बुद्ध के उपदेशों का अनुवाद बुद्ध की मूल पूर्वी बोली से जिन-जिन अन्य प्राचीन भारतीय प्रादेशिक बोलियों में हुआ, उन्हीं में से एक पालि भी थी। इस पालि भाषा को गलती से मगध या दक्षिण बिहार की प्राचीन भाषा मान लिया जाता है। यह उज्जैन से मथुरा तक के मध्यदेश के भूभाग की भाषा पर आधारित एक साहित्यिक भाषा थी। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा केन्द्र की भाषा थी। अतः पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर और दक्षिण-पश्चिम के निवासी इसे सरलता से समझ लेते थे। बुद्ध के उपदेशों का पालि भाषा का और बाद का संस्कृत भाषा का अनुवाद ही विशेष रूप से प्रचलित हुआ और मूल पूर्वी बोली वाला पाठ लुप्त हो गया। पालि स्थविरवाद संप्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा थी। बौद्ध धर्म के साथ सिंहल में पहुँच कर यह वहाँ भी प्रतिष्ठित हुई। सिंहल से यह ब्रह्म देश और श्याम तक पहुँची। इन देशों में बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की भाषा के रूप में यह आज तक प्रतिष्ठित है।

तृतीय धर्म-संगीति

पालि भाषा का साहित्य मुख्यतः दो भागों में विभक्त है—पिटक और अनुपिटक। पिटक तीन हैं—विनय, सूत्र और अभिधम्म। त्रिपिटक का स्वरूप तृतीय संगीति में बहुत कुछ निश्चित हो गया था। यह संगीति सम्राट् अशोक के समय में बुद्ध परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई थी। महा-स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स इसके सभापति थे। इस संगीति में महीनों तक बुद्ध-वचन का संगायन और पारायण हुआ। तृतीय संगीति के बाद ही बुद्ध-धर्म का विदेशों में प्रचार का प्रयत्न आरम्भ हुआ। फलस्वरूप अशोक के प्रव्रजित पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने इस धर्म को सिंहल द्वीप में पहुँचाया। वे अपने साथ उस त्रिपिटक को भी ले गये थे, जिसका अन्तिम रूप तृतीय संगीति में निश्चित हुआ था। वहाँ के राजा देवानांप्रिय तिष्य ने इनका बड़ा सत्कार किया और लंका में महाबिहार की स्थापना हुई। वहाँ प्रारम्भ में मौखिक परम्परा से ही त्रिपिटक का अध्ययन चलता रहा। प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में लंका के राजा वट्टगामणि अभय के समय यह लेखबद्ध कर दिया गया। वही त्रिपिटक आज उपलब्ध है।

विनयपिटक

भिक्षुओं के आचरण का नियमन करने के लिये भगवान् बुद्ध ने जो नियम बनाये, वे प्रातिमोक्ख (प्रतिमोक्ष) कहे जाते हैं। इन्हीं नियमों की चर्चा विनय-पिटक में है। पिटकों में विनयपिटक का स्थान सर्वप्रथम है। 'सुत्तविभंग' विनयपिटक का प्रथम भाग है। इसमें २२७ नियमों का विधान करने वाले सुत्तों (सूत्रों) की व्याख्या है। विनयपिटक का दूसरा भाग 'खन्धक' कहा जाता है। महावग्ग और चुल्लवग्ग ये दोनों 'खन्धक' में समाविष्ट हैं। महावग्ग में प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारण आदि से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का संग्रह है। बुद्ध की साधना का रोचक वर्णन भी इसमें है। चुल्लवग्ग में भिक्षुओं के पारस्परिक व्यवहार और संघाराम संबन्धी तथा भिक्षुणियों के विशेष आचार का संग्रह है। विनयपिटक का अन्तिम अंश 'परिवार' है। इसमें वैदिक अनुक्रमणिकाओं की तरह कई प्रकार की सूचियों का समावेश है।

सूत्रपिटक

सुत्तपिटक में भगवान् के लोकोपकारी उपदेश और संवादों का संग्रह है। यह दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दक-निकाय, इन पांच भागों में विभक्त है।

दीर्घनिकाय में ३४ सुत्त हैं। ये सुत्त लम्बे हैं। अत एव दीघ या दीर्घ कहे-जाते हैं। इनमें शील, समाधि और प्रज्ञा का विस्तृत रोचक वर्णन है। दीर्घ निकाय के प्रथम ब्रह्मजाल सुत्त में तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक मन्तव्यों का संग्रह है। यह भारतीय दर्शनों के प्राचीन इतिहास की सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मज्झिमनिकाय में मध्यम आकार के १५२ सुत्तों का संग्रह है। इसमें चार आर्यसत्य, निर्वाण, कर्म, सत्कायदृष्टि, आत्मवाद, ध्यान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा है। इसके 'अस्सलायन सुत्त' में वर्ण-व्यवस्था के दोष बताये गये हैं और तत्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थिति का चित्रण किया गया है। प्रसिद्ध डाकू अंगुलिमाल की कथा तथा महापरिनिर्वाण सूत्र इसी में है।

संयुत्तनिकाय में ५६ सुत्तों का संग्रह है। इसमें मारविजय, ध्यान, नारी के गुण-दोष और चार आर्यसत्य आदि का वर्णन किया गया है। इसमें काव्य की दृष्टि से पर्याप्त सामग्री है। महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर संवाद की तरह इसमें भी यक्ष-बुद्ध का रोचक संवाद है। इसमें लोक-कविता का भी अच्छा संग्रह है।

अंगुत्तरनिकाय में २३०८ सुत्त हैं। इसका विभाजन बिलकुल संख्याबद्ध है। एक-एक, दो-दो, तीन-तीन—इस प्रकार क्रमानुसार ग्यारह तक उतनी ही संख्या से सम्बन्ध रखने वाले बुद्ध-उपदेशों का संग्रह है। इसमें विषय-वैविध्य होना स्वाभाविक है।

खुद्दकनिकाय में क्षुद्र, अर्थात् छोटे-छोटे उपदेशों का संग्रह है। इस निकाय में निम्न पन्द्रह ग्रन्थों का समावेश है—

१. खुद्दकपाठ—इसमें बौद्ध धर्म में प्रवेश पाने के लिये जो सर्वप्रथम जानना आवश्यक होता है, उसका संग्रह है। जैसे—त्रिशरण, दस शिक्षापद आदि। २. धम्मपद—महाभारत में गीता का जो स्थान है, वही स्थान त्रिपिटक में धम्मपद का है। इसमें नैतिक उपदेशों का संग्रह है। ३. उदान—भगवान् बुद्ध के मुख से समय-समय पर निकले हुए प्रीति-वाक्यों का संग्रह है। ४. इतिवुत्तक—इतिवुत्तक का अर्थ है ऐसा कहा गया या ऐसा तथागत ने कहा। इसमें बुद्ध के ११२ प्रवचनों का संग्रह है। ५. सुत्तनिपात—इसमें बुद्ध के प्राचीनतम उपदेशों का संग्रह है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व का है। ६–७. विमानवत्थु और पेतवत्थु—ये दो ग्रन्थ क्रमशः देवयोनि और प्रेतयोनि का वर्णन करते हैं। ८–९. थेरगाथा और थेरीगाथा—इन दो ग्रन्थों में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों ने अपने-अपने अनुभवों का

काव्यमय वर्णन किया है। ये लोक-काव्य के सुन्दर नमूने हैं। १०. जातक—इसमें भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की ५४७ कथाओं का संग्रह है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास इन कथाओं में सुरक्षित है। नीतिशिक्षण की दृष्टि से इसकी कथाओं ने सम्पूर्ण विश्व के कथा-साहित्य को प्रभावित किया है। ११. निद्देश—इस ग्रन्थ में सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग और खग्गविषाणसुत्त की व्याख्या है। इसमें उन स्थानों, देशों और बन्दरगाहों की सूची है, जिनके साथ भारत का व्यापार ५-६ शताब्दी ई॰ पू॰ में हुआ था। समुद्र, नदी और स्थल मार्गों का भी इसमें पूरा विवरण है। १२. पटिसंभिदामग्ग—इसमें प्राणायाम, ध्यान, कर्म, आर्यसत्य, मैत्री आदि विषयों का निरूपण है। १३. अपदान—जातक में भगवान् बुद्ध के पूर्वभवों के सुचरितों का वर्णन है, तो अपदान में बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के पूर्व जन्मों के महान् कृत्यों का वर्णन है। १४. बुद्धवंश—इसमें गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती २४ अन्य बुद्धों के जीवन-चरित्र वर्णित हैं। १५. चरियापिटक—यह खुद्दकनिकाय का अन्तिम ग्रन्थ है। इसमें ३५ जातकों का संग्रह है। इनमें बुद्ध ने पूर्व जन्म में कौन सी पारमिता किस भव में किस प्रकार पूर्ण की, इसका वर्णन है।

अभिधम्मपिटक

अभिधम्मपिटक में भगवान् बुद्ध के उपदेशों के आधार पर बौद्ध दार्शनिक विचारों की व्यवस्था की गई है। इसमें निम्नलिखित सात ग्रन्थों का समावेश होता है—

१. धम्मसंगणि—इसमें धर्मों का वर्गीकरण और व्याख्या की गई है।

२. विभंग—धम्मसंगणि में प्रतिपादित विषय का यह पूरक ग्रन्थ है।

३. धातुकथा—इसमें धातुओं का प्रश्नोत्तर रूप में व्याख्यान है।

४. पुग्गलपञ्ञत्ति—इसमें व्यक्तियों के नाना प्रकारों का वर्णन है।

५. कथावत्थु—इसका महत्त्व बौद्ध धर्म के इतिहास के लिये सर्वाधिक है। पिटकान्तर्गत होने पर भी इसके लेखक मोग्गलिपुत्त तिस्स हैं, जो तीसरी संगीति के अध्यक्ष थे। इस ग्रन्थ की रचना प्रश्नोत्तर शैली में हुई है। इसमें बौद्ध संघ के १८ निकायों (सम्प्रदायों) के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

६. यमक—इसका मुख्य विषय अभिधर्म में प्रयुक्त शब्दावली की निश्चित व्याख्या करना है।

७. पट्ठान—इसको महाप्रकरण भी कहते हैं। इसमें नाम और रूप के २४ प्रकार के कार्यकारणभाव संबन्ध की चर्चा है और बताया गया है कि

केवल निर्वाण ही अकृत है, अत एव नित्य है। बाकी सब धर्म कृतक और अनित्य हैं।

बुद्ध-वचन का वर्गीकरण

बुद्ध-वचनों का उक्त त्रिपिटक विभाग के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण किया गया है। एक प्रकार से सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों को ५ निकायों में बाँटा गया है और इसके ज्ञाता को **पंचनेकायिक** कहा गया है। यहाँ चार विभाग तो सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों के समान ही हैं, किन्तु पंचम निकाय में विनयपिटक और अभिधम्मपिटक के सारे ग्रन्थों का भी समावेश कर लिया गया है। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण अंगों के रूप में किया गया है। इनके नाम है—सुत्त, गेय्य, वैय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल। बुद्धवचनों का यह विभाजन वेद के अंगों और जैन आगम के अंगों के समान ही है। यही विभाजन प्राचीनतम है। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण ८४ हजार धर्म-स्कन्धों के रूप में है। अशोक द्वारा इनके संमान में ८४ हजार बिहारों का बनवाया जाना बौद्ध परम्परा में अतिप्रसिद्ध है।

पिटक साहित्य का ऊपर संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त यावत् पालि वाङ्मय का अनुपिटक में अन्तर्भाव किया जाता है। पिटक-भिन्न अधिकांश पालि-ग्रन्थों के निर्माण का श्रेय लंका के बौद्ध भिक्षुओं को है।

मिलिन्दप्रश्न, नेतिप्पकरण और पेटकोपदेश

अनुपिटक साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ मिलिन्दप्रश्न है। ग्रीक सम्राट् मिनेंडर (ई० पू० १ शतक) को ही मिलिन्द कहा गया है और आचार्य नागसेन के साथ इसके संवाद की योजना इन ग्रन्थ में होने से इसका सार्थक नाम मिलिन्दप्रश्न है। मिलिन्दप्रश्न के समान ही नेतिप्पकरण भी प्राचीन ग्रन्थ है, जो महाकच्चान की कृति मानी जाती है। बुद्ध के उपदेशों का व्यवस्थित सार इसमें है। इसी कोटि का एक अन्य प्रकरण ग्रन्थ पेटकोपदेश महाकच्चान का बनाया माना जाता है।

बुद्धघोष और धम्मपाल की अट्ठकथाएँ

प्राचीन सीलोनी अट्ठकथाओं के आधार पर बुद्धघोष ने (४-५ शता०) विनयपिटक, दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर, संयुत्त निकायों की टीका की। इन्होंने ही संपूर्ण अभिधम्मपिटक की व्याख्या लिखी। ये व्याख्याएँ अट्ठकथा कही जाती हैं। धम्मपद और जातक की अट्ठकथाएँ भी बुद्धघोष कृत हैं, ऐसी

परम्परागत मान्यता है। इन्होंने ही अनुराधपुर के महाविहार के स्थविरों की आज्ञा के अनुसार विसुद्धिमग्गो नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ एक तरह से समस्त पिटक ग्रन्थों की कुंजी के समान है। अतः इसे तिपिटक-अट्ठकथा भी कहा जाता है। इसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का तीन स्कंधों और २३ अध्यायों में विस्तार से वर्णन है। इस ग्रन्थ की धम्मपाल स्थविर ने पाँचवीं शताब्दी में परमत्थमंजूषा नाम की टीका की। इसी धम्मपाल ने थेरगाथा, थेरीगाथा, विमानवत्थु आदि खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों की टीका भी की है।

लंका और वर्मा का अनुपिटक साहित्य

लंका के प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ दीपवंश और महावंश की रचना इसी काल में हुई। महावंश में आगे चल कर चूलवंश के नाम से परिवर्धन भी हुआ। १० वीं और १२ वीं शताब्दी के बीच में आचार्य अनिरुद्ध ने अभिधम्मत्थसंगहो नामक एक ग्रन्थ लिखा। अभिधम्मपिटक में प्रवेश पाने के लिये यह ग्रन्थ बेजोड़ है। १२ वीं शताब्दी में राजा पराक्रमबाहु के समय में लंका में आचार्य बुद्धघोष आदि की अट्ठकथाओं पर पालि भाषा में टीकाएँ लिखने का आयोजन किया गया। प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु सारिपुत्र और उसकी शिष्य-मंडली ने इस दिशा में १२ वीं और १३ वीं शताब्दी में सराहनीय कार्य किया। १५ वीं शताब्दी में वर्मा में बौद्ध साहित्य के अध्ययन की बड़ी प्रगति हुई। वर्मी भिक्षुओं के अध्ययन का प्रधान विषय अभिधर्म रहा है। इस दिशा में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे, जिनमें अभिधम्मत्थसंगहो का एक लंबा सहायक साहित्य है।

अनुपिटक साहित्य का परिचय देते हुये हम पं० धर्मानन्द कौशाम्बी को नहीं भूल सकते। इन्होंने अनुपिटक साहित्य को दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भेंट किये हैं—एक विसुद्धिमग्गदीपिका नामक विसुद्धिमग्ग की टीका और दूसरा अभिधम्मत्थसंगहो पर नवनीत टीका। विसुद्धिमग्ग के प्रामाणिक संस्करण के सम्पादनार्थ इनको चार बार अमेरिका आमन्त्रित किया गया था।

बौद्ध धर्म सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थ

चुल्लवग्ग (५।३३।१) में लिखा है कि किसी समय दो भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि आप बुद्धवचन का छन्दस् (संस्कृत भाषा) में ही प्रयोग करने की आज्ञा प्रदान करें। उस समय बुद्ध ने इसकी अनुमति नहीं दी। किन्तु बाद में जब बौद्ध धर्म मध्यप्रदेश में फैला, जहाँ संस्कृत का प्राधान्य था, प्रवचन का संग्रह संस्कृत में हुआ। ऊपर कथावस्तु का परिचय देते हुए कहा गया है कि उसमें १८ निकायों के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। वस्तुतः

इसमें अन्य १७ मतों का निराकरण करते हुए स्थविरवाद की स्थापना की गई है। वैशाली की द्वितीय संगीति में ही विनय संबन्धी १० नियमों को लेकर संघ में मतभेद हो गया था और वह मूलतः तीन भागों में विभक्त हो गया था—(१) स्थविरवाद, (२) सर्वास्तिवाद और (३) महासांघिक। स्थविरवाद के साहित्य का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। सर्वास्तिवाद और महासांघिकों का साहित्य संस्कृत में उपनिबद्ध है।

सर्वास्तिवादी त्रिपिटक

सर्वास्तिवाद का अधिकांश मूल साहित्य लुप्त हो चुका है। चीनी और तिब्बती अनुवादों में ही आज वह सुरक्षित है। सर्वास्तिवाद के समग्र विनय-पिटक का चीनी अनुवाद इत्सिग ने किया था। सर्वास्तिवादियों का अपना सूत्रपिटक था। यह पालि पिटक से बहुत कुछ मिलता जुलता था। सर्वास्तिवादी चार आगम मानते थे—दीर्घ, मध्यम, संयुक्त और एकोत्तर। इनके कुछ अंश पूर्वी तुर्किस्तान में मिले। सर्वास्तिवादियों के अभिधर्मपिटक में सात ग्रन्थ हैं, ये हैं ज्ञानप्रस्थान और उसके ६ पाद। कात्यायनीपुत्र का ज्ञानप्रस्थान मुख्य ग्रन्थ है और उसके धर्मस्कंधपाद संगीतिपर्यायपाद, प्रज्ञप्तिपाद, विज्ञान-कायपाद, प्रकरणपाद तथा धातुकायपाद ये छः पाद ग्रन्थ हैं।

विभाषाशास्त्र, वैभाषिक और सौत्रान्तिक

ज्ञानप्रस्थानशास्त्र सर्वास्तिवादियों का प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की विभाषा नाम की एक महती व्याख्या है। विभाषा के रचयिता वसुमित्र थे। ये सम्राट् कनिष्क के समय में हुई चतुर्थ संगीति के प्रधान थे। इस ग्रन्थ का पूरा नाम महाविभाषाशास्त्र है। यह बौद्ध अभिधर्म का एक प्रकार का विश्वकोश है। इसका चीनी अनुवाद ४ हजार पृष्ठों का है। विभाषा को प्रमाण मानने वाले वैभाषिक कहे जाते हैं। सर्वास्तिवादी और वैभाषिक अभिधर्म को बुद्धवचन मानते हैं। सौत्रान्तिक अभिधर्मपिटक को बुद्धवचन नहीं मानते। उनका कहना है कि सूत्र में ही भगवान् ने अभिधर्म की शिक्षा दी है। सूत्र को ही प्रमाण मानने से ये सौत्रान्तिक कहे जाते हैं। ये क्षणसन्ततिवादी और परमाणुवादी हैं। ये बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु इनके मत में पदार्थ अनुमानगम्य हैं, प्रत्यक्ष के विषय नहीं। वैभाषिक भी बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु वे पदार्थों को प्रत्यक्षगम्य भी मानते हैं।

वैभाषिक

आचार्य वसुमित्र रचित महाविभाषाशास्त्र वैभाषिक मत का प्रथम ग्रन्थ है। इसी के आधार पर चतुर्थ शतक में वसुबन्धु ने अपने अभिधर्मकोश की

और संघभद्र ने अभिधर्मसमयप्रदीपिका की रचना की। अभिधर्मकोश विशेषतः वैभाषिक मत से संबद्ध होते हुए भी सामान्यतः संपूर्ण बौद्ध दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। कोश के रचयिता वसुबन्धु को द्वितीय बुद्ध कहा जाता है। आचार्य वसुबन्धु का सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभिधर्मकोश है। स्थिरमति, गुणमति, दिङ्नाग और यशोमित्र जैसे प्रसिद्ध विद्वानों ने इसकी व्याख्याएँ की हैं। वसुबन्धु ने सांख्यसप्तति के खंडन में परमार्थसप्तति नाम का ग्रन्थ लिखा। इनके न्यायविषयक ग्रन्थ तर्कशास्त्र और वादविधि का न्याय-ग्रन्थों के प्रसंग में तथा विंशिका और त्रिंशिका का परिचय विज्ञानवाद के प्रसंग में दिया जायगा। इनके अन्य ग्रन्थ ये हैं—त्रिस्वभावनिर्देश, पंचस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति और कर्मसिद्धिप्रकरण।

संघभद्र

वसुबन्धु का सौत्रान्तिक मतवाद की और भी झुकाव था। संघभद्र शुद्ध वैभाषिक थे। वसुबन्धु के मत का खण्डन करने के लिये इन्होंने अभिधर्म-न्यायानुसार नाम के ग्रन्थ की रचना की। अभिधर्मसमयप्रदीपिका में इन्होंने वैभाषिक सिद्धान्तों का संक्षेप में प्रतिपादन किया। इसके अतिरिक्त वैभाषिक संप्रदाय के ये प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—घोषक रचित अभिधर्मामृतशास्त्र, धर्मोत्तरकृत अभिधर्महृदय, गुणमति का लक्षणानुसारशास्त्र आदि।

सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिक मतवाद के प्रवर्तक कुमारलब्ध या कुमारलात माने जाते हैं। बौद्ध धर्म के चार प्रकाशमान सूर्यों में ये अन्यतम हैं। इनका कल्पनामण्डितिका नाम का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है। श्रीलब्ध और हरिवर्मा कुमारलात के दो प्रसिद्ध शिष्य थे। श्रीलब्ध का विभाषाशास्त्र नामक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। हरिवर्मा ने सत्यसिद्धिशास्त्र की रचना की थी। धर्मत्रात और बुद्धदेव भी इस संप्रदाय के आचार्य थे। वसुबन्धु यद्यपि वैभाषिक थे, किन्तु सौत्रान्तिकवाद की ओर उनका विशेष झुकाव था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्मकोश और उसके भाष्य में उन्होंने स्थल-स्थल पर इसका परिचय दिया है। अभिधर्मकोश के व्याख्याकार यशोमित्र तो स्पष्ट ही सौत्रान्तिक थे। इनकी व्याख्या का नाम स्फुटार्था है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से हमें ऐसे आचार्यों और उनके ग्रन्थों का परिचय मिलता है, जो आज नामशेष हो चुके हैं। सौत्रान्तिक मतवाद का साहित्य प्रायः लुप्त हो चुका है। यशोमित्र की यह व्याख्या और अन्य संप्रदायों के ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत साहित्य ही आज इस मतवाद को समझने का एकमात्र आधार है।

महासांघिक

महासांघिक लोकोत्तरवादी थे और इसी मतभेद के कारण वे स्थविरवादियों से पृथक् हो गये थे। स्थविरवादियों के मत से बुद्ध यद्यपि लोक-ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ थे, तथापि बुद्धकाय जरा, व्याधि, मरण इत्यादि दुःखों से विमुक्त न था। महासांघिकों के विचार में बुद्ध एक विशेष अर्थ में लोकोत्तर थे। इसी निकाय से विकसित होते होते महायान की उत्पत्ति हुई।

महावस्तु

महासांघिकों के विनय का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ महावस्तु या महावस्तु-अवदान है। महावस्तु का अर्थ है महान् विषय या कथा, अर्थात् उपसंपदा इत्यादि बौद्ध विनय संबन्धी कथा। इसमें भगवान् बुद्ध का लोकोत्तर जीवनचरित्र, संघ-स्थापना, बोधिसत्त्व-चर्या, बोधिसत्त्व की १० भूमियाँ आदि विषय वर्णित हैं। महायान धर्म के बीज इस ग्रन्थ में निहित हैं। समग्र ग्रन्थ की रचना संकर संस्कृत में हुई हैं।

संकर संस्कृत

प्रोफेसर एजर्टन के मत से यह संकर संस्कृत मूलतः मध्यप्रदेश की कोई प्राचीन बोलचाल की भाषा थी या उस पर आश्रित थी। महायानसूत्रों की रचना भी इसी भाषा में हुई, जिनका वर्णन आगे दिया जा रहा है। संकर संस्कृत पर शुद्ध संस्कृत का प्रभाव बढ़ता गया और सूत्रग्रन्थों के बाद के बौद्ध साहित्य की भाषा शुद्ध संस्कृत ही अंगीकृत हुई।

सूत्र-साहित्य

महायानसूत्र अनेक हैं। इनमें सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज और दशभूमीश्वर इन ९ ग्रन्थों का विशेष आदर है। इन्हें नेपाल में नवधर्म (धर्मपर्याय) कहते हैं। इन्हें वैपुल्य सूत्र भी कहा जाता है।

महायान के वैपुल्यसूत्रों का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक है। यह ग्रन्थ चीन, जापान आदि महायानधर्मी देशों में बहुत पवित्र माना जाता है। चीनी परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ पर बोधिसत्त्व वसुबन्धु ने सद्धर्मपुण्डरीकशाखा नाम की टीका लिखी थी।

ललितविस्तर महायान सूत्र-ग्रन्थों में बहुत पवित्र माना जाता है। इसमें बुद्धचरित्र का वर्णन है। भूमण्डल पर भगवान् बुद्ध ने जो क्रीड़ा (ललित) की, उसका वर्णन होने के कारण ग्रन्थ का नाम ललितविस्तर पड़ा। अभिनिष्क्रमणसूत्र के अनुसार इसको महाव्यूह भी कहते हैं।

महायान के वैपुल्यसूत्रों में दो प्रकार के ग्रन्थ पाये जाते हैं। एक में बुद्ध, बोधिसत्त्व, बुद्धयान की महत्ता का वर्णन है। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं। दूसरा प्रकार उन ग्रन्थों का है, जिनमें महायान के मुख्य सिद्धान्त **शून्यता** की महत्ता वर्णित है। प्रज्ञापारमितासूत्रों की इनमें गणना होती है। एक ओर **शून्यता** और दूसरी ओर महाकरुणा, इन दो सत्यों का समन्वय करने का प्रयत्न प्रज्ञापारमितासूत्रों में दिखाई देता है। आगे चलकर बोधिचर्यावतार में आर्य शान्तिदेव ने इसी समन्वय को व्यवस्थित रूप दिया है। महायान साहित्य में प्रज्ञापारमितासूत्रों का स्थान महत्त्व का है। इन्हें हम आगम ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इनकी संवादशैली प्राचीन है। दूसरे महायान-सूत्रों में बुद्ध प्रायः किसी बोधिसत्त्व से संवाद करते हैं। यहाँ बुद्ध सुभूति नाम के स्थविर से प्रश्न करते हैं। शून्यता के संबन्ध में इन ग्रन्थों में सुभूति और सारिपुत्र इन दो स्थविरों का संवाद बहुत ही तात्त्विक और गंभीर है। प्रज्ञापारमितासूत्रों की रचना भी प्राचीन है। १७९ ई० में प्रज्ञापारमितासूत्र का चीनी भाषान्तर हुआ था, जिससे सम्भव है कि ई० पू० काल में ही इसकी रचना हुई हो।

पारमिता-साहित्य

नेपाली परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता-महायानसूत्र सवा लाख श्लोकों का था और क्रमशः घट कर एक लाख, २५ हजार, १० हजार और ८ हजार श्लोकों का सूत्र-ग्रन्थ बना। दूसरी परम्परा के अनुसार मूल ग्रन्थ ८ हजार श्लोकों का था, जिसे अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता कहते हैं। उसी को बढ़ा कर अनेक पारमिता-ग्रन्थ बनाये गये। यह परम्परा अधिक ठीक मालूम होती है। ह्वेनसांग ने अपने महाप्रज्ञापारमितासूत्र में १२ भिन्न-भिन्न प्रज्ञा-पारमितासूत्रों का अनुवाद किया। चीनी और तिब्बती भाषा में इसके और भी अनेक प्रकार हैं, जिसमें एक लक्ष श्लोकों से लेकर एकाक्षरी प्रज्ञापारमिता-भी संगृहीत है। संस्कृत में निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१. शतसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता, २. पंचविंशतिसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता, ३. अष्टसाहस्रिका०, ४. सार्धद्विसाहस्रिका०, ५. सप्तशतिका०, ६. वज्रच्छेदिका०, ७. अल्पाक्षरा०, ८. प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र।

महायान बौद्ध धर्म प्रमुखतः **शून्यवाद** और विज्ञानवाद नाम के दो निकायों में विभक्त है। प्रज्ञापारमितासूत्र-ग्रन्थों में **शून्यवाद** का सिद्धान्त प्रतिपादित है। विज्ञानवाद का प्रारम्भ **शून्यवाद** के बाद और **शून्यवाद** की आत्यन्तिकता के विरोध में हुआ। लंकावतारसूत्र विज्ञानवाद का मूल ग्रन्थ है। विज्ञान

ही सत्य है, विज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता नहीं है, यह इस वाद की मान्यता है।

कारण्डव्यूह में अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की महिमा का वर्णन है। इसे गुणकारण्डव्यूह भी कहते हैं। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनों में मिलता है।

अक्षोभ्यव्यूह और करुणापुण्डरीक नाम के दो सूत्र-ग्रन्थों में अनुक्रम से बुद्ध अक्षोभ्य और पद्मोत्तर के लोकों का वर्णन है।

सुखावतीव्यूह नामक महायानसूत्र में अभिताभ के सुखावती लोक का वर्णन है।

बोधिसत्त्व उपासना का परम प्रकर्ष हम आर्यबुद्धावतंसक नाम के महायान सूत्र में पाते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख महाव्युत्पत्ति में पाया जाता है। जापान का केगोन निकाय इसे मान्यता देता है।

अवतंसकसूत्र के समान ही एक और ग्रन्थ है, जिसे रत्नकूट कहते हैं। यह ४९ सूत्रों का एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें मंजुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूह, बोधिसत्त्वपिटक, पितापुत्रसमागम, काश्यपपरिवर्त, राष्ट्रपालपरिपृच्छा आदि अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ संमिलित हैं। तारानाथ के अनुसार रत्नकूटधर्मपर्याप्त नाम का ग्रन्थ, जिसमें १ हजार अध्याय थे, कनिष्क के पुत्र के समय में रचा गया था।

शून्यवाद

हम जानते हैं कि प्रज्ञापारमितासूत्रों में शून्यता का विस्तृत विवेचन मिलता है। शून्यवाद को व्यवस्थित रूप देने वाले सर्वप्रथम आचार्य नागार्जुन (२ शताब्दी) थे। ह्वेनसांग के कथनानुसार अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव और कुमारलब्ध (कुमारलात) समकालीन थे। वे बौद्ध धर्म के चार प्रकाशमान सूर्य कहे जाते हैं। नागार्जुन का मुख्य ग्रन्थ माध्यमिकसूत्र (माध्यमिककारिका) है। इस ग्रन्थ में ५०६ कारिकाएँ हैं। नागार्जुन ने इस ग्रन्थ पर स्वयं एक टीका लिखी थी, जिसका नाम अकुतोभया है। अब इसका केवल तिब्बती अनुवाद पाया जाता है। बुद्धपालित और भावविवेक की टीका का भी केवल तिब्बती अनुवाद मिलता है। चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा नामक संस्कृत टीका प्रकाशित हो चुकी है। नागार्जुन के अन्य ग्रन्थ युक्तिषष्टिका, शून्यतासप्तति, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, महायानविंशक और विग्रहव्यावर्तनी हैं। धर्मसंग्रह और सुहृल्लेख के रचयिता भी नागार्जुन माने जाते हैं।

आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति

नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने चतुःशतक की रचना की थी। इस ग्रन्थ में १६ अध्याय हैं। धर्मपाल और चन्द्रकीर्ति ने इस पर टीकाएँ लिखी थीं।

इनका दूसरा ग्रन्थ चित्तविशुद्धिप्रकरण है। मुष्टिप्रकरण भी आर्यदेव की कृति मानी जाती है। मध्यमकावतार नामक शून्यवाद के मौलिक ग्रन्थ के रचयिता चन्द्रकीर्ति छठी शताब्दी में माध्यमिक दर्शन के प्रधान मनीषी थे। बुद्धपालित और भावविवेक के प्रसिद्ध शिष्य कमलबुद्धि से उन्होंने नागार्जुन के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। माध्यमिककारिका और चतु:शतक पर भी इनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं।

शान्तिदेव

शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार नाम के ग्रन्थों के रचयिता शान्तिदेव सातवीं शताब्दी में शून्यवाद के प्रख्यात आचार्य थे। शिक्षासमुच्चय २७ कारिकाओं का ग्रन्थ है। इसमें महायान के आचार और बोधिसत्त्व के आदर्श वर्णित हैं। स्वयं ग्रन्थकार ने ही इसकी विस्तृत व्याख्या की है। बोधिचर्यावतार में दस परिच्छेद हैं। इसमें छः पारमिताओं का विशद वर्णन किया गया है। शून्यवाद को समझने के लिये यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है।

शून्यवाद के अन्तिम आचार्य शान्तरक्षित (८ वीं शताब्दी) हैं। इनका ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह कमलशील की टीका के साथ बड़ोदा से प्रकाशित हो चुका है। शान्तरक्षित नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य थे। तिब्बत के तत्कालीन राजा के निमन्त्रण पर तिब्बत जाकर इन्होंने ७४९ ई० में समये नामक संघाराम की स्थापना की थी।

विज्ञानवाद

शून्यवादी दर्शन में जगत् की सत्ता मायिक है, शून्य ही परम तत्त्व है। इस मत के विरोध में विज्ञानवादी योगाचार संप्रदाय का जन्म हुआ। इनके मत में विज्ञान को परम सत्य माना गया है। अभिसमयालंकारकारिका के रचयिता आर्य मैत्रेयनाथ योगाचार विज्ञानवाद के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। यह ग्रन्थ पंचविंशतिसाहस्त्रिका-प्रज्ञापारमितासूत्र की टीका है। यह टीका योगाचार की दृष्टि से लिखी गई है। इस पर संस्कृत और तिब्बती भाषा में २१ टीकाएँ उपलब्ध हैं। आर्य मैत्रेयनाथ के अन्य ग्रन्थ महायानसूत्रालंकार-कारिका और मध्यान्तविभाग हैं।

असंग

मैत्रेयनाथ के शिष्य आर्य असंग ने विज्ञानवाद को व्यवस्थित रूप दिया। ये आचार्य वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ महायानसूत्रालंकार-

(व्याख्या) है। योगाचारभूमिशास्त्र या सप्तदशभूमिशास्त्र भी इन्हीं की कृति है। इसमें योगाचार के साधन मार्ग का विस्तृत वर्णन है। विज्ञानवाद को योगाचार के नाम से प्रसिद्ध करने का श्रेय इसी ग्रन्थ को है। इसके अतिरिक्त इनके महायानसंपरिग्रह, प्रकरण-आर्यवाचा, महायानाभिधर्मसंगीति, वज्र-च्छेदिकाटीका आदि ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

वसुबन्धु

आचार्य वसुबन्धु ने वृद्धावस्था में अपने ज्येष्ठ भ्राता असंग की प्रेरणा से योगाचार मत को अंगीकार कर लिया था। विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा के लिये इन्होंने विंशिका और त्रिंशिका नाम के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। विंशिका पर वसुबन्धु ने स्वयं भाष्य लिखा है। त्रिंशिका पर ८ टीकाएँ लिखी गईं। इन सभी टीकाओं के आधार पर ह्वेनसांग ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नाम का ग्रन्थ लिखा। इसका हिन्दी में अनुवाद स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ बौद्ध धर्म-दर्शन में दिया है। वसुबन्धु के अन्य ग्रन्थ सद्धर्म-पुण्डरीकटीका, महापरिनिर्वाणसूत्रटीका और वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताटीका माने जाते हैं।

स्थिरमति

आचार्य स्थिरमति वसुबन्धु के शिष्य थे। इनके रचित ग्रन्थ ये हैं—काश्यपपरिवर्तटीका, सूत्रालंकारवृत्तिभाष्य, त्रिंशिकाभाष्य, पंचस्कन्धप्रकरण-भाष्य, अभिधर्मकोषभाष्यवृत्ति, मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, मध्यान्तविभाग-सूत्रभाष्यटीका।

बौद्ध न्याय

दिङ्नाग आचार्य वसुबन्धु के प्रसिद्ध शिष्य थे। यह बौद्ध न्याय के प्रतिष्ठा-पक माने जाते हैं। नागार्जुन-रचित विग्रहव्यावर्तनी बौद्ध न्याय का प्रथम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में नागार्जुन ने तर्कों के द्वारा व्यावहारिक रूप से प्रमाणों को ही असत्य सिद्ध कर दिया है। विग्रहव्यावर्तनी के बाद वसुबन्धु रचित दो न्याय ग्रन्थों का पता चलता है। ये ग्रन्थ मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं। पहले ग्रन्थ तर्कशास्त्र का परमार्थ ने ५५० ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इसमें तीन परिच्छेद हैं और उनमें पंचावयव जाति तथा निग्रहस्थान का वर्णन है। इनका दूसरा ग्रन्थ वादविधि या वादविधान है। धर्मकीर्ति के बाद न्याय की व्याख्या में शान्तरक्षित ने वसुबन्धु के वादविधान को उद्धृत किया है। उद्योतकर ने अपने न्यायवार्त्तिक में और षडदर्शनों के व्याख्याकार प्रसिद्ध

दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में वादविधान को बहुशः उद्धृत किया है। ये बौद्ध न्याय के प्रारंभिक ग्रन्थ हैं। आगे चलकर बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, मनोरथनन्दी, रत्नकीर्ति आदि के तथा नैयायिक वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त, उदयन आदि के परस्पर खण्डन-मण्डन के रूप में महान् भारतीय न्यायशास्त्र की प्रतिष्ठा हुई।

आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति

बौद्ध न्याय के इतिहास में दिङ्नाग (५ वीं शताब्दी) देदीप्यमान सूर्य के समान हैं। ये प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश और आलम्बनपरीक्षा के रचयिता हैं। कुछ लोग न्यायप्रवेश को शंकरस्वामी की कृति मानते हैं। ये दिङ्नाग के साक्षात् शिष्य थे। ईश्वरसेन धर्मकीर्ति के गुरु थे। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। धर्मकीर्ति ने न्याय पर सात ग्रन्थ लिखे। इनके नाम इस प्रकार हैं—प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, चोदना-नामप्रकरण और सन्तानान्तरसिद्धि। धर्मकीर्ति तक आकर बौद्ध न्याय व्यवस्थित हो गया। उन्होंने दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय पर प्रमाणवार्त्तिक नाम के ग्रन्थ की रचना की। प्रमाणवार्त्तिक, न्यायबिन्दु और हेतुबिन्दु संस्कृत में उपलब्ध हैं और प्रकाशित हो चुके हैं।

दिङ्नाग-साहित्य

दिङ्नाम के प्रमाणसमुच्चय को लेकर विशाल साहित्य की रचना हुई है। इस पर जिनेन्द्रबुद्धि की टीका और धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्त्तिक प्रसिद्ध है। प्रमाणवार्त्तिक पर स्वयं धर्मकीर्ति ने टोका लिखी और इस टीका पर भी कर्णगोमिन् को टीका उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त मनोरथनन्दी, देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, रविगुप्त और शंकरानन्द ने प्रमाणवार्त्तिक पर टीकाएँ लिखी हैं। इसपर प्रज्ञाकरगुप्त का प्रमाणवार्त्तिकालंकार नाम का भाष्य भी उपलब्ध है। पटना से यह प्रकाशित हो चुका है। इस भाष्य पर भी यमारि और जयानन्त की टीकाएँ उपलब्ध हैं। धर्मकीर्ति के बाद धर्मोत्तराचार्य बौद्ध न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुए। इन्होंने धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय और न्यायबिन्दु पर प्रसिद्ध टीकाएँ लिखीं। इनकी न्यायबिन्दुटीका दुर्वेक मिश्र की धर्मोत्तरप्रदीप नामक टीका के साथ पटना से अभी हाल में प्रकाशित हुई है। इनके अन्य ग्रन्थ अपोहप्रकरण, क्षणभंगसिद्धि, परलोकसिद्धि आदि हैं। इनके अतिरिक्त रविगुप्त, विनीतदेव, शंकरानन्द, जिनमित्र, जयानन्त, रत्नकीर्ति, दीपंकर श्रीज्ञान, मोक्षाकरगुप्त आदि भी प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक हो चुके हैं।

बौद्ध तन्त्र

महायानसूत्रों के प्रसंग में तथागतगुह्यक या गुह्यसमाज का परिचय दिया गया था। यह बौद्ध तन्त्रशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है। बौद्ध तन्त्रों का विकास मन्त्रयान, वज्रयान, कालचक्रतन्त्रयान तथा सहजयान के रूप में हुआ था। बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय के विश्वास के अनुसार भगवान् बुद्ध ने धान्यकटक में मन्त्रनय के तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। धान्यकटक आज गुण्टूर जिले में धरणीकोट (अमरावती) के नाम से प्रसिद्ध है।

मंजुश्रीमूलकल्प

मंजुश्रीमूलकल्प बौद्ध तन्त्र का उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ है। इसकी रचना द्वितीय-तृतीय शताब्दी में हो चुकी थी। इसमें मन्त्र, धारिणी आदि का वर्णन है।

तथागतगुह्यक

महायानसूत्रान्तर्गत तथागतगुह्यक का बौद्ध तान्त्रिक साधना के विकास में अतुलनीय प्रभाव है। इस पर नागार्जुन, कृष्णाचार्य, लीलावज्र, शान्तिदेव आदि विशिष्ट विद्वानों के भाष्य हैं। इतना ही नहीं, परवर्ती काल के दीपंकर श्रीज्ञान, कुमारकलश, ज्ञानकीर्ति, आनन्दगर्भ, चन्द्रकीर्ति, मन्त्रकलश, ज्ञानगर्भ तथा दीपंकरभद्र आदि बहुसंख्यक सिद्ध और विद्वान् बौद्ध पण्डितों ने इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर महत्त्वपूर्ण नाना ग्रन्थों की रचना की है।

वज्रयान साहित्य

बौद्ध तन्त्र की सौम्य अवस्था का नाम मन्त्रयान और उग्र रूप की संज्ञा वज्रयान है। वज्रयान का उत्पत्ति-स्थान श्रीपर्वत है। वज्रयान का अधिकांश साहित्य, जो संस्कृत में उपनिबद्ध था, लुप्त हो चुका है। तिब्बती तंजूर में अनुवाद के रूप में वह आज भी सुरक्षित है। वज्रयान से सम्बद्ध सरहपा, शबरपा, लुइपा, पद्मवज्र आदि ८४ सिद्ध हो चुके हैं। इनका पर्याप्त परिचय तिब्बती ग्रन्थों में मिलता है। हेवज्रतन्त्र, गुह्यसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, साधनमाला, साधनसमुच्चय, ज्ञानसिद्धि, अद्वयसिद्धि, सहजसिद्धि आदि संस्कृत के ग्रन्थों में भी सिद्धों का पर्याप्त साहित्य उपलब्ध होता है। १२वीं शताब्दी में बौद्ध तन्त्र के अद्वयवज्र नाम के एक प्रसिद्ध आचार्य हो चुके हैं। इन्होंने वज्रयान के प्रतिपादन के लिये २१ ग्रन्थ लिखे थे।

कालचक्रयान और सहजयान

सेकोद्देशटीका और विमलप्रभा कालचक्रयान के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सहजयान हिन्दी में सहजिया संप्रदाय के नाम से पर्याप्त परिचित है। संस्कृत, अपभ्रंश बंगला और पुरानी हिन्दी में इस संप्रदाय का पर्याप्त साहित्य विद्यमान है।

बौद्ध साहित्य

अश्वघोष के ग्रन्थों के परिचय के बिना बौद्ध संस्कृत साहित्य का परिचय पूरा नहीं हो सकता। अश्वघोष महान् कवि हो गये हैं। चीनी और तिब्बती साक्ष्य के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के समकालीन थे। यह प्रसिद्ध है कि सम्राट् कनिष्क के समय में हुई चतुर्थ धर्म-संगीति में अश्वघोष ने प्रमुख भाग लिया था। महायानी देशों में प्रचलित त्रिपिटक का संकलन इसी संगीति में किया गया था। अश्वघोष अपने को साकेतक कहते हैं और अपनी माता का नाम सुवर्णाक्षी बताते हैं। रामायण का उनके ग्रन्थों पर विशेष प्रभाव है। अश्वघोष जन्मना ब्राह्मण थे। बाद में वह बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। इनके बुद्धचरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्रप्रकरण नाम के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। चीनी यात्री इत्सिग के समय में इनका ग्रन्थ बुद्धचरित पूरे भारत में और जावा, सुमात्रा आदि में भी बड़ा लोकप्रिय हो चुका था। इस महाकाव्य में २८ सर्गों में बुद्ध का चरित्र वर्णित है। पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सौन्दरनन्द महाकाव्य में बुद्ध के भाई नन्द के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कथा है। इसमें १८ सर्ग हैं। समग्र ग्रन्थ उपलब्ध है। शारिपुत्रप्रकरण एक नाटक है। इसमें ९ अंक हैं। इसमें बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कथा वर्णित है। इसका कियदंश ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से ग्रन्थ अश्वघोष रचित माने जाते हैं, किन्तु उसमें विद्वानों में परस्पर मतभेद है। तारानाथ के अनुसार मातृचेट अश्वघोष का दूसरा नाम है। इत्सिग का कहना है कि मातृचेट का स्तोत्र अत्यन्त लोकप्रिय था। इत्सिग ने स्वयं इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। सौभाग्य से मध्य-एशिया में मूल स्तोत्र का एक बहुत बड़ा भाग खोज में मिल गया है।

आर्यशूर

अश्वघोष के बाद उत्कृष्ट बौद्ध कथा-साहित्य का विकास हुआ। इसमें आर्यशूर की जातकमाला अतिप्रसिद्ध है। जातकमाला में ३४ जातक-कथाओं का संग्रह है। इसमें की लगभग सभी कथाएँ पालि जातक में पाई जाती हैं, इत्सिग जातकमाला की भी प्रशंसा करता है और कहता है कि इसका उस

समय बड़ा आदर था। अजन्ता की गुफाओं में जातकमाला के दृश्य खचित हैं। आर्यशूर का समय चौथी शताब्दी है।

कथा-साहित्य

बौद्ध कथा-साहित्य अवदान साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। अवदान कथाओं का सबसे प्राचीन संग्रह अवदानशतक है। तीसरी शताब्दी में इसका चीनी अनुवाद हुआ था। इसकी कथाओं में बुद्धपूजा की प्रधानता है, तथापि बोधिसत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता। दिव्यावदान का संग्रह बाद का है। इसमें कुछ प्राचीन कथाएँ भी हैं। दिव्यावदान मूलतः विनय-ग्रन्थ है। दिव्यावदान में अशोकावदान और कुमारलब्ध (कुमारलात) की कल्पनामण्डितिका के अनेक उद्धरण हैं। अवदानशतक की सहायता से बाद में कल्पद्रुमावदानमाला, अशोकावदानमाला आदि अनेक अवदानमालाओं की रचना हुई थी। अवदानों के अन्य संग्रह द्वाविंशत्यवदान, भद्रकल्पावदान और विचित्रकर्णिकावदान आदि हैं। ये सभी ग्रन्थ प्रायः अप्रकाशित हैं। क्षेमेन्द्र कवि की अवदानकल्पलता १०५२ में लिखी गई है। तिब्बत में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है। इस संग्रह में १०९ कथाएँ हैं॥

•

काशी का गुजराती समाज

काशी में गुजराती समाज का इतिहास आज से लगभग ८०० वर्ष पुराना माना जा सकता है। बारहवीं शताब्दी में काशी के राजा गोविन्दचन्द्र के समकालीन कवि दामोदर के ग्रन्थ उक्तिव्यक्तिप्रकरण में एक विद्वान् के नागर परिवार में विवाह की चर्चा है। काशी में आकर बसे हुए नागर कुटुम्बों में से स्थानेश्वर नाम के एक नागर गृहस्थ के वंशज साढ़ और उसके पुत्र वामन और स्कन्द बारहवीं शताब्दी में अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर और पृथ्वीराज के मन्त्री और सेनापति थे। ११९४ ई० के आसपास गुजरात के प्रसिद्ध दानी सेठ वास्तुपाल द्वारा वाराणसी में विश्वनाथ की पूजा के लिये एक लाख रुपया भेजने का उल्लेख मिलता है। इस सहायता के साथ गुजराती जन भी उस समय अवश्य काशी आये होंगे।

जातियाँ-उपजातियाँ

काशी का पुराना गुजराती समाज ब्राह्मण और महाजन इन दो मुख्य विभागों में बाँटा जा सकता है। फिर यह अनेक जातियों-उपजातियों में बँट जाता है। काशी में आज कल नागर, खेड़ावाल, औदीच्य, श्रीमाली, मोढ़, श्रीगौड, दिसावाल, झारोला, साचोरा, खडायता, लाड़, दसा, बीसा, पोड़वाल आदि जातियाँ विद्यमान हैं। इनमें कुछ जातियाँ केवल ब्राह्मणों के अन्तर्गत और कुछ वैश्यों के अन्तर्गत हैं। नागर, श्रीमाली, मोढ़, दिसावाल, झारोला ऐसी जातियाँ हैं, जो ब्राह्मण भी हैं और वैश्य भी। यह कहा जा सकता है कि इनमें यजमानों और पुरोहितों के वर्गों को एक ही जाति का नाम दिया गया है। औदीच्यों में सहस्रौदीच्य और टोलकिया अवान्तर भेद हैं। नागरों में बड़नगरा, प्रश्नोरा, साठोद्रा, चित्रोड़ा और कृष्णोरा ये छः भेद हैं। इनमें से काशी में प्रथम दो भेद ही विद्यमान हैं। बड़नगरा नागरों के अहमदाबादी नागर और सिपाही नागर ये दो उपभेद हैं।

गुर्जर संस्कृतज्ञ विद्वान्

पण्डित गोपीनाथ कविराज के ग्रन्थ 'काशी की सारस्वत साधना' से महीधर और वेणीदत्त का परिचय प्राप्त होता है। इस विषय में इन पंक्तियों के लेखक के भी दो तीन निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। इस परिवार की विद्वत्ता की लगभग ४०० वर्षों की एक लम्बी परम्परा है। महीधर के ग्रन्थ अनादिदीपविवरण से वृद्धावस्था के इनके आश्रयदाता श्रीमाली सोनी नारायण के परिवार का परिचय प्राप्त होता है। कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में पद्मपादाचार्य की प्रपंचसारटीका का ८१७४ संख्यक हस्तलेख है। इसके लेखक वाराणसी के त्रैविध्य मोढज्ञातीय पद्माकर हैं। ये महीधर के शिष्य थे। पथिकजनपातक-चिन्तनस्मृति नाम का सटिप्पण ग्रन्थ इन्हीं पंक्तियों के लेखक के द्वारा संपादित होकर संस्कृत विश्वविद्यालय की पत्रिका 'सारस्वती सुषमा' में प्रकाशित हुआ है। इसके लेखक भट्ट महेश्वर थे। घुमक्कड़ और योद्धा भट्ट महेश्वर नादिरशाह के आक्रमण के समय दिल्ली में विद्यमान थे। सरस्वती भवन में दक्षिणामूर्तिस्तोत्र की शेखर नामक टीका का हस्तलेख उपलब्ध है। इस टीका के रचयिता दवे दीनानाथ हैं। ये प्रसिद्ध तान्त्रिक काशीनाथ भट्ट के शिष्य हैं और इन्होंने काशीनाथ भट्ट के ग्रन्थ श्राद्धनिर्णयदीपिका की संवत् १८७३ में प्रतिलिपि की थी।

वाराणसी के सरस्वती भवन तथा अन्य स्थानों के हस्तलेख पुस्तकालयों में संगृहीत पाण्डुलिपियों के पुष्पिका-वाक्यों की सहायता से भी काशी के

गुर्जर विद्वानों की संस्कृत साहित्य को देन के संबन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है।

वल्लभ संप्रदाय से संबन्ध

काशी का पुराना गुजराती समाज, विशेष कर वैश्य समाज, वल्लभ संप्रदाय का अनुयायी है। इसमें भी दो भेद हैं—वल्लभकुली और भड़ूची। प्रथम भेद के अनुयायी वल्लभाचार्य की सातों गद्दियों के आचार्यों को मानते हैं और भड़ूची संप्रदाय केवल गोकुलनाथ का अनुयायी है। इनका अभिवादन वाक्य "जय जय श्री गोकुलेश" है। ये तुलसी की माला पहनते हैं और इनके तिलक में दो सीधी रेखाएँ होती हैं, जब कि अन्य संप्रदाय के लोगों का अभिवादन वाक्य "जय श्रीकृष्ण" है। इनकी माला सींक की बनी होती है और तिलक की दोनों रेखाएँ नीचे गोलाई में मिली होती है। किंवदन्ती है कि जहाँगीर के समय में चिद्रूप संन्यासी वैष्णव संप्रदाय के घोर विरोधी थे। वल्लभ संप्रदाय के आचार्य गोकुलनाथ जी ने अपनी विद्वत्ता से इनको परास्त कर वैष्णव धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की थी। काशी में चौखंभा संस्कृत ग्रन्थमाला के संचालकगण गोकुलेश संप्रदाय के अनुयायी हैं। वैष्णव संप्रदाय में आदि-केशव से गोपालमन्दिर तक की काशी केशवपुरी के नाम से प्रसिद्ध रही है। उक्त दोनों ही प्रकार के वल्लभ संप्रदाय के अनुयायियों में ब्रजभाषा के अष्टछाप साहित्य को विशेष मान्यता मिली है, तो भी गुजराती भाषा और साहित्य से इनका संबन्ध बराबर बना रहा है।

जातिगत विशेषताएँ

ऊपर लिखा गया है कि काशी में नागरों का इतिहास आठ सौ वर्ष पुराना है। हाटकेश्वर महादेव सभी नागरों के कुलदेवता हैं। काशी में हड़हासराय, सोनारपुरा, भैरवनाथ और दूधविनायक पर हाटकेश्वर मन्दिर हैं। काशी में नागरों की दो धर्मशालाएँ हैं—नयाघाट पर हाटकेश्वर भवन तथा संकटाजी के पास गणेशमहाल धर्मशाला। यहीं पर इनके बनवाये विष्णु, गंगा और तारा-मन्दिर भी हैं। नागरों में चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को हाटकेश्वर का तथा भाद्रपद कृष्ण चतुर्दशी को अम्बाजी का विशेष उत्सव मनाया जाता है। वर्तमान समय में चारों वेदों का अध्ययन-अध्यापन केवल नागरों में ही प्रचलित है। वेदों के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्रशास्त्र, श्रौत-स्मार्त कर्मकाण्ड में भी नागर विद्वानों की प्रसिद्धि रही है। नागर सेवासमिति इनकी सामाजिक संस्था है। सन् १९१६ में इसकी स्थापना हुई थी।

काशी में श्रीमाली जाति का इतिहास लगभग ४०० वर्ष पुराना है। महीधर के वृद्धावस्था में सहायक श्रीमाली सोनी नारायण की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इस जाति में प्रधानतः सामवेद के प्रकाण्ड विद्वान् हुए हैं और यह परम्परा आज भी जीवित है। इस जाति में अनेक अग्निहोत्री और सोमयाजी हुए हैं। इस जाति की कुलदेवता महालक्ष्मी है। गली गणेशचमरिया में कालभैरव के मन्दिर के पास तथा पटनी टोला में महालक्ष्मी के इनके जातीय मन्दिर हैं।

वल्लभ संप्रदाय की यह परम्परा रही है कि इनके यहाँ ठाकुरजी की सेवा औदीच्य, साचोरा और गिरनारा गुजराती ब्राह्मण ही करते हैं। काशी के इस संप्रदाय के मन्दिरों में गोपालमन्दिर और मुकुन्दराय जी के प्रसिद्ध मन्दिरों के अतिरिक्त बड़ा महाराज (मदनमोहनजी), रणछोड़जी, चन्द्रमाजी और श्रीनाथजी के मन्दिर हैं। गोलघर और मणिकर्णिका घाट पर दो मन्दिर दाऊजी के हैं। जतनवर, पंचगंगाघाट और हनुमानघाट पर महाप्रभुजी की तीन बैठकें हैं। इनके अतिरिक्त चौखंबा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के परिवार में, दुलहिनजी की कोठी में और बौलियाबाग वालों के यहाँ वैष्णव सेवा है। चुनार-अडैल में आचार्यकूप स्थित है। श्रीवल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ जी का जन्म यहीं हुआ था। काशी में अन्य दो जातियों के ब्राह्मणों के सुलभ न होने से इन सभी वैष्णव मन्दिरों में औदीच्य ही सेवाकार्य में लगे हैं। औदीच्योपकारिणी सभा, प्रेमसंघ, नवयुवकसंघ आदि जातीय संस्थाएँ समय-समय पर सामाजिक, आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिये कार्य करती रही हैं। आजकल सहस्त्रौदीच्य समाज के नाम से इनकी प्रतिनिधि संस्था यह कार्य कर रही है। रिखी तंबोली की गली में इनकी एक धर्मशाला है और जाति के इष्टदेव गोविन्द-माधव का मन्दिर है। कार्तिक पूर्णिमा को यहाँ प्रतिवर्ष इष्टदेव की विशेष अर्चना और उत्सव, अधिवेशन आदि संपन्न होते हैं।

ऐसी किंवदन्ती है कि खेडावाल दक्षिण से ताम्रपर्णी नदी के तट से आकर गुजरात में ईडर राज्य के ब्रह्मखेड़ा नामक स्थान में बसे। खेडावालों के आभ्यन्तर और बाह्य ये दो भेद हैं। मूल स्थान पर रहने वाले आभ्यन्तर और जो गुजरात छोड़कर चले आये वे बाह्य हैं। बाह्य का रूप बिगड़कर अब 'बाज' हो गया है और काशी के खेड़ावाल 'बाज खेड़ावाल' कहलाते हैं। गुजरात से निकल कर ये लोग मध्यप्रदेश के पन्ना (सतना जिला) नामक स्थान में बस गये। यह लगभग आज से ४०० वर्ष पहले की बात है। यहीं

से यह जाति हीरा-जवाहरात के व्यापार के साथ जुड़ जाती है। हीरातराशों के साथ इस जाति का नजदीकी संबन्ध हो गया और ये दोनों ही जातियाँ एक साथ आकर आज से लगभग ३०० वर्ष पहले वाराणसी में सूतटोला मोहल्ले में बस गईं। प्रारंभ में इस जाति में मुख्यतः हीरे-जवाहरात का ही कारबार होता था और प्रायः प्रत्येक खेड़ावाल परिवार के साथ हीरातराशों के परिवार संबद्ध थे। आजकल वाराणसी में लगभग ६० खेड़ावाल परिवार हैं और ये सभी उक्त व्यवसाय के अतिरिक्त बीमा, बैंक, बनारसी साड़ी, पुस्तक-प्रकाशन आदि में लगे हैं। खेड़ावालों में गौर अर्थात् पुरोहित भट्ट कहलाते हैं। गोला गली में इनकी एक धर्मशाला है। यहीं श्रावणी और गर्भा आदि का आयोजन होता है। इनकी धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिये 'बाज खेड़ावाल समिति' की स्थापना हुई है। सिद्धेश्वरी मन्दिर के पास इनका एक मन्दिर भी है।

ऊपर हम बता चुके हैं कि प्रपञ्चसारटीका के लेखक पद्माकर त्रैविद्य मोढ़-ज्ञातीय ब्राह्मण थे। ये महीधर के शिष्य थे और इन्होंने उक्त ग्रन्थ की संवत् १६६४ में प्रतिलिपि काशी में रहते हुए की थी। स्वर्गीय पण्डित रमानाथ व्यास इसी जाति की विभूति थे। काशी का पीताम्बरा मन्दिर इनके उज्ज्वल यश का प्रतीक है। स्व० गंगाधर शास्त्री प्रभृति काशी के मूर्धन्य विद्वान् इनकी कथा का रसास्वादन करते थे। काशी में इस जाति के आजकल केवल आठ परिवार हैं। ये सभी सामवेदी हैं। इनके जातीय देवता रघुनाथ जी हैं। सौराष्ट्र की मौढेश्वरी देवी इनकी कुल देवता है। भदैनी का प्रसिद्ध राममन्दिर इन्हीं का बनवाया हुआ है। चौखंबा का राममन्दिर भी इन्हीं का है। मोढ़ वैश्य यद्यपि अब वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी और श्रीकृष्ण के उपासक हैं, तो भी इनके यहाँ रामनवमी के दिन रामपूजा प्रचलित है।

श्रीगौड ब्राह्मणों की कुलदेवता महालक्ष्मी है। काशीराज के द्वारा संमानित श्रीबटुकनाथ जी तान्त्रिक श्रीगौड थे। ये रामनगर के दुर्गामन्दिर के पुजारी थे। रामनगर की रामलीला का संचालन इन्हीं की देखरेख में होता रहा है। इसी जाति में गौतम जी ज्यौतिषी प्रसिद्ध विद्वान् हो चुके हैं। आज कल इनके पुत्र पंडित रामनाथ जी ज्योतिषी विद्यमान हैं। यह परिवार परम्परागत रूप से काशी के वल्लभ संप्रदाय के आचार्यगण का गुरुघराना रहा है। पंडित रामनाथ जी ज्योतिष, धर्मशास्त्र और वल्लभ वेदान्त के प्रख्यात विद्वान् हैं।

सन् १८२८-१८२९ में प्रिंसेप द्वारा की गई बनारस की जनगणना के अनुसार उस समय काशी में १२३१ नागर, ५६७ मोढ़, ११४६ औदीच्य और २०६८ खेड़ावाल बसे हुए थे।

गुजराती महाजन

सन् ११९४ के आसपास गुजराज के प्रसिद्ध दानी सेठ वस्तुपाल द्वारा वाराणसी में विश्वनाथ की पूजा के लिये एक लाख रुपये भेजने का उल्लेख मिलता है। इस सहायता के साथ कुछ गुजराती महाजनों के भी वाराणसी आने की बात सोची जा सकती है। १६वीं-१७वीं शताब्दी में नारायणदास सोनी और उनके परिवार की काशी में स्थिति का परिचय हमें महीधर के अनादिदीपविवरण से मिलता है। इन बातों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। डॉ० मोतीचन्द्र ने लिखा है कि ग्वालदास साहू का परिवार, जो कि दिसावाल गुजराती थे, सन् १७३० में बनारस आया। सेठ गोपालदास अग्रवाल और बाबू काश्मीरीमल के झगड़े को इन्होंने सुलझाया था। इनके नाम पर काशी में एक मोहल्ला ही बसा हुआ है। १७५० में बनारस का अधिकतर व्यापार गुजरातियों के हाथ में था। सन् १६७८-१७९८ के बीच अर्जुनजी नाथाजी त्रिवेदी एक प्रसिद्ध व्यवसायी हुए थे। अन्य अनेक स्थानों के अलावा इनकी सूरत और बनारस में भी कोठियाँ थी। सन् १७८७ में हेस्टिंग्स को चार मानपत्र दिये गये थे। इनमें से एक गुजराती नई पट्टी के महाजनों के द्वारा दिया गया था। मुगलकाल में टकसाल की व्यवस्था गुजराती महाजनों के हाथ में रही है। आज से पचास वर्ष पहले तक हरिदास जी बीमा वाले (कोचइसाव) के यहाँ जल यातायात के, जो उस समय तक काशी में गंगा नदी के माध्यम से प्रचलित था, बीमा की व्यवस्था थी।

नागर ब्राह्मणों के समान नागर वैश्यों के भी छः भेद हैं और इसी प्रकार मोढ वैश्यों के भी मुख्यतः छः भेद हैं। ये हैं—दसा, बीसा, अढारजा, गोगुजा, मांडलिया और हर्षोदा। मांडलिया और हर्षोदा काशी में नहीं हैं। इनके अतिरिक्त खडायता, लाड़, दिसावाल, पोरवाल आदि वैश्यों की उपजातियाँ काशी में बसी हुई हैं। सिद्धमाता दिसावालों की कुलदेवी है। पौरवाल वैश्य लक्ष्मीजी के उपासक हैं। यह आश्चर्य की ही बात है कि काशी में स्थानीय गुजराती वैश्यों की अपनी कोई धर्मशाला नहीं है।

सामाजिक संस्थाएँ

कुछ जातीय संस्थाओं का परिचय ऊपर दिया गया है। इसके अतिरिक्त नन्दन साहू की गली में स्थित अंग्रेजी कोठी में एक प्राइमरी पाठशाला चलती

है। इसमें गुजराती भाषा का भी अध्ययन कराया जाता है। इसी से संबद्ध एक वाचनालय ज्ञानवापी के पास स्थित है। यहाँ गुजराती अखबार और पुस्तकें पाठकों के लिये सुलभ रहती हैं। कालभैरव पर गुजरात विद्यामन्दिर के नाम से एक हाईस्कूल स्थित है। इसका सारा प्रबन्ध स्थानीय गुजरातियों के हाथ में है। पहले इसका संचालन गुर्जर वैश्य पाठशाला के नाम से होता था और यहाँ महाजनी शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। संकटा जी के मन्दिर के पास स्थित बालनिकेतन का संचालन ये ही करते हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्गीया शरद्वल्लभा बेटी जी के द्वारा स्थापित वल्लभ विद्यापीठ और गीताभवन के तथा गोपाल मन्दिर के महाराज श्रीगिरिधरलाल जी द्वारा संचालित वल्लभ सिद्धान्त सेवा संस्थान आदि संस्थानों के संचालन में भी स्थानीय गुजराती बन्धुओं का मूल्यवान् सहयोग मिलता रहता है।

गुजरात के सद्गृहस्थों और राज्यों की आर्थिक सहायता से यहाँ संस्कृत छात्रों के रहने और खाने-पीने का अच्छा प्रबन्ध रहा है। पोरबन्दर क्षेत्र, लांगूलेश्वर क्षेत्र और गोपाल मन्दिर का धार्मिक सत्र अब बन्द हो चुके हैं। आजकल केवल बुलानाला स्थित गुर्जर छात्र समिति में गुजराती छात्रों के निवास और भोजन की व्यवस्था है। मिश्र पोखरा के हरिहराश्रम, मणिकर्णिका घाट की सतुआ बाबा धर्मशाला, संकटाघाट की जानी जी की धर्मशाला में भी संस्कृत छात्रों के रहने का प्रबन्ध रहा है। मैदागिन की रेवा बाई धर्मशाला और गोलघर की धर्मशाला में यात्रियों के ठहरने आदि का अच्छा प्रबन्ध है।

गुजराती संस्कृति

ऊपर काशी के गुजराती समाज की जिन जातियों और उपजातियों का वर्णन किया गया है, उन सबमें आज भी गुजराती भाषा बोली जाती है। इन परिवारों में से अनेक का गुजरात से संबन्ध लगभग ४०० वर्ष पहले छूट गया था। आवागमन की असुविधा के उस युग में मूल भाषा से संबन्ध न रहने के कारण काशी की गुजराती भाषा का विकास अपने ही तरीके पर हुआ है। काशी की गुजराती भाषा ही नहीं, मराठी भाषा की भी यही स्थिति है। काशी की इन भाषाओं पर हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट है। साथ ही इनकी यह भी विशेषता है कि कुछ विशिष्ट शब्द, जो ४०० वर्ष पूर्व की गुजराती भाषा में प्रचलित थे, यहाँ अब भी सुरक्षित हैं, जब कि मूल गुजराती भाषा में उनका प्रचलन अब बन्द हो गया है।

४०० वर्ष पूर्व गुजराती भाषा देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती थी। स्थानीय गुजराती समाज की लिपि भी मुख्यतः देवनागरी ही है। ये लोग परस्पर के कुटुम्बी जनों के साथ पत्र व्यवहार में गुजराती भाषा और देवनागरी लिपि का प्रयोग करते हैं। सरस्वती भवन में गुजराती भाषा के कुछ ग्रन्थ संगृहीत हैं। इनकी लिपि देवनागरी है। इनमें दुर्गासप्तशती, भगवद्गीता, उषा-अनिरुद्ध, नरसी जी नूं माहेरो आदि मुख्य हैं। गर्भा-गीतों के अनेक संग्रह देवनागरी लिपि में लिखे गये हैं। मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, सीमन्त आदि के अवसर पर गाये जाने वाले कुल के देवी-देवताओं के गीतों के संग्रह भी इनमें हैं। ये सब गीत अब भी यहाँ के गुजराती समाज में प्रचलित हैं। परिवार की वृद्धाएँ समय मिलने पर अथवा उचित अवसरों पर इनको गाती रहती हैं। यद्यपि अब संख्या घटती जा रही है, तथापि प्रायः प्रत्येक समुदाय में कुछ महिलाएँ ऐसी मिल जायँगी, जिन्हें कि ये गीत कण्ठस्थ हैं।

इन सभी परिवारों में मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह और अघरणी (सीमन्त) ये चार संस्कार बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते हैं। नवरात्र में गर्भागीत एवं नृत्य प्रायः सभी परिवारों में होते रहते हैं। परिवार में विवाह, यज्ञोपवीत आदि संपन्न होने के बाद के नवरात्र में प्रायः ये अधिक धूम-धाम से मनाये जाते हैं। औदीच्यों को छोड़कर अन्य गुजराती परिवारों में, विशेष कर खेड़ावालों में यज्ञोपवीत, विवाह आदि के शुभ अवसरों पर अथवा उसके बाद सूर्यपत्नी रत्ना देवी (रन्ना दे) की पूजा की एक विशेष विधि प्रचलित है। इसमें ९ दिन तक रन्ना दे की आराधना की जाती है। खेड़ावालों में यज्ञोपवीत के अवसर पर लड़के के ननिहाल से और विवाह के अवसर पर ससुराल से छोटी छोटी चौकियाँ सजाकर रन्ना दे की बारात निकाली जाती है। केले के मण्डप से ये चौकियाँ सजाई जाती हैं। मिट्टी का घोड़ा, दीपक, नारियल और दीपक की दोनों तरफ यवांकुरित पात्र रखे जाते हैं। सजातीय सुवासिनी नारियाँ इन चौकियों को अपने सिर पर रख कर चलती हैं और यह बरात लड़के के घर पर आती है। कपड़े की एक लम्बी पट्टी रास्ते भर बिछाई जाती है और चौकियाँ लिये सुवासिनियाँ इस बिछी हुई पट्टी पर ही रन्ना दे के गीत गाती चलती हैं। सीमन्त संस्कार के अवसर पर सीमन्तिनी को भी इसी पद्धति से अपने मायके के परिवार से ससुराल तक लाया जाता है।

नवरात्र में गर्भा के अवसर पर दीपक रखने के लिये एक विशेष प्रकार का पात्र बनवाया जाता है, जिसके कि निचले हिस्से में अनेक छिद्र बने रहते हैं। काशी के कुम्हार नवरात्र के अवसर पर इस प्रकार के पात्र बड़ी मात्रा

में प्रस्तुत करते हैं। कुछ परिवारों में ये पात्र पीतल के बनवाये हुए स्थायी रूप से रखे रहते हैं। इसी तरह से अनेक परिवारों अथवा तत्तत् जाति के पुरोहितों के घर पर रन्ना दे और सूर्य की काष्ठमूर्ति रखी रहती है। रन्ना दे की पूजा के अवसर पर जिस प्रकार यवाङ्कुर (जवारा) आरोपण की विधि है, उसी भाँति नवरात्र में भी यवांकुर रोपे जाते हैं।

भोजन और पूजा के अवसर पर पीताम्बर, मुकटा अथवा धौत वस्त्र पहनने की पद्धति प्रायः सभी परिवारों में है। शुभ अवसरों पर संपन्न होने वाले जातिभोज में भोजन की समाप्ति पर श्लोक सुनाने की परम्परा है। ये दोनों परम्पराएँ काशी के महाराष्ट्र परिवारों में भी है। शुभ अवसरों पर, विशेष कर देवी-पूजन में कंसार का भोग अनिवार्य रूप से लगता है। विवाह के अवसर पर वर-वधू के एक ही थाल में दूध-कंसार खाने की प्रथा है। खट्टी-मीठी दाल, कढ़ी, पूरणपोळी, श्रीखंड, कंसार, मीठा चांवल और भाखरी—ये गुजरातियों के विशेष भोजन हैं। परिवार के प्रत्येक पुरुष के जन्मदिन पर कुलदेवी की पूजा होती है। जन्मदिन 'गोत्रज' के नाम से प्रसिद्ध है। अन्य पक्वान्नों के बनने पर भी कुलदेवी के भोग के लिये कंसार अनिवार्य है। गोत्रज के दिन बहिन को भोजन कराने तथा कुलदेवी के गीत गाने का रिवाज है। जातिभोज के आरंभ में शान्तिसूक्त, पुरुषसूक्त, महिम्नस्तोत्र, शक्रादिस्तुति आदि का पाठ किया जाता है। प्रतिदिन के भोजन के प्रारंभ में 'आपोशान' करना अनिवार्य है।

काशी के अनेक गुजराती और महाराष्ट्र परिवारों में आपको एक झूला देखने को मिल जायगा। गुजरात और महाराष्ट्र में झूला टांगने का यह रिवाज आज भी अनुस्यूत है। इनमें स्त्रीशिक्षा का व्यापक प्रचार है और प्रायः सभी धार्मिक एवं सामाजिक अवसरों पर स्त्रियाँ बराबरी का भाग लेती हैं। विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ बारात का अनिवार्य अंग रहती हैं। उत्तरभारत में ज्येष्ठ अमावास्या को बटसावित्री के पूजन का विधान है, किन्तु गुजरातियों में यह पूजा ज्येष्ठ पूर्णिमा को होती है। काशी के कुछ महाराष्ट्री और गुजराती परिवारों में आषाढी अमावास्या को इसका विधान है। इसी भाँति गुजराती परिवारों में नागपूजन श्रावण में न होकर भाद्रपद कृष्ण पंचमी को होता है। भाद्र कृष्ण चतुर्थी और द्वादशी को गोवत्स-पूजन और व्रत का रिवाज है।

जननाशौच के पालन में यद्यपि ढिलाई होने लगी है, तो भी मरणाशौच का पालन अभी भी विधिपूर्वक किया जाता है। काशी के गुजराती ही नहीं,

महाराष्ट्री परिवारों में भी एक परम्परा प्रचलित है कि ये लोग घर से शव को अर्थी में न ले जाकर चादर में लपेट कर ले जाते हैं और गंगा किनारे मणिकर्णिका घाट पर पहुँच कर शव को स्नान कराने के उपरान्त वहीं अर्थी बनाकर उसको श्मशान पर ले जाते हैं। शव लेजाते समय इनमें 'श्रीरामः' बोलने का रिवाज है।

गुजरात, मारवाड़ और सिन्ध में 'घोघा राणा' नाम के किसी योद्धा ने केसरिया करके राष्ट्ररक्षा की बलिवेदी पर आत्माहुति दे दी थी। इनकी स्मृति में पुराने नागर परिवारों में अब भी 'घोघा बापा' की पीतल की मूर्ति की पूजा की जाती है।

समधिन एवं समधी के लिये गुजराती में बेवाण और बेवाई शब्द प्रचलित हैं। विवाह के अवसर पर श्रीमाली ब्राह्मणों में एक विचित्र रिवाज देखने को मिलता है कि वर और कन्या के विवाह के पूर्व प्रातःकाल वर और कन्या की माताओं, अर्थात् दोनों समधिनों का परस्पर विवाह मनाया जाता है। उनके यहाँ एक किंवदन्ती प्रचलित है कि कोई ऊँटा नाम की राक्षसी विवाह के अवसर पर वर को उठा ले जाया करती थी। इस उपद्रव के परिहार के रूप में यह परम्परा प्रचलित हुई है। श्रीमालियों का दूसरा विशेष रिवाज यह है कि इनके यहाँ विवाह के अवसर पर सप्तपदी के स्थान पर अष्टपदी का विधान है। तीसरा रिवाज यह है कि मृत्यु के उपरान्त स्त्री पुनः अपने पिता के गोत्र की हो जाती है। अर्थात् सपिण्डीकरण श्राद्ध में उसका सपिण्डीकरण पति के गोत्र में न होकर पिता के गोत्र में होता है। इस प्रकार ये कोकिलमतानुयायी हैं। कोकिल स्मृति, निर्णयसिन्धु आदि धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इसका विधान है।

इष्टदेवता की सेल भी गुजराती समाज में प्रचलित है। विशेष अवसरों पर इष्टदेवता की पूजा के उपरान्त बनारस से बाहर बगीचों में सहभोज का आयोजन किया जाता है। इसमें जाति-समुदाय के अतिरिक्त अन्य इष्ट-मित्रों को भी संमिलित किया जाता है। यह प्रायः बनारस की बहरी अलंग से मिलती-जुलती है। किन्तु बहरी अलंग में जब कि गिने-चुने व्यक्ति रहते हैं, सेल का स्वरूप अधिक व्यापक है।

काशी को गुजरातियों की देन

ऊपर हम विस्तारभय से अधिक नहीं, संक्षेप में काशी के गुर्जर विद्वानों के संस्कृत वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं में दिये गये अवदान के संबन्ध में लिख चुके हैं। काशी के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भी गुजरातियों

का विशिष्ट योगदान रहा है। फलस्वरूप उनके प्रति आदर व्यक्त करने के लिए ग्वालदास साहू, मुंशी माधोलाल, सेलटजी आदि के नाम पर मोहल्लों, सड़कों और फाटकों के नाम रक्खे गये हैं। राजा मुंशी माधोलाल के परिवार से काशी की जनता परिचित है। इनके भाई मुंशी साधोलाल ने तत्कालीन राजकीय संस्कृत महाविद्यालय को प्रचुर धनराशि अनुसन्धान की व्यवस्था के संचालन के लिये दी थी। संस्कृत विश्वविद्यालय बनने तक उस महाविद्यालय में साधोलाल छात्रवृत्ति पाकर शताधिक छात्र अनुसन्धान कार्य कर चुके हैं। श्री जगन्नाथ प्रसाद मेहता काशी की नगरपालिका के वर्षों अध्यक्ष रहे हैं। इनके जैसा लोकप्रिय अध्यक्ष दुर्लभ है। डॉ० भानुशंकर मेहता इन्हीं के दौहित्र हैं और काशी की नाट्यकला और रंगमंच को अभिनव रूप देने में इनका बड़ा योगदान है। डॉ० राजेन्द्रकुमार उपाध्याय भी काशी के हिन्दी रंगमंच के उदीयमान कलाकार हैं।

खेडावालों में रामाजी शुक्ल अच्छे संगीतज्ञ हो गये हैं। कान्तानाथ जी व्यास (मोढ) अद्भुत वीणावादक थे। वैद्य चुन्नीलाल जी स्वयं तो कलाकार थे ही, इनके यहाँ बाहर से आने वाले विशिष्ट कलाकारों का संमान भी होता था। अलाबन्दे खाँ के पुत्र नसरुद्दीन खाँ की अलापचारी की संगत इन्होंने मंजीरे पर की थी। इनके मंजीरा-वादन से खाँ साहब मन्त्रमुग्ध हो उठे थे। इनके छोटे भाई, पत्रकार श्रीलक्ष्मीशंकर व्यास के श्वसुर स्व० मुन्नीलाल जी अच्छे सितारिया रहे हैं। इनकी भजन-मंडली बड़ी प्रसिद्ध रही है। गोवर्धनदास और वृन्दावनदास दिसावाल अष्टछाप संगीत के अच्छे गायक हो चुके हैं। संगीतमार्तण्ड स्व० ओङ्कारनाथ ठाकुर की वृद्धावस्था की लीलास्थली काशी ही रही है। काशी के गुजराती संगीतज्ञों में मन्नूजी मृदंगाचार्य का नाम आदर से लिया जाता है। ये मृदंग पर ध्रुपद के बेजोड़ वादक एवं गायक हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय में लगभग २० वर्षों तक ये मृदंग के प्राध्यापक रहे हैं। इनके पास एक हजार ध्रुपदों का विशाल संग्रह है। इनका 'तालदीपिका' नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। इनके अनेक शिष्य हैं। इनमें जीवणजी मुखिया, हरिशंकरजी ठाकर, भगवानूजी पंड्या आदि प्रमुख हैं। भगवानूजी पंड्या भारत सरकार की ओर से फिजी में तबलावादक की शिक्षा देने के लिये गये हैं। इनके १२ वर्षीय पुत्र वल्लभ पंड्या भी तबले के उदीयमान कलाकार हैं।

चित्रकला के क्षेत्र में श्री रामकृष्ण पंड्या को विशेष गौरव प्राप्त है। आप काशी की पुरानी कलम के अग्रणी चितेरे माने जाते हैं। आपके पुत्र श्री गोपाल-कृष्ण पंड्या भी पिता के समान ही राजस्थानी तथा अन्य बारीक कलमों के

चित्रकार हैं। स्व० वेणीराम श्रीमाली के पुत्र श्री रामशंकर त्रिवेदी भी चित्रकला में श्रीरामकृष्ण पंड्या के शिष्य हैं। श्रीमती कमला उपाध्याय और श्री मोहनदास सोनी काशी के स्वर्गीय केदार जी की परम्परा के चित्रकार हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से जुड़े विश्वविख्यात चित्रकार श्री वासुदेव स्मार्त को भी इस प्रसंग में भुलाया नहीं जा सकता।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थित अस्पताल के साथ जुड़ा हुआ नाम एक गुजराती सज्जन का है। हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोवाइस चांसलर भारत-प्रसिद्ध मनीषी प्रोफेसर आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव गुजराती थे। काशी के प्रबुद्ध विचारकों में श्री रोहित मेहता का अपना स्थान है। काशी के रामघाट अस्पताल एवं सांगवेद विद्यालय आदि अनेक संस्थाओं के संस्थापक वल्लभराम सालिगराम नागर परिवार के हैं। हीरा-जवाहरात के व्यापार में खेड़ावालों को विशेष परम्परागत योग्यता प्राप्त है। काशी के जोशी एण्ड ब्रदर्स और पंड्या रेवाशंकर इस व्यवसाय में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। काशी के पीताम्बर उद्योग के संचालक आजकल एक मात्र नागर हैं। स्व० आत्माराम जी औदीच्य के जार्ज प्रिंटिंग प्रेस की काशी के पुराने प्रेसों में काफी ख्याति रही है। चौखंभा संस्कृत ग्रन्थमाला की स्थापना एक गुजराती परिवार ने की। इस संस्था ने अब तक लगभग १ हजार संस्कृत वाङ्मय के अति महत्त्वपूर्ण और अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन के क्षेत्र में यह संस्था विश्वविश्रुत हो चुकी है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी ग्रन्थों के मुद्रण के लिये प्रसिद्ध तारा प्रिंटिंग प्रेस भी एक खेडावाल गुजराती व्यवसायी के अध्यवसाय का परिणाम है। पुस्तक व्यवसाय में अन्य गुजराती परिवार भी लगे हैं। काशी के श्री द्वारिकानाथ पंचोली ने चलचित्र उद्योग में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। प्रयाग उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री चतुर्भुजदास पारीक काशी के ही हैं।

काशी की जन-संस्कृति को भी यहाँ के गुजरातियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। श्री प्राणनाथ जी व्यास अच्छे मुक्कीबाज थे और दुर्गाघाट की मुक्केबाजी को प्रोत्साहित करने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। गुजरात और राजस्थान में मोर, जिसे अब राष्ट्रीय पक्षी का संमान प्राप्त है, शहर-गाँव, खेत-खलिहान हर जगह देखने को मिलेगा, किन्तु उत्तरप्रदेश में उसका दर्शन दुर्लभ है। काशी के श्रीदाऊजी और रामजी त्रिवेदी के मवैया स्थित बगीचे में लगभग ५० पालतू मोर विद्यमान हैं। स्वर्गीय माधोलालजी व्यास गहरे तीतरबाज थे। इनको लाल, बुलबुल, कोयल, काकातूआ आदि पक्षियों को पालने का बड़ा शौक था और ये इन पक्षियों के रोगों के विशेषज्ञ माने जाते थे।

मणिकर्णिका घाट के संतराम के अखाड़े के संचालक स्वर्गीय ननका जी औदीच्य प्रसिद्ध पहलवान रहे हैं। श्रीकाचाभाई औदीच्य बनारसी कजरी के बेजोड़ गायक और दंगलबाज थे। स्व० वेणीराम जी श्रीमाली ब्रजभाषा के अच्छे कवि और नाटककार थे। अभिनय कला में इनकी विशेष ख्याति थी। इसके अतिरिक्त ये एक विशिष्ट कजरी-गायक और लोकगीतों के विशेषज्ञ भी थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काशी के गुजरातियों का यहाँ के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए भी इन्होंने स्थानीय वातावरण के साथ घुलने-मिलने में कभी परहेज नहीं किया।

आधुनिक काशी में गुजरात से नई जातियाँ और नये व्यवसायी आये हैं। इनमें जैन, सारस्वत खत्री, पटेल, लोहाणा आदि की गिनती की जा सकती है। ये लोग प्रधानतः काशी के बनारसी साड़ी और वस्त्रों के, तम्बाकू और मशीनरी के व्यवसाय में लगे हैं। इस समुदाय ने गुर्जर छात्र समिति के सहयोग से नवरात्र आदि के अवसरों पर सामूहिक गर्भा आदि का आयोजन कर काशी को आधुनिक गुजरात की नवचेतना और संस्कृति से परिचित कराने का सफल प्रयास किया है।

काशी में कुछ पारसी और मुसलमान बोहरा व्यवसायियों के परिवार भी बसे हुए हैं। इनकी चर्चा के बिना यह लेख अधूरा ही रहेगा। इनकी मातृभाषा भी गुजराती है। अपने तरीके से गुजराती संस्कृति इनके यहाँ भी सुरक्षित है॥

•

प्राच्यविद्या परिषद् का गोहाटी अधिवेशन

अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् का २२ वां अधिवेशन २-४ जनवरी, सन् १९६५ को आसाम के गोहाटी नगर में संपन्न हुआ। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास विभाग के प्राध्यापक पुरातत्त्व के माने हुए विद्वान्, वाराणसी के लिये सुपरिचित डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल इसके अध्यक्ष थे।

गत वर्ष दिल्ली में अन्तरराष्ट्रीय प्राच्य विद्या परिषद् का अधिवेशन हुआ था। मिश्र, बेबिलोनिया, यूनान, रोम, चीन, भारत आदि प्राचीन

देशों के इतिहास, संस्कृति और साहित्य आदि के अध्ययन में संलग्न विद्वानों के परस्पर परिचय एवं उनके कार्यों में एकरूपता लाने के उद्देश्य से पेरिस में सन् १८७३ में उसकी स्थापना हुई थी। उसी के अनुकरण पर भारत में अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् की स्थापना सन् १९१९ में की गई। अन्तरराष्ट्रीय प्राच्यविद्या परिषद् का अधिवेशन तीन वर्ष में एक बार तथा भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् का अधिवेशन दो वर्ष में एक बार होता है। भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् का प्रथम अधिवेशन सन् १९१९ में स्व० रा० गो० भाण्डारकर की अध्यक्षता में पूना में हुआ था। इसका २१ वां अधिवेशन दो वर्ष पहले डॉ० वी० राघवन् की अध्यक्षता में श्रीनगर (कश्मीर) में संपन्न हुआ। इसके तृतीय अधिवेशन (मद्रास, सन् १९२३) के अध्यक्ष स्व० डॉ० गंगानाथ झा थे, जो कि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्वरूप राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के प्रथम भारतीय प्रिंसिपल थे।

भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के अधिवेशनों में लगभग १५ अवान्तर विभागों में निबन्ध पढे जाते हैं, विचार-विनिमय किया जाता है। इन विभागों के अलग-अलग अध्यक्ष होते हैं। टोक्यों में हुए ओलम्पिक खेलों में जैसे जापान के राष्ट्रीय खेलों का समावेश किया गया था, उसी तरह इन अधिवेशनों में भी एक दो नये स्थानिक विषयों का समावेश होता रहता है। जैसे कि इस अधिवेशन में असम की जातीय संस्कृति विभाग का समावेश किया गया। संस्कृत, पालि, प्राकृत, तमिल, अरबी, फारसी आदि भाषाओं और इनके साहित्य पर गोहाटी अधिवेशन में लगभग ४०० लेखकों ने अपने शोध-निबन्ध भेजे। इनमें से अनेक लेखकों ने स्वयं आकर निबन्धों का पाठ किया और अन्य विद्वानों के साथ विचार-विनिमय में भाग लिया। यह अधिवेशन १६ विभागों में बँटा हुआ था। इस अधिवेशन में पंडित परिषद् के नाम से एक अलग विभाग आयोजित किया गया था। काशी और दरभंगा अधिवेशनों में भी इसका आयोजन हुआ था। इस विभाग को भी स्थायी बना देने पर विचार किया जा रहा है। यह आवश्यक भी है। भारत सरकार के द्वारा गठित संस्कृत आयोग ने यह सुझाव दिया था कि प्राचीन और नवीन प्रणाली से संस्कृत के अध्ययन में संलग्न विद्वानों में परस्पर सहयोग बढ़ना चाहिये। आधुनिक विश्वविद्यालयों में अध्यापक के रूप में पंडितों की नियुक्ति, विभिन्न अधिवेशनों में परस्पर विचार-विनिमय आदि के द्वारा ही यह सहयोग बढ़ाया जा सकता है। यह आवश्यक है कि नवीन पद्धति से संस्कृत का अध्ययन करने वाले विद्वान् केवल ऊपरी ज्ञान से ही संतुष्ट न होकर संस्कृत भाषा का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करें। इसी तरह प्राचीन पद्धति से संस्कृत का अध्ययन

करने वाले प्रौढ़ पंडितों के लिये भी यह आवश्यक है कि विगत दो शताब्दियों में विश्व की प्रमुख भाषाओं में संस्कृत से संबद्ध जो गवेषणा कार्य हुए हैं, उनसे भी वे पूरी तरह से परिचित हों। इन कार्यों में इस प्रकार के संमेलन बहुत सहायक हो सकते हैं।

प्रस्तुत लेखक इस अधिवेशन में पंडित परिषद् का निमन्त्रण पाकर पहली बार संमिलित हुआ। देश के विभिन्न भागों से लगभग ८० विद्वान् इसमें निमन्त्रित किये गये थे। ९ विद्वानों ने अपने निबन्ध पहले ही भेज दिये थे। निमन्त्रण विलम्ब से मिलने के कारण कुछ विद्वान् अपने साथ निबन्ध ले गये थे। ये निबन्ध वहाँ पढ़े गये और उन पर समागत विद्वानों ने विचार-विनिमय किया। महर्षि देवरात पंडित परिषद् के अध्यक्ष थे। प्रस्तुत लेखक ने इस परिषद् के लिये त्रिपुरादर्शन के अपरिचित आचार्यों और कृतियों से संबद्ध अपना शोधनिबन्ध तैयार किया था। इसकी सामग्री लेखक ने गत वर्ष की गई राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र की अपनी यात्रा के प्रसंग में परिज्ञात अनेक ग्रन्थों के आधार पर इकट्ठी की थी।

२ जनवरी को प्रातः ९.३० बजे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की अध्यक्षता में गोहाटी जिला पुस्तकालय के भव्य भवन में मुख्य अधिवेशन आरंभ हुआ। असम के राज्यपाल श्री विष्णुसहाय ने संमेलन का उद्घाटन किया। आपने उपस्थित प्राच्य विद्याविदों से अपील की कि वे नवीन समस्याओं की पृष्ठभूमि में प्राचीन विद्याओं की नूतन व्याख्या प्रस्तुत करें। बड़ी ही विनोदपूर्ण शैली में उन्होंने कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चर्चित कुछ विषयों की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की।

अपने स्वागत-भाषण में असम के मुख्यमन्त्री श्री विमलप्रसाद चालिहा ने कहा कि असम महाभारतकाल में प्राग्ज्योतिष और बाद में कामरूप के नाम से विख्यात था। कालिकापुराण और योगिनीतन्त्र के आधार पर ११वीं से १६वीं शताब्दी तक का इतिहास बताते हुए आपने १६वीं शताब्दी में शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव के असम के साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में किये गये अवदान की चर्चा की। इन्होंने ही असम में वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा की थी। आधुनिक असमी साहित्य, संस्कृति और कला के प्रतिष्ठापक ये ही थे। श्री चालिहा ने समागत विद्वानों का स्वागत करते हुए वर्तमान काल के असमी विद्वानों को आदरपूर्वक स्मरण किया।

इसके बाद अधिवेशन के अध्यक्ष डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपना भाषण पढ़ा। ४० पृष्ठ का छपा हुआ यह भाषण प्रतिनिधियों को पहले ही वितरित कर दिया गया था। अध्यक्ष महोदय ने इस भाषण का सारांश मात्र

प्रस्तुत किया। प्राचीन प्राग्ज्योतिष का इतिहास बताते हुए आपने महाभारत के सभापर्व के आधार पर इसकी आर्थिक समृद्धि की चर्चा की और इसको नाना धर्म एवं संस्कृतियों का क्रीडाक्षेत्र बताया। असम के संस्कृत साहित्य और संस्कृति की चर्चा करते हुए आपने असमी साहित्य का भी परिचय कराया। भारतवर्ष के लिये संस्कृत का क्या मूल्य है, संस्कृत के अध्ययन का पुनर्गठन किस प्रकार हो, इसकी चर्चा करते हुए अध्यक्ष महोदय ने महाभारत की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। आपने भारतीय सभ्यता, दर्शन एवं लोक-संस्कृति का भी निरूपण किया। वेदविद्या और पुराणविद्या का परिचय कराने के बाद आपने प्राच्यविद्या के क्षेत्र में किये जाने वाले अनुसन्धान के महत्त्व पर प्रकाश डाला और संस्कृत का क्या भविष्य है, इस पर अपने विचार प्रकट करते हुए भाषण को समाप्त किया।

अधिवेशन की स्थानीय कमेटी ने प्राप्त निबन्धों की संक्षेप-पुस्तिका के साथ अलग से प्राग्ज्योतिष स्मारक ग्रन्थ भी प्रकाशित किया था। इसमें असम के साहित्य, कला और संस्कृति पर प्रतिष्ठित विद्वानों के द्वारा लिखे गये १७ निबन्धों का संग्रह किया गया था। इसी अवसर पर अधिवेशन के अध्यक्ष डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वर्तमान असमी लोकसंस्कृति, साहित्य और कला के उन्नायक स्व० भगवतीप्रसाद बरुआ और स्व० पार्वतीप्रसाद बरुआ की स्मृति में निर्मित भवन का उद्घाटन किया।

इसके बाद अधिवेशन १६ विभागों में विभक्त हो गया। २ से ४ जनवरी तक कार्यक्रम के अनुसार काटन कालेज के विभिन्न कक्षों में विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के भाषण हुए, निबन्ध पढ़े गये तथा उन पर विद्वानों ने परस्पर विचार-विनिमय किया।

इसी अवसर पर 'भारतीय न्यूमिसमैटिक सोसायटी' का भी ५३ वाँ वार्षिक अधिवेशन आयोजित किया गया था। उसके अध्यक्ष श्री ए० घोष ने अपने अध्यक्षीय भाषण में भारतीय मुद्राशास्त्र संबन्धी कुछ मुख्य समस्याओं के समाधान के लिये विद्वानों का आह्वान किया।

३ जनवरी को रात्रि में ६ से ८ बजे तक असमी कला, साहित्य और संस्कृति के उन्नायक शंकरदेव के रुक्मिणीहरण नाटक का कलात्मक एवं मनो-रंजक अभिनय प्रस्तुत हुआ। यह आयोजन असम लोककला संस्कृति केन्द्र की ओर से किया गया था।

४ जनवरी को दिन में ११ बजे भगवतीप्रसाद बरुआ भवन में नई कार्यकारिणी की बैठक हुई। नई कार्यकारिणी ने अगले अधिवेशन के लिये

अलीगढ़ विश्वविद्यालय का निमन्त्रण स्वीकार किया। इस अधिवेशन के लिये प्राकृत भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् श्री ए. एन. उपाध्ये अध्यक्ष चुने गये। विभागीय अध्यक्षों का चयन किया गया।

अपराह्ण में ३ से ४.३० बजे तक अधिवेशन की अन्तिम बैठक हुई। अध्यक्ष के उपसंहार भाषण के बाद प्रतिनिधियों की ओर से असम सरकार और स्थानीय स्वागत समिति को अधिवेशन के आयोजन और उसके सुप्रबन्ध के लिये तथा प्रतिनिधियों की सुख-सुविधा की सुन्दर व्यवस्था के लिये धन्यवाद प्रकाशित किया गया।

रात्रि में ६ से ८ बजे तक असम की विभिन्न सांस्कृतिक संस्थाओं की ओर से संगीत एवं नृत्य के विभिन्न कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये। अन्त में अध्यक्ष श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन कार्यक्रमों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की और बताया कि भरत के नाट्यशास्त्र में प्रदर्शित विभिन्न नाट्यमुद्राएँ असम के इन कलापूर्ण प्रदर्शनों में आज भी जीवंत अवस्था में देखी जा सकती हैं। भारत की प्राचीन कला को आज भी जीवित रख सकने के उपलक्ष्य में अध्यक्ष महोदय ने असम प्रदेश के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन किया। इन कार्यक्रमों में से देवदासीनृत्य और रासनृत्य काफी प्रभावोत्पादक थे। अन्य आयोजन भी असम-संस्कृति के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते थे।

संमेलन के स्थानीय आयोजकों ने गोहाटी के आसपास के ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्थानों की यात्रा का सुविधाजनक प्रबन्ध कर दिया था। लेखक ने अन्य प्रतिनिधियों के साथ हजो (हयग्रीव माधव) एवं कामाख्या मन्दिरों की यात्रा की। शाक्त पीठों में कामाख्या पीठ का प्रमुख स्थान है। बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों में भी इसको आदरपूर्वक स्मरण किया गया है। कामाख्या देवी का मन्दिर गोहाटी के समीप ही एक पहाड़ी पर स्थित है। मन्दिर के आसपास एक छोटी-मोटी बस्ती है। इसी पहाड़ी के शिखर पर भुवनेश्वरी देवी का मन्दिर है। कामाख्या देवी के भैरव उमानन्द का मन्दिर ब्रह्मपुत्र नदी के बीच स्थित एक छोटे से पहाड़ी टापू पर बना है। यह स्थान काटन कालेज के सामने ही है, जहाँ कि प्रतिनिधियों के आवास एवं भोजन की व्यवस्था की गई थी। 'हजो' गोहाटी से १४–१५ मील की दूरी पर स्थित एक बस्ती का नाम है। यहाँ हयग्रीव माधव का मन्दिर है। यहाँ की स्थापत्यकला को देखने से प्रतीत होता है कि यह मन्दिर अधिक प्राचीन नहीं है। असम में १६ वीं शताब्दी में शंकर देव के द्वारा वैष्णव धर्म के प्रचार के बाद ही इस मन्दिर की प्रतिष्ठा की गई होगी। इस मन्दिर की पश्चिम दिशा के बाह्य भाग में विष्णु के १० अवतार अंकित हैं।

संमेलन के आयोजकों की ओर से प्रतिनिधियों की बस के साथ एक पथ-प्रदर्शक भेजा गया था, किन्तु वह स्वयं इन स्थानों से अधिक परिचित नहीं मालूम होता था। लौटती वेला उसने प्रतिनिधियों को सूचना दी कि मार्ग में मुख्य मार्ग से हट कर कुछ दूर पर 'पामाक्का' स्थान है। वहाँ किसी को जाना हो तो रास्ते में बस को रोका जा सकता है। बहुमत के आधार पर बस को उस स्थान पर रोकने का निर्णय किया गया। असमी उच्चारण बंगाली उच्चारण के समान है। अधिकांश प्रतिनिधियों ने 'कामाक्खा' के समान 'पामाक्खा' को भी किसी देवी का स्थान समझ कर वहाँ जाने का निर्णय लिया था। दो पहाड़ियों को लांघ कर डेढ़ मील की दूरी तय करके वे जब गन्तव्य स्थान पर पहुँचे, तो उनको भारी निराशा का सामना करना पड़ा। जिस उत्साह से वे यहाँ आये थे, मानवकृत विडम्बना के कारण वे उसको कायम न रख सके। यह स्थान हिन्दुओं की किसी देवी का न होकर असमी मुसलमानों का पवित्र स्थान था। असमी मुसलमानों ने इसको 'पाव मक्का' नाम दे रखा है। मक्का की यात्रा करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, उसका चौथाई पुण्य यहाँ की यात्रा से मिलता है, ऐसी उनकी धारणा है। हम लोगों के गिरोह में कोई भी मक्का की यात्रा करने वाला नहीं था। डेढ़ मील की कठिन पहाड़ी चढ़ाई चढ़ करके भी हम लोग अपनी भावना के कारण उस चौथाई पुण्य के भागी न हो सके। क्या मानव अपने ही द्वारा बनाये गये इन घरौंदों से निकल कर कभी स्वच्छ महाकाश में विचरण कर सकेगा ?

देश के लिये विदेशी मुद्रा अर्जित करने के प्रमुख साधन चाय के बागानों के दर्शन सिलिगुड़ी से ही होने लगते हैं। असम जंगलों का प्रदेश है। उसकी वनसम्पदा की एक झलक गोहाटी से शिलांग जाने वाली सड़क से मिलती है। पूरे मार्ग में जंगली केलों के, सुपारी और अनानास के खेतों के दर्शन होते हैं। इन जंगलों से परिश्रम कर भारतीय जन काफी खाद्य सामग्री और विदेशी मुद्रा अर्जित करने के साधन जुटा सकते हैं। केरल से असम तक की यात्रा करने पर भारत की विशालता, विविधता और सम्पन्नता के दर्शन होते हैं। तब भी भारतीय जन आज अभावग्रस्त है। ओ विविधताविभूषिते महिमामयि भारत मा ! भारतीयों में भरी हुई काहिली, आलस्य और परिश्रम से दूर भागने की प्रवृत्ति को अब तो तू दूर कर ॥

तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि : प्रतिसमालोचना

'आज' के १९ अप्रैल १९६४ के साप्ताहिक विशेषांक में श्रद्धेय पं० गोपीनाथ कविराज जी की पुस्तक 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' के विषय में श्री शिवकुमार 'मानव' के विचार पढ़ने को मिले। लेखक कविराजजी के प्रति किस प्रकार की भावना लेकर ग्रन्थ की आलोचना में प्रवृत्त हुआ है, यह उसके आदि और अन्त के दो वाक्यों से प्रकट होता है—"इस ग्रन्थ का नाम ही कुछ ऐसा विचित्र है कि ग्रन्थ को देखने की इच्छा होती है, परन्तु यह नाम केवल आश्चर्यजनक शीर्षक मात्र है", लेख की समाप्ति—"पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्" इस उद्धरण के साथ की गई है।

४८ वर्षों में प्राप्त सामग्री, किये गये शोधकार्य और सैकड़ों थीसिसों का कविराज जी ने कोई उपयोग नहीं किया, इस पर 'मानव' जी को महान् आश्चर्य है। परम्परा और स्वानुभूति के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की गई है, कविराज जी के इस वाक्य से संभवतः लेखक को ऐसा लिखने की प्रेरणा मिली है। मानव जी कहते हैं कि लेखक ने ग्रन्थ में जो सामग्री उपस्थित की है, उसके लिये कोई भी प्रमाण नहीं दिया गया। इन आक्षेपों के संबन्ध में हमें कुछ नम्र निवेदन करना है।

थीसिस लिखने के नाम पर आजकल शोधकार्य का स्तर जिस प्रकार गिराया जा रहा है, उससे सभी प्रबुद्ध जन चिन्तित हैं। पिष्टपेषण, अनुकरण, संग्रह की मनोवृत्ति और दूसरे के परिश्रम पर बड़ी सफाई से स्वत्व स्थापित करने में ही अधिकांश थीसिसों के लेखक अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। आगम के क्षेत्र में, विशेष कर आगमिक दर्शन के क्षेत्र में, मौलिक कार्य करने वाले इने-गिने विद्वान् हैं। अन्य अधिकांश विद्वानों ने इस कोठली का धान उस कोठली में किया है। जिन विद्वानों ने इस क्षेत्र में मौलिक कार्य किया है, उनके नामों का उल्लेख करने में कविराज जी ने कोई संकोच नहीं किया है (द्रष्टव्य प्रस्तावना, पृ० २ की टिप्पणी)। उनका केवल इतना ही कहना है कि अधिकांश कार्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही किया गया है। दार्शनिक विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन नहीं के बराबर हुआ है और कविराज जी ने इसी कमी की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की है।

आधुनिक ग्रन्थ-लेखन की पद्धति का इसमें सर्वांशतः अनुवर्तन नहीं किया गया है। आधुनिक गवेषक जहाँ-तहाँ से सामग्री का संकलन कर उन टिप्पणियों के आधार पर अपना ग्रन्थ तैयार करता है। अधीत सामग्री को आत्मसात् करने की उसमें शक्ति नहीं होती। अध्ययन करने और उसको आत्मसात् करने की कविराज जी की अद्भुत प्रतिभा से संभवतः 'मानव' जी भी अपरिचित नहीं होंगे। जिन सैकड़ों थीसिसों की चर्चा 'मानव' जी ने की है, उनमें से अधिकांश को श्रद्धेय कविराज जी का आशीर्वाद अवश्य ही प्राप्त हुआ होगा, लेखक महोदय जान-बूझकर इस सत्य की ओर से आँख मूँद लेना चाहते हैं। वर्षों की प्रगाढ़ अध्ययन की परम्परा और स्वानुभूति में समन्वय स्थापित कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। ग्रन्थ में प्रमाणवचनों की कोई कमी नहीं है और अध्ययनशील गवेषक को यह सामग्री कहाँ से ली गई है, अथवा किस प्रामाणिक शास्त्र की है, इसको जानने में अधिक कठिनाई नहीं होती।

तान्त्रिक वाङ्मय की शाक्त साधना में सिद्ध साहित्य और नाथ सम्प्रदाय की चर्चा न देखकर ही 'मानव' जी इस आलोचना में प्रवृत्त हुए प्रतीत होते हैं। वे नाथ सम्प्रदाय को ही मूल शाक्त दृष्टि मानते हैं और इसको विस्तार से सिद्ध करने का इन्होंने प्रयत्न भी किया है। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द को वे नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरक्षनाथ से अभिन्न मानते हैं। महेश्वरानन्द के गुरु महाप्रकाश को मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न बताने का भी हास्यास्पद प्रयत्न किया गया है।

मानव जी ने श्रद्धेय कविराज जी के द्वारा संपादित योगिनीहृदय के द्वितीय संस्करण को यदि देखा होता, तो यह चूक उनसे न होती। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी की स्वनिर्मित टीका परिमल में 'ऋजुविमर्शिनी' को अपने परमगुरु की कृति माना है और उसके कुछ अंश उद्धृत किये हैं। ऋजुविमर्शिनी नित्याषोडशिकार्णव की एक प्राचीन टीका है। इस ग्रन्थ की एकाधिक मातृकाएँ उपलब्ध हैं और महेश्वरानन्द के द्वारा उद्धृत अंश इनमें आनुपूर्वी से मिल जाते हैं। श्रद्धेय कविराज जी के निर्देश के अनुसार ही यह टीका एक अन्य प्राचीन टीका अर्थरत्नावली के साथ शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है। महेश्वरानन्द के परमगुरु का नाम शिवानन्द था। शिवानन्द के अन्य ग्रन्थ क्रमवासना (सुभगोदयवासना), सौभाग्यहृदय, शम्भ्वैक्यदीपिका आदि भी महेश्वरानन्द के द्वारा उद्धृत हैं। महेश्वरानन्द और उनके परमगुरु शिवानन्द के ग्रन्थों में अभिनवगुप्त के अनेक ग्रन्थों के उद्धरण विद्यमान हैं। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के आरंभ में कुलशास्त्र के अवतारक के रूप में

मच्छन्दविभु को स्मरण किया है। अघोरशिवाचार्य ने मृगेन्द्रागम के विद्यापाद की अपनी दीपिका टीका (पृ० ७४) में मत्स्येन्द्रनाथ को कौल तन्त्र का आद्य प्रवर्तक माना है। कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रवर्तक सोमानन्द का समय ई० नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है। मत्स्येन्द्रनाथ निश्चय ही इससे पहले हो चुके थे, क्योंकि कौलिक सम्प्रदाय के एक प्राचीन ग्रन्थ परात्रीशिका के सोमानन्दकृत विवरण का अभिनवगुप्त की व्याख्या में अनेक स्थलों पर उल्लेख है। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ महाप्रकाश से नितान्त भिन्न एवं प्राचीन हैं।

महेश्वरानन्द भी नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरक्षनाथ से भिन्न हैं। शंकराचार्य के नाम से रचित २०० से अधिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु वे सभी ग्रन्थ आद्य शंकराचार्य के नहीं हैं। उसी प्रकार गोरक्षनाथ के नाम से प्रचलित ग्रन्थों में से कौन-कौन से ग्रन्थ नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरक्षनाथ के हैं, इनकी भी सूक्ष्म परीक्षा करनी पड़ेगी। कौल सम्प्रदाय और साहित्य में मत्स्येन्द्र के समान गोरक्ष के नाम का उल्लेख देखने को नहीं मिलता। मत्स्येन्द्र और गोरक्ष का संबन्ध अभी भी ऐतिहासिकों की दृष्टि में पूर्णतया सुनिश्चित नहीं हो पाया है। नाथ सम्प्रदाय को शाक्त दृष्टि के अन्तर्गत लाने के लिये मानव जी को अन्य आधार खोजना पड़ेगा। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द का नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरक्षनाथ से किसी भी प्रकार का कोई संबन्ध नहीं है, इतना सुनिश्चित है। इस प्रसंग में यह भी अवधेय है कि महार्थमंजरी क्रमदर्शन का ग्रन्थ है, कौल सम्प्रदाय का नहीं।

भारतीय वाङ्मय मुख्यतः दो भागों में विभक्त है—आगम और निगम। आगम साहित्य की रचना के बाद ही संभवतः यह विभाग किया गया है। आगम की वैखानस, पांचरात्र और पाशुपत शाखाएँ प्राचीनतम हैं। बौद्धों के उपलब्ध तन्त्रों में प्राचीनतम माने गये तन्त्र आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में वैष्णव और शैव तन्त्रों का उल्लेख है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के तर्कपाद की भामती टीका में माहेश्वरों के शैव, पाशुपत, कारुणिकसिद्धान्ती और कापालिक इन चार भेदों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध और जैन तन्त्रों का विविध रूपों में विकास हुआ है। परात्रीशिका की अभिनवगुप्त की व्याख्या (पृ० ९२) में उद्धृत एक श्लोक में शैव (सिद्धान्त), वाम, दक्षिण, कुल, मत और त्रिक सिद्धान्तों का उल्लेख है और इन सभी सिद्धान्तों को वेद से उत्कृष्ट माना है। कुलार्णव में भी वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कौल सिद्धान्तों का उल्लेख है और इनमें क्रम से उत्कृष्टता बताई गई है।

इन ज्ञात और अज्ञात सिद्धान्तों की अपनी-अपनी परम्परा थी। गुरु-शिष्य परम्परा से यह प्रवाहित होती थी। यह ज्ञानप्रवाह 'ओवल्ली' के नाम से भी अभिहित हुआ है और इन 'ओवल्लियों' के अनुयायी अपना विशिष्ट नाम रखते थे। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक की जयरथ की टीका में उद्धृत एक श्लोक में ६ ओवल्लियों का उल्लेख है। उनके अनुयायी आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी शब्दान्त अपना नाम रखते थे। नागबोधि बौद्ध तन्त्र के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने गुह्यसमाज की व्याख्या की थी। शिवसूत्रविमर्शिनी में क्षेमराज ने और शिवसूत्रवार्त्तिक में वरदराज ने इनका उल्लेख किया है। ये वसुगुप्त के समसामयिक प्रतीत होते हैं। तान्त्रिक वाङ्मय का अभी इतना कम अध्ययन हुआ है कि एक प्रसिद्ध मनीषी ने नागबोधि को नागार्जुन मान लिया है। इसका यह भी कारण है कि हम शास्त्रों का अध्ययन साम्प्रदायिक दृष्टि से करते हैं। अन्य शास्त्रों की भाँति आगम या तन्त्रशास्त्र का विकास भी परस्पर घात-प्रतिघात और समन्वय की पद्धति से हुआ है।

ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या ये चार विषय सभी तन्त्रों में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। पारिभाषिक शब्दों के जाल से यदि हम ऊपर उठ जायँ, तो वहाँ उपास्य देवता के भेद के सिवाय विशेष अन्तर नहीं रह जाता। बौद्ध अथवा जैन कहीं बाहर से नहीं आये थे। वे इसी धरती में उपजे और मरे हैं। दो हजार वर्ष के आगममूलक साहित्य का हमको निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन करना चाहिये। पहले से निश्चित दृष्टिकोण बना लेने से निष्पक्ष अध्ययन में बाधा पड़ेगी। अनेकों मतमतान्तरों के ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। इन ग्रन्थों का सर्वप्रथम उद्धार और अध्ययन अपेक्षित है। बिना पर्याप्त प्रमाणों के कोई अन्तिम निर्णय नहीं लिया जा सकता। वर्तमान परिस्थिति में जितना श्रद्धेय कविराज जी ने किया है, उसमें अधिक कुछ लिखा नहीं जा सकता। हमको छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति छोड़ इस संबन्ध की अधिकाधिक नवीन सामग्री के अन्वेषण में लग जाना चाहिये। कविराज जी के अध्ययन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने स्थान-स्थान पर विभिन्न सम्प्रदायों के समान दृष्टिकोणों को परिभाषाओं के जाल से निकाल कर पाठकों के सामने रख दिया है। आगमप्रेमी विद्वद्वर्ग इसके लिये कविराज जी का सदा ऋणी रहेगा।

शिव और शक्ति को पृथक् सिद्ध करने का श्रद्धेय कविराज जी ने कोई प्रयत्न नहीं किया, किन्तु वैष्णव तन्त्रों में विष्णु या वासुदेव के समान, शैव और शाक्त तन्त्रों में भी महेश्वर या परमशिव तथा संवित् परम तत्त्व माना गया है। परमशिव या संवित् से ही ३६ तत्त्वों का आविर्भाव होता है।

यहाँ भेद स्पष्ट है। द्वैत शैवमत में तो शिव और शक्ति को भिन्न तत्त्व माना ही गया है। इस पुस्तक में प्रधान रूप से शाक्त दृष्टि का ही परिशीलन किया गया है, किन्तु अनिवार्य रूप से कहीं-कहीं शैव दृष्टि का भी, जो कि शाक्त दृष्टि से अभिन्न सी है, उल्लेख है। इस बात को ग्रन्थ के लेखक ने अपनी भूमिका में स्पष्ट भी कर दिया है।

नाथ सम्प्रदाय और सिद्ध सम्प्रदाय का शैव दृष्टि से ही अधिक संबन्ध प्रतीत होता है। शाक्त दृष्टि से इनका संबन्ध संदिग्ध है। अनेक सिद्धाचार्य विभिन्न सम्प्रदायों में समान रूप से पूजे जाते हैं। जब तक इस संबन्ध की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं होती, विभिन्न मत-मतान्तरों का सही विभाजन और वर्गीकरण तथा उन दृष्टियों के सूक्ष्म अन्तर का विश्लेषण कर पाना एक कठिन कार्य है।

मानव जी ने मल्लिकामकरन्द और गोरक्षमल्लिकासंवाद नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है। साथ ही उड़ीसा और मयूरभंज रियासत से नाथ सम्प्रदाय का घनिष्ठ संबन्ध बताया है। नाथ सम्प्रदाय का सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय से भी संबन्ध स्थापित किया गया है। नाथ सम्प्रदाय का उड़ीसा और मयूरभंज से ही नहीं, राजस्थान और पंजाब से भी उसी प्रकार का निकट का संबन्ध है। उत्तरप्रदेश का गोरखपुर भी गोरक्षनाथ से अपना पुराना संबन्ध बताता है और नासिक-त्र्यम्बक के ब्रह्मगिरि में भी नव-नाथों की तपस्या-भूमि और गुफा विद्यमान है। काठियावाड़ की पर्वत शृङ्खलाएँ भी इनकी साधना-भूमि रही हैं। यह एक व्यापक संप्रदाय रहा है और इसीलिये इसका अध्ययन और अनुशीलन पृथक् ही होना उचित है। अपना महत्त्व सिद्ध करने के लिये अनेकों परवर्ती लेखकों ने गोरक्षनाथ से अपना प्रत्यक्ष संबन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। मल्लिकामकरन्द और गोरक्षमल्लिकासंवाद के आधार पर कोई निर्णय करने से पहले इनका काल-निर्णय, प्रामाणिकता और नाथ सम्प्रदाय के किन-किन प्राचीन ग्रन्थों में यह प्रमाण रूप से उद्धृत किये गये हैं, इसका निर्णय अपेक्षित है। हमारे देखने में गोरक्ष सम्प्रदाय के उपलब्ध किसी प्राचीन ग्रन्थ में इन ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है। इसलिये इनके आधार पर भी नाथ सम्प्रदाय को शाक्त परम्परा से संबद्ध करना उचित नहीं है। नाथ सम्प्रदाय का सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्ध बता कर स्वयं मानव जी ने भी शाक्त या शैव परम्परा से उसकी विलक्षणता स्वीकार कर ली है॥

●

व्यक्तित्व-कृतित्व

- तन्त्रशास्त्र के उद्धारक श्रद्धेय कविराज जी
- जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य
- श्रद्धेय प्राध्यापक : आदर्श मानव
- आचार्य बलदेव उपाध्याय और तन्त्रागमीय दर्शन

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥

(मनु० ४।२४५)

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥

(मनु० ४।२५५-२५६)

तन्त्रशास्त्र के उद्धारक श्रद्धेय कविराज जी

महामहोपाध्याय पद्मविभूषण डॉक्टर श्री श्री गोपीनाथ कविराज का जन्म पूर्व बंग, अब बंगलादेश के अन्तर्गत ढाका जिले के धामराई ग्रान में भाद्रपद २२ सौर बुधवार, १९४४ वि० तदनुसार ७ सितम्बर, सन् १८८७ में हुआ था। बंगीय पंचांग के अनुसार माता आनन्दमयी के वाराणसी स्थित आश्रम में यह जन्म दिन ८ सितम्बर को मनाया जाता है। इनके परिवार, शिक्षा, अध्यवसाय, सर्वतोमुखी अनोखी प्रतिभा, ग्रन्थलेखन, राजकीय तथा सार्वजनिक संमान आदि की संक्षिप्त और विस्तृत जानकारी इनके "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में निबद्ध ग्रन्थकार परिचय से तथा "मनीषी की लोकयात्रा" नामक ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है।

श्रद्धेय कविराज जी के जीवन में क्रियापक्ष और भावपक्ष का अद्भुत समन्वय रहा है। क्रियापक्ष और भावपक्ष की व्याख्या हम उन्हीं के शब्दों में आगे देंगे। महायोगी श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव के सम्पर्क में आने से पहले उनके जीवन में क्रियापक्ष की प्रधानता थी और उसके बाद धीरे-धीरे क्रियापक्ष शिथिल होता गया और भावपक्ष प्रबल। इनके इन दोनों स्वरूपों का दर्शन हम उनकी कृतियों में कर सकते हैं। सरस्वती भवन स्टडीज के दस भागों, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित पुस्तकों की भूमिकाओं, यू० पी० हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली जैसी शोधपत्रिकाओं में उनके पहले स्वरूप का और अखण्ड महायोग, श्री श्री विशुद्धानन्द प्रसंग, विशुद्धवाणी, साधुदर्शन और सत्प्रसंग, श्रीकृष्णप्रसंग आदि ग्रन्थों में उनके दूसरे स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है।

इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में प्रकाशित अनेक ग्रन्थों की भूमिकाएँ उन-उन ग्रन्थों के सम्पादकों के लिये स्वयं श्री कविराज जी ने लिख कर उन्हीं के नाम से छपवा दी थी। आधुनिक ग्रन्थ-सम्पादन कला की एक विशेष त्रुटि की ओर वे अपने श्रोताओं का ध्यान सदा आकृष्ट करते रहे कि इसमें ग्रन्थ के बहिरंग पक्ष, ग्रन्थ और ग्रन्थकार तथा अन्य सामग्री का ऐतिहासिक विश्लेषण, पर ही अधिक विस्तार से विचार किया जाता है और ग्रन्थ का आन्तरिक पक्ष, उसमें प्रतिपादित विषय, अछूता रह जाता है। अतः उन्होंने अपनी कृतियों में इस द्वितीय पक्ष पर अधिक जोर दिया। उनका यह स्वरूप उनकी आरंभिक सभी कृतियों में

देखा जा सकता है। उनकी ऐतिहासिक विश्लेषण की शक्ति भी कितनी प्रखर थी, इसका दर्शन हम सरस्वती भवन स्टडीज और यू० पी० हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली आदि शोधपत्रिकाओं में प्रकाशित उनके न्याय-वैशेषिक साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन, सांख्यमत, गोरक्षमत, पाशुपतमत, वीरशैव सिद्धान्त, गंगाराम जडी संबन्धी निबन्धों, विविध ग्रन्थों की भूमिकाओं और पुस्तकाकार में प्रकाशित उनके शाङ्करवेदान्त और अद्वैत प्रस्थान, आदिगुरु दत्तात्रेय और अवधूत दर्शन, वैष्णव साधना और साहित्य, तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद आदि निबन्धों में कर सकते हैं।

इन सभी निबन्धों में तथा अपने सन्दर्भ ग्रन्थ "तान्त्रिक साहित्य" और उसकी भूमिका में श्रद्धेय कविराज जी ने आगम एवं तन्त्रशास्त्र में समाविष्ट सम्पूर्ण साहित्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। इससे इस साहित्य की विशालता और दार्शनिक गंभीरता का परिचय मिलता है। कविराज जी का यह निश्चित मत था कि परवर्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन ने शून्यवादी बौद्धदर्शन और मायावादी शांकरदर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटा कर यथार्थवाद के उच्च शिखर तक पहुँचाया था। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द ने अपने ही ग्रन्थ की 'परिमल' टीका में इस विषय को अनेक मनोरंजक युक्तियों के सहारे प्रतिपादित किया है।

विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी साहित्य जाने क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम न तो बौद्ध धर्म की महायान शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास का ही यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। बौद्ध और जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति साहित्य का, सिद्धों, नाथों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों का भी अध्ययन आज वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैव और वैष्णव आगमों से प्रभावित थी, इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति कविराज जी ही थे। अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में उन्होंने विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर दर्शन की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है। वज्रयान, सहजयान

और शाक्त दर्शन की विभिन्न धाराओं की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था। आज उनकी इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

आगमिक तथा तान्त्रिक वाङ्मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही कविराज जी को प्रिय था। कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रस नहीं लिया। जहां तक योग का प्रश्न है, व्यासभाष्य, विज्ञानभैरव और विरूपाक्ष-पंचाशिका—ये तीन ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे। इन ग्रन्थों को उन्होंने शताधिक शिष्यों को बड़े ही मनोयोगपूर्वक इनकी अथाह गंभीरता को उद्भावित करते हुए पढाया था। उनका अखण्ड महायोग इसी मन्थन की चरम परिणति थी। उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग ही विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा। हम उनके इस अखण्ड महायोग के स्वरूप पर आगे विचार करेंगे। पहले हम म० म० पी० वी० काणे द्वारा उठाई एक आपत्ति पर विचार करना चाहते हैं।

डॉ० काणे अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखते हैं कि तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं आचारों से संबद्ध इस अध्याय के अन्त में एक विचित्र बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। सायण-माधव (१४ वीं शताब्दी) ने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में पन्द्रह दर्शनों की चर्चा की है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि इन लोगों ने तन्त्रों के विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा, जब कि इन्होंने चार्वाक दर्शन एवं बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों पर पर्याप्त लिखा है। ऐसा मानना असम्भव है कि इन दो विद्वान् भाइयों को तन्त्र के विषय में ज्ञान नहीं था। यदि कल्पना का सहारा लिया जाय, तो ऐसा कहा जा सकता है कि जिन कारणों से बंगाल के राजा वल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' में देवीपुराण को छोड़ दिया था, उन्हीं कारणों से संभवतः इन विद्वान् भाइयों ने तन्त्रों की चर्चा नहीं की। इतना ही नहीं, तब तक तन्त्र-ग्रन्थ समाज में पर्याप्त रूप से अरुचिकर हो चुके थे और विद्वान् लोग उनका विरोध करने लगे थे। डॉ० पी० वी० काणे के इस आक्षेप का उत्तर हम "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ० २१-२२) नामक अपने ग्रन्थ में दे चुके हैं।

इस प्रसंग में श्रद्धेय कविराज जी का यह कथन विशेष रूप से अवधेय है—एक दृष्टिभंगी को मानने वाले के निकट दूसरी भंगिमा प्रावादुक की दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि के रूप में उपेक्षित या अनादृत होने पर भी निरपेक्ष ऐतिहासिक के लिये उपेक्षित होने योग्य नहीं है। इस अनुचित उपेक्षा के

प्रभाव से ही बहुत सी दृष्टिभंगियों का परिचय लुप्त हो गया है, जो अब मिल नहीं रहा है। किसी-किसी दृष्टिभंगी का तो साधारण परिचय भी उपलब्ध नहीं है। उदाहरण के रूप में शाक्त दृष्टि की बात कही जा सकती है। षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थों में, यहाँ तक कि सर्वदर्शनसंग्रह के सदृश बृहत् तथा प्रामाणिक ग्रन्थ में भी इस प्रकार की उपेक्षा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उस समय शाक्त दृष्टि के प्रतिपादक ग्रन्थ या साधन-परम्परा थी नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सर्वदर्शनसंग्रहकार ने लकुलीश पाशुपत, शैव (द्वैतवादी), प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर दर्शन का विवरण दिया है। इन दर्शनों के प्रचार-काल में कश्मीर के शक्तिपारम्यवादी क्रमदर्शन का भी पर्याप्त प्रचार था। सायण-माधव आदि ने इनका परिचय क्यों नहीं दिया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कविराज जी कहते हैं कि उसके सम्यक् प्रचार तथा पठन-पाठन का सौकर्य न रहने के कारण शाक्त दृष्टि के साथ विद्वत्समाज में भी अधिकांश लोगों का घनिष्ठ परिचय नहीं था। वस्तुतः इसीलिये वर्तमान युग में भी भारतीय दर्शन तथा चिन्तन के इतिहासविषयक ग्रन्थों में यह अभाव समान रूप में ही लक्षित होता है। परन्तु आशा है भविष्य में इस अभाव की निवृत्ति हो जायगी।

श्रद्धेय कविराज जी की यह भविष्यवाणी अब सत्य सिद्ध हो रही है और देश में ही नहीं, विदेशों में भी तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर पर्याप्त अध्ययन हो रहा है। वस्तुतः बौद्ध तन्त्रों और शैव-शाक्त तन्त्रों ने भारतीय जनमानस को एक समान भूमि पर लाकर बैठा दिया था, जो कि सारी मानवता के लिये वरदान तुल्य था। कालचक्र की विपरीत गति के कारण निमीलित हुई उसी दृष्टि के उन्मीलन की आज आवश्यकता है। किन्तु दुःख इस बात का है कि प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टि से भारतीय दर्शनों का अध्ययन करने वाले कुछ तथाकथित दार्शनिक आज भी आगमिक दर्शन को दर्शन की श्रेणी में बैठाने को तैयार नहीं हैं।

तान्त्रिक साहित्य अति विशाल है। इसके विषय में कविराज जी का कहना है कि इसमें तत्त्व (ज्ञान) का जैसा एक विभाग है, साधना का भी वैसा ही एक विभाग है। वस्तुतः चतुष्पाद आगम-वाङ्मय में यह बात सर्वत्र ही लक्षित होती है। साधना में भी एक बहिरंग साधना और एक अन्तरंग साधना, इस प्रकार दो विभाग हैं। उसी प्रकार बहिरंग साधना में भी एक भाग में आचारभेद मूलक पार्थक्य है और दूसरे भाग में आचार से असंबद्ध आणव उपाय के विभिन्न अंशों का अवलम्बन कर भेद किया गया है। विभिन्न प्रकार की योग

प्रक्रियाएँ इस द्वितीय विभाग के अन्तर्गत आती हैं। तत्त्व के विषय में भी उसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत तथा परमाद्वैत, इस प्रकार का भेद है। एक दृष्टि से यद्यपि तान्त्रिक नाम से परिचित सभी शास्त्र एक श्रेणी के अन्तर्गत हैं, फिर भी उनमें भी भेद है, क्योंकि विभिन्न शास्त्रों में परस्पर उत्कर्ष और अपकर्ष का विचार भी प्रत्येक सम्प्रदाय के पक्ष से किया गया है। इस भेद के मूल में ज्ञानगत और क्रियागत वैलक्षण्य है। द्वैत, अद्वैत आदि जो भेद हैं, वे ज्ञानगत हैं। परन्तु आचारगत जो भेद हैं, वे क्रिया की बाह्यता या आन्तरिकता के भेद पर प्रतिष्ठित हैं। इन उभय पक्षों का श्रद्धेय कविराज जी ने "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" नामक ग्रन्थ में विशद विवेचन किया है।

उनका कहना है कि क्रमतत्त्व, स्पन्दतत्त्व, पादुकातत्त्व, भासातत्त्व आदि का विवेचन साधना तथा दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से एक प्रकार से निर्वासित हो चुका है। क्षोभ तथा कलन का रहस्य भी इसी प्रकार अपरिचित रह गया है। पादुकातत्त्व का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि परापरात्मक स्वात्मा की परानन्दमयी पराशक्ति जब अपने आप भेद-ग्रास करने के लिये उद्यत होती है, तब उसका पादुका नाम से वर्णन किया जाता है—"परापरात्मनः स्वात्मनः परानन्दमयी स्वव्यतिरेककवलनोद्युक्ता परा शक्तिः पादुकेति गीयते"। वस्तुतः स्वात्मा से अभिन्न अनुत्तरस्वभाव नादशक्तिरूप विमर्श को ही गुरुतत्त्व जानना चाहिये। इसको स्वरूपतः जानने के लिये पादुका ही एकमात्र उपाय है। क्रम का संकोच तथा प्रसार पादुका से ही होता है। योगी महेश्वरानन्द के पादुकोदय नामक ग्रन्थ में पादुकातत्त्व की किंचित् आलोचना है।

शक्तिपारम्यवादी क्रमदर्शन का विश्लेषण करते हुए कविराज जी कहते हैं कि अतिप्राचीन काल से क्रमतत्त्व की आलोचना होती आई है। परन्तु यह ऐसा विषय है कि सर्वसाधारण की बुद्धि का गोचर नहीं हो सकता। पातंजल योगशास्त्र में इसका किंचित् निदर्शन है। उसमें कहा गया है कि क्रम की अन्यता, अर्थात् भिन्नता से ही परिणाम की अन्यता या भिन्नता सिद्ध होती है। फिर काल भी वस्तुतः क्रमरूप ही है, क्योंकि वह क्षण का क्रम कहा गया है। क्षण वास्तविक है, परन्तु काल बौद्ध पदार्थ, अर्थात् बुद्धि से कल्पित है। क्षण के क्रम से ही बुद्धि में काल के ज्ञान का उदय होता है। क्षण तथा उसके क्रम के ऊपर संयम करने से विवेकज ज्ञान का उदय होता है। कृतार्थता को प्राप्त गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति धर्ममेघ समाधि के अनन्तर होती है। जब तक भोग तथा अपवर्ग सिद्ध नहीं होते, तब तक यह समाप्त नहीं हो सकती।

प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में क्षणिकवादी बौद्धों के मत में भी क्रम की आलोचना होती थी तथा स्फोटवादी वैयाकरण समाज में भी। कश्मीर में जिस शैव सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ था, उसमें भी विशेष रूप से क्रम की चर्चा होती थी। क्रमसूत्र नामक एक ग्रन्थ का निर्देश मिलता है, जिसमें नित्योदित समाधि-प्राप्ति का उपाय वर्णित है। उसमें क्रममुद्रा का उपयोग दिखाई देता है। प्रसिद्धि है कि क्रममुद्रा से बहिर्मुख साधक भी समावेश को प्राप्त होते हैं। क्रममुद्रा की विशेषता यह है कि इसमें पहले बाहर से भीतर प्रवेश करना पड़ता है। तदनन्तर आवेश-सम्पन्न होने पर भीतर से बाहर निकला जाता है। उसी प्रक्रिया से भीतर और बाहर बराबर हो जाता है, अर्थात् एक ही समय में पूर्णाहन्ता के साथ-साथ विषय का ग्रहण भी होता है। यह क्रममुद्रा वास्तव में चितिमुद्रा है, जो सृष्टि-स्थिति-संहार रूप संवित्-चक्र, अर्थात् क्रम को अधिष्ठित करती हुई उसे आत्मसात् कर लेती है। परा शक्ति की स्फुरत्ता के साक्षात्कार से ही इस प्रकार का समावेश हो सकता है। यह परम योगावस्था का निदर्शन है।

इस निबन्ध के प्रारम्भ में हम क्रियापक्ष और भावपक्ष की चर्चा कर चुके हैं। कविराज जी का कहना है कि साधना की दो दिशाएँ होती हैं—एक है क्रिया की दिशा और दूसरी है भाव की दिशा। इनमें भाव अन्तरंग है और क्रिया बहिरंग। अन्तर्निहित भाव को न समझने पर क्रिया व्यर्थ मालूम पड़ती है। उसी प्रकार क्रिया का त्याग करने से भाव में प्रवेश पाना असंभव हो जाता है। दोनों ही सत्य हैं और दोनों ही आवश्यक। अत एव प्रत्येक साधना की पृष्ठभूमि में उसका सम्यक् उपपादन करने के लिये उसके तत्त्व के दर्शन की आवश्यकता होती है। यह दर्शन खण्ड दृष्टि में सम्यग् दर्शन का रूप नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि बिना अखण्ड या सामूहिक दृष्टि के खण्ड या अंश का तात्पर्य परिस्फुट नहीं हो सकता। मतों का खण्डन-मण्डन केवल बुद्धि को निर्मल करने के लिये तथा प्रस्थानगत वैशिष्ट्य की रक्षा के लिये होता है। वस्तुतः समन्वयदृष्टि से देखा जाय, तो सभी मत सत्य हैं एवं दृष्टि और अधिकार के भेद से सभी उपादेय भी हैं। इसलिये सर्वत्र सहानुभूति के साथ समीक्षण आवश्यक है। ऐसा यदि न किया जाय, तो रहस्य का उद्घाटन ही नहीं हो सकेगा। जो पुरुष श्रद्धा के साथ सत्य के निकट उपस्थित नहीं होता, उसके समक्ष सत्य अपना स्वरूप प्रकट ही नहीं करता। यही भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के ऐक्य का निगूढ तत्त्व है। "अविभक्तं विभक्तेषु" (१८।२०) यह गीता का वचन भी इसी अर्थ का परिचायक है।

अत एव विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना चाहिये, परन्तु परमार्थ रूप में जो सत्ता दृष्टिगोचर होती है, वह एक ही है। इस दृष्टि से देखने पर बौद्ध, जैन आदि प्रस्थानों का, न्याय आदि षड्दर्शनों का तथा वैष्णव, शैव, शाक्त प्रभृति दृष्टियों का वैशिष्ट्य अखण्ड सत्ता की पृष्ठभूमि में परिस्फुट रूप से प्रकट होगा।

श्रद्धेय कविराज जी के इस प्रकार के उपदेशों से प्रेरित होकर ही लेखक ने अपना यह विचार बनाया है कि भारतीय तत्त्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि के कल्पित काल-विभागों में बाँट कर किया गया अध्ययन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के दैशिक और कालिक क्रमिक विकास का तुलनात्मक एवं घातप्रति-घातात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिये और ऐसा करते समय ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे कल्पित विभागों को, जिनको कि श्रद्धेय कविराज जी ने खण्ड के नाम से पुकारा है, सत्य की खोज में बाधक नहीं होने देना चाहिये। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रविष्ट हो गई हैं और देश की अखण्डता पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ा है। हम उदाहरण के रूप में पंजाब की समस्या को ही ले सकते हैं।

इस प्रकार की समस्याओं से छुटकारा पाने के लिये हमें वैदिक विश्व-बन्धुत्व भी भावना के साथ भगवान् बुद्ध की महाकरुणा को एवं भगवान् महावीर की कठोर तपस्या को मिलाना होगा। साथ ही आगम और तन्त्र-शास्त्र में, सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं की वाणी में बताई गई समता-दृष्टि का भी विस्तार करना होगा। आज की दुनियाँ केवल राजनीतिक संघर्ष से ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक विद्रूपताओं से भी भरी हुई है। राज-नीतिक लाभ के लिये धार्मिक और सांस्कृतिक क्रियाकलापों का भी सहारा लिया जा रहा है और एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण में बाधा पहुँचाई जा रही है। दुर्योधन की जंघा की तरह कमजोर अंगों पर आक्रमण सदा होता रहा है। इसलिये हमें अपनी कमजोरियों को पहचान कर उनको दूर करने का प्रयत्न करना होगा। इसके लिये दूसरों को दोषी बताने से हमारा कोई लाभ होने वाला नहीं है और न इस तरह से विघटन की प्रक्रिया ही रुकने वाली है।

क्रियापक्ष के बाद भावपक्ष का विश्लेषण करते हुए कविराज जी कहते हैं कि आध्यात्मिक साधना का रहस्य समझने के लिये साधक को अपनी व्यक्ति-गत प्रकृति का अनुसरण करना चाहिये, जिसका बोधिचित्तविवरणकार ने

सत्त्वाशय के नाम से निर्देश किया है। साथ ही उस साधना की परम्परागत धारा और वह महाभाव के जिस दिग्विशेष की निर्देशक है, उसकी स्वरूपगत विलक्षणता और अखण्ड सत्ता में उसका निर्दिष्ट स्थान क्या है? यह जानना आवश्यक है। इसमें साधक की बुद्धिगत सूक्ष्मता और स्वच्छता के मूल में परमात्मा की जाग्रत् करुणा अवश्य ही होनी चाहिये।

इस आध्यात्मिक वैयक्तिक साधना का अपना स्थान है। यह भी मानव कल्याण के लिये प्रवृत्त है, किन्तु भगवान् बुद्ध के उपदेश के अनुसार बहुजनहिताय बहुजनसुखाय व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना का विकास भी आवश्यक है। यह तभी हो सकता है, जब कि पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही, ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषकारवाद की जनमानस में प्रतिष्ठा हो। ऐसा करने पर ही हम श्रद्धेय गुरुचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के बताये अखण्ड महायोग के माध्यम से योगी अरविन्द की अतिमानस सृष्टि को धरती पर उतार सकते हैं। एक दुनिया और विश्व-संस्कृति की कल्पना भी तभी साकार हो सकती है।

कविराज जी के अखण्ड महायोग को उन्हीं के शब्दों में संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

महायोग का अर्थ है, अनन्त प्रकार से असंश्लिष्ट और विक्षिप्त भावों की एकसूत्र में संयोजना एवं उनकी तादात्म्यरूपेण प्रतिष्ठा। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक और लोकोत्तर का परस्पर योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग आदि सभी महायोग के अन्तर्गत हैं।

काल तात्त्विक दृष्टि से महाकाल और खण्डकाल में विभक्त है। महाकाल अखण्ड और निरन्तर सृष्टिशील है, तो खण्ड काल अतीत, वर्तमान और अनागत रूप से त्रिधा विभक्त है। अनादिकाल से काल का यह स्रोत चला आ रहा है। आलंकारिक भाषा में कहा जा सकता है कि विशाल काल-सरिता निरन्तर अनागत से प्रवाहित होकर वर्तमान का स्पर्श करती हुई अतीत के गह्वर में लीन हो जाती है। किन्तु ऐसी भी स्थिति आती है, जहाँ त्रिकाल नहीं है। वहाँ एकमात्र नित्य वर्तमान अखण्ड काल ही विराजमान रहता है। वहाँ सभी वस्तुएँ नित्य प्रकाशमान रहती हैं। किसी का भी परिणाम नहीं होता। इस अखण्ड महाकाल में उपर्युक्त महायोग की स्थिति ही अखण्ड महायोग के नाम से अभिहित है।

इस अखण्ड महायोग की पूर्णता अमरत्व-प्राप्ति, निराकार प्रेम और अन्ततः साकार प्रेम-साधना में है। इस योग में अन्ततोगत्वा जगत् का वैचित्र्य रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक की प्राप्ति से सबकी प्राप्ति का नित्य संबन्ध लगा रहता है। जगत् की वर्तमान स्थिति में यह नहीं है। एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति, एक की प्राप्ति से सभी की प्राप्ति, चाहे पूर्ण रूप से हो चाहे आंशिक रूप से, तभी हो सकती है, जब समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से समग्र जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो।

अखण्ड महायोग की साधना में तात्त्विक दृष्टि से दो वस्तुओं की पूर्ण अपेक्षा है—एक तो मनुष्य का श्रेष्ठ प्रयत्न और दूसरा परमात्मा का परम अनुग्रह। मनुष्य के लिये चाहिये—पुरुषकार और एकीकरण। पुरुषकार द्वारा तत्त्वों का लय करना पड़ता है। यह सारा जगत् पृथ्वी से लेकर महामाया पर्यन्त विस्तृत है। प्रथम तत्त्व जितना व्यापक है, दूसरा तत्त्व उससे अधिक व्यापक है। इसी प्रकार अन्तिम तत्त्व सर्वाधिक व्यापक है। व्याप्य तत्त्व से व्यापक तत्त्व में उत्थान का एकमात्र उपाय है—कर्मगत कौशल। दूसरा तत्त्व प्राप्त होते ही उसके मण्डल की अधिगति (प्राप्ति) होती है। अन्तिम तत्त्व तक जाने पर समग्र विश्व उसके अधिकार में आ जाता है। इस प्रकार मनुष्य के श्रेष्ठ प्रयत्न पुरुषकार द्वारा साधक एकीकरण की प्रक्रिया पूरी करता है। पुरुषकारवाद की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं।

योग-साधना की दूसरी धारा है—परमेश्वर की महाकरुणा के प्राप्त होने पर अपनी आश्रित सत्ता को अनुगृहीत करना। परमेश्वर की कृपा मनुष्य की कर्मगत या ज्ञानगत योग्यता से नहीं प्राप्त होती। कर्म का फल ऐश्वर्य है और ज्ञान का कैवल्य। ये दोनों महाकृपा के उद्बोधक नहीं हैं। महाकृपा का स्फुरण किसी जीव पर परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति से होता है। इस कृपा का संचार होने पर मनुष्य में शिवत्व आ जाता है। उस समय वास्तविक दृष्टि से परमात्मा की क्रियाशक्ति ही काम करने लगती है। उसका पूर्ण विकास होने पर शिवत्व पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है।

कर्म और कृपा के समन्वय से ही योगी अखण्ड महायोग के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

अखण्ड महायोग का उद्देश्य है—गुरुकृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खण्ड रूप से यह अनादि काल से होती चली आ रही है, किन्तु उससे समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं होता। इसके लिये आवश्यक है कि मोक्षपथ की ओर आरोहण का कार्य समाप्त कर, महाशक्ति के

साथ अपना तादात्म्य सिद्ध कर, महाशक्तिसम्पन्न होकर योगी महाप्रेम की साधना के लिये इसी संसार में अवतरण करे। इस अवतरण का उद्देश्य है—विशुद्ध प्रेम की साधना। महाकरुणा से प्रेरित होकर ही बुद्धदेव ने महाबोधि की प्राप्ति हो जाने पर भी निर्वाण में प्रवेश न कर सभी दुःखी जीवों के उद्धार का शिव संकल्प किया था। महाप्रेमावस्था के सिद्ध हो जाने पर योगी महाप्रकाशमय हो जाता है। इसके अनन्तर स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मीलन होता है और जगत् में महाप्रेम के पूर्ण विकास का मार्ग खुल जाता है।

श्रद्धेय कविराज जी के इस आध्यात्मिक अखण्ड महायोग को आधिभौतिक स्थूल दृष्टि से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से कुछ समझा जा सकता है। आधुनिक जगत् स्वत्व के संकोच के कारण दुःखी है। यह स्वत्व धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब-कबीले आदि के नाना विभ्रमों में पड़ कर बँटा हुआ है। अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इन विभ्रमों को तोड़ पाने के उपरान्त ही अखण्ड स्वत्व का बोध संभव हो सकता है। कविराज जी को पुष्पदन्त के शिवमहिम्नःस्तव का—

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

यह श्लोक अत्यन्त प्रिय था। सहिष्णुता और समन्वय भारतीय इतिहास की विशेषता रही है। यह प्रक्रिया अब भी निरन्तर क्रियाशील है। त्याग और तपस्या के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित साधु-सन्तों की परम्परा परस्पर के स्थूल भेदों को मिटाने में निरन्तर सचेष्ट रही है। महात्मा गांधी, योगी अरविन्द आदि महामानव इसी परम्परा की अलख जगाते रहे हैं। इन्होंने आधुनिक विश्व के वर्तमान धर्मों और विभिन्न वादों के विरोधी दृष्टिकोणों में सहिष्णुतापूर्वक समन्वय स्थापित कर अखण्ड संस्कृति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है, जिससे कि विश्वसमष्टि में इस अखण्ड संस्कृति के आविर्भाव से स्वत्व का संकोच दूर हो और "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्त भावना का विकास हो। जहाँ प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु के अभेद के प्रतिष्ठित होने पर भी अपने स्वरूप के नष्ट होने का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ विश्व के किसी भी वाद, धर्म अथवा संस्कृति के लोप का भय क्यों उपस्थित होगा?

अखण्ड महायोग के उपासक के स्थूल व्यापार की इतिकर्तव्यता इस अखण्ड संस्कृति के माध्यम से व्यष्टि एवं समष्टि में स्वत्व का विस्तार कर, उसमें विश्व के प्रति भ्रातृभाव का उन्मीलन कर समाप्त होती है। इस प्रकार यहाँ स्वत्व का विस्तार होता है, लोप नहीं। अखण्ड महायोगी के आध्यात्मिक

स्थूल चिन्तन में यह स्थूल व्यापार भी निरन्तर जुड़ा रहता है, जिससे कि दुःख-व्याधि ग्रस्त यह समग्र विश्व अपने स्थूल रूप में भी शान्ति और प्रेम के आलोक से आलोकित हो सके।

इसी परिप्रेक्ष्य में कविराज जी का कहना है कि भारतीय साधना 'भारतीय' नाम से आख्यात होने पर भी विश्वमानव की साधना है। भारतवर्ष में प्राचीन युग से वर्तमान काल तक असंख्य साधन-धाराएँ प्रवर्तित हो चुकी हैं और हो रही हैं। यदि कभी भारतीय साधन-धाराओं के क्रमविकास और उसके अन्तर्निहित वैचित्र्य के विवरण का निरूपण करते हुए किसी इतिहास ग्रन्थ का निर्माण हो, तो इन सब पृथक् पृथक् साधन-धाराओं के मूल का निरूपण करना सहज होगा। उस समय यह स्पष्टतः प्रतीत होगा कि अन्यान्य देशों में प्रचलित प्रायः सभी धाराओं की एक झलक किसी न किसी आकार में भारतीय साधना-विशेष में विद्यमान है। तब समझ में आवेगा कि भारतीय अध्यात्म-विद्या के विशाल क्षेत्र में सभी धर्मों का वैशिष्ट्य न्यूनाधिक मात्रा में संरक्षित है।

संघर्ष, बिभीषिका, परस्पर अविश्वास और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा यह विश्व तभी त्राण पा सकता है, जब कि "वसुधैव कुटुम्बकम्" और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का दिव्य संदेश विश्व-संस्कृति को समर्पित किया जा सके। यह तभी हो सकता है, जब कि भारत इसको देने में समर्थ हो। दुनिया के सभी धर्म और संस्कृति के अनुयायी यहाँ बसते हैं। वे यदि शान्तिपूर्वक रहना सीख जाँय, तो अनायास ही विश्वसंस्कृति की सर्जना का मार्ग खुल सकता है। कविराज जी का यह निश्चित मत था कि अखण्ड दृष्टि ही विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा और एकता स्थापित कर सकती है। इस नवीन दृष्टि के आविर्भावक उस क्रान्तदर्शी मनीषी को आज हम श्रद्धावनत हो स्मरण करते हैं॥

●

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥

(मनु० ४।१२)

जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य

अत्यन्त प्राचीन इस काशी नगरी में अनेक मठ विद्यमान हैं। उनमें जंगमबाड़ी मठ अति प्राचीन है। विक्रम संवत् ६३१ का काशी के राजा जयनन्ददेव का दानपत्र ही इस मठ की प्राचीनता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जंगमबाड़ी मठ की प्राचीनता के बारे में कल्याण के 'शिवांक', 'गाण्डीवम्' संस्कृत साप्ताहिक (२६-१२-१९६५) तथा 'आज' (७-१२-५०) आदि हिन्दी पत्रों में विशेष विद्वानों के लेख छप चुके हैं।

काशी का यह जंगमबाड़ी मठ वीरशैव धर्म के प्रधान पांच जगद्गुरु पीठों में से एक है। इस पीठ परम्परा में ८४ जगद्गुरु हो चुके हैं। वर्तमान पीठाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी ८५ वें जगद्गुरु हैं। इस पीठ परम्परा के प्राचीन सभी महन्त तपस्वी, त्यागी, योगी एवं विद्वान् हो गये हैं।

इस पीठ के ८४ वें महन्त श्री १००८ जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामीजी संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं, अनेक भारतीय भाषाओं के ज्ञाता, इतिहासज्ञ तथा श्रेष्ठ संशोधक भी थे। आप विद्यार्थी जीवन में चिदरेमठ वीरभद्र शर्मा के नाम से प्रसिद्ध थे।

आपका जन्म आन्ध्रप्रदेश के नलगोंडा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम चिदरेमठीय पंडित नागभूषण शास्त्री तथा माता का नाम श्रीमती श्यामलाम्बा था। आपकी प्राथमिक शिक्षा जन्मस्थान में ही हुई। बाद में आपने हैदराबाद, नारायणपेठ आदि स्थानों की संस्कृत पाठशालाओं में पंचकाव्य, नाटक आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया।

हैदराबाद हाईकोर्ट के वकील श्रीमान् बाबूराव देशमुख जी की विशेष आर्थिक सहायता से आप काशी आये और यहां श्री विश्वाराध्य गुरुकुल जंगमबाड़ी मठ में निवास कर दस साल तक कठोर परिश्रम करके कलकत्ता संस्कृत एसोसियेशन की वेदतीर्थ, काव्यतीर्थ, स्मृतितीर्थ, सर्वदर्शनतीर्थ एवं मथुरा ब्रजमण्डल युनिवर्सिटी की साहित्य विशारद तथा धर्माचार्य आदि अनेक परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। इस तरह आप वेद-वेदान्त-न्याय-मीमांसा-सांख्य-योग-धर्मशास्त्र आदि प्राचीन भारतीय शास्त्रों के अच्छे विद्वान् बन गये।

इतिहास का भी आपको अगाध ज्ञान था। आप भारतवर्ष की बीस तरह की प्राचीन लिपियों के ज्ञाता थे, जिसके कारण आपको देश के कितने ही पुराने शिलालेखों तथा ताम्रशासनों को पढ़ने में सफलता मिली थी। उत्तर-प्रदेश के एक प्राचीन शिलालेख को पढ़कर उसका सही अर्थ आपने बिहार की सुप्रसिद्ध 'पुरातत्त्व' नामक पत्रिका में प्रकाशित कराया था, जिसके अर्थ के बारे में १९३३ तक विसंवाद रहा। आपके इस लेख की प्रशंसा इंगलैण्ड की रायल एशियाटिक सोसाइटी जैसी बड़ी-बड़ी संस्थाओं ने की थी।

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के सम्मान में वि. सं. १९९१ में प्रयाग से प्रकाशित 'भारतीय अनुशीलन' नामक ग्रन्थ में 'विजयादित्य का अम्मणगि ताम्रपत्र' शीर्षक आपका लेख पुरातत्त्व के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व रखता है।

आपका तेलुगु, कन्नड़, मराठी, हिन्दी और संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार था। साथ ही बंगला, उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं की भी समुचित जानकारी थी।

आपने संस्कृत वाङ्मय चरित्र, शिवपंचस्तवीव्याख्या, शिवपंचविंशति-लीलाशतक, ऋग्वेदानुवाद (प्रथमाष्टक), लिंगधारणविधि, वीरशैवविवाहविधि, आन्ध्र वीरशैवरू, मालविकाग्निमित्रव्याख्या, लिंगधारणसिद्धान्त, मीमांसा-परिभाषा की तेलुगु व्याख्या, मठमुलु मन्दिरमुलु, काशी पीठाचे प्राचीनत्व, श्रीकरभाष्य प्रास्ताविक, रेणुकविजयप्रशस्ति आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त समाज का अग्निकुण्ड, लग्न या भग्न, वरशुल्कव्याघ्र आदि लघु कथाएँ एवं शताधिक निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। आपकी इस विद्वत्तासे प्रभावित होकर काशी संस्कृत साहित्य समाज ने अपने १० वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर म. म. मुकुन्द झा बक्षी की अध्यक्षता में आयोजित सभा में 'विद्यारत्न' उपाधि देकर आपका सत्कार किया।

कविता रचने की प्रतिभा आपमें बाल्य काल से ही थी। आप 'बालकवि' कहे जाते थे। संस्कृत, हिन्दी, कन्नड़, एवं तेलुगु भाषाओं में आपने अनेक पद्य लिखे हैं और उनमें से अधिकांश पद्य विभिन्न प्रसंगों में छप चुके हैं। अपने प्रभावशाली व्याख्यानों द्वारा आपने आन्ध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में अपूर्व जागृति पैदा की थी। सन् १९३५ में आप कर्नाटक प्रदेश के यादवगिरि शंकर संस्कृत कालेज में प्रिन्सिपल पद पर नियुक्त हुए। बाद में आपने सिकन्दराबाद में ही 'वीरशैव गुरुकुल' नामक संस्कृत पाठशाला तथा 'शैवभारती भवन' नामक पुस्तकालय की स्थापना की। 'विभूति' नाम के तेलुगु मासिक पत्र का सम्पादन भी आपने प्रारम्भ किया।

बहुमुखी प्रतिभा, कर्मठता एवं शास्त्रीय ज्ञान की गम्भीरता के कारण आप सन् १९४४ में विजया दशमी के पवित्र अवसर पर जंगमबाड़ी मठ के जगद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित किये गये।

काशीपीठ के जगद्गुरु पद पर आप केवल चार साल ही रहे, लेकिन इस अल्पावधि में आपने जंगमबाड़ी मठ में एक 'ज्ञानमंदिर' ग्रन्थालय की स्थापना की, जिसमें दस हजार से भी अधिक विभिन्न भारतीय भाषाओं एवं शास्त्रों के दुर्लभ प्राचीन ग्रन्थोंका तथा ताड़पत्र पर लिखी सहस्राधिक हस्त-प्रतियों का संग्रह है। काशीमें अपने ढंग का यह विशिष्ट ग्रन्थालय है। इस ग्रन्थालय का प्रत्येक ग्रन्थ आपकी अद्भुत अध्ययनशीलता का परिचय देता है। इस ग्रन्थालय की अनेक ताड़पत्रीय हस्तप्रतियों को मैसूर विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या संशोधनालय ने माइक्रोफिल्म तैयार कर विद्वानों के लिये सुलभ बना दिया है।

'शिवधर्म ग्रन्थमाला' के नाम से एक ग्रन्थमाला का प्रकाशन भी आपने प्रारम्भ किया था। अल्प अवधि में ही इसमें अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। साहित्य के क्षेत्र में यह आपका बहुत बड़ा योगदान था। आयु के हर एक क्षण को आपने विद्यासम्पादन तथा उसके प्रसार में लगाया[१] ॥

•

श्रद्धेय प्राध्यापक : आदर्श मानव[२]

सन् १९५० में नवरात्र का अवकाश मेरा लखनऊ में बीता था। स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव जी के अभिधर्मकोशभाष्य के हिन्दी अनुवाद को प्रेस में देने का कार्य काफी आगे बढ़ चुका था। आचार्य जी तब लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद को सुशोभित कर रहे थे। उन्हीं के निवास स्थान पर ज्ञात हुआ कि उत्तरप्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग के आग्रह पर लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्राचार्य श्री को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर महोदय को वाराणसी के संस्कृत महाविद्यालय को सुव्यवस्थित करने के लिये प्रिंसिपल के पद पर कुछ समय के लिये भेजना आचार्य जी ने

१. दि० १३ जनवरी, सन् १९८७ के 'आज' में प्रकाशित।

२. ऋतम्, अखिल भारतीय संस्कृत परिषत् पत्रिका, लखनऊ, भा० २-६, सन् १९७०-७५ में प्रकाशित।

स्वीकार कर लिया है। वाराणसी प्रस्थान करने के पूर्व वे आचार्य जी से मिलने आये थे और सुहृद्वर पण्डित श्री जगन्नाथ उपाध्याय जी (अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पालि विभाग के अध्यक्ष तथा आचार्य) के साथ दूर से ही उनका दर्शन कर हम लोगों ने अपने को धन्य माना था। आचार्य जी जैसे मनीषी और महामानव ने अय्यर महोदय की विद्वत्ता और सदाशयता के प्रति हम लोगों के मन में श्रद्धा का बीज जो पनपा दिया था।

प्रोफेसर अय्यर महोदय लखनऊ से जब वाराणसी जाने लगे तो हम लोग स्टेशन पर उपस्थित थे। एक आधुनिक विश्वविद्यालय के वातावरण के लिये यह अनोखी बात थी कि संस्कृत विभाग के छात्र ही नहीं, डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय सरीखे अपने विषय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् भी विदाई के समय चरण छूकर उनका अभिवादन कर रहे थे।

प्राचार्य अय्यर महोदय की दृष्टि प्राचीन और आधुनिक ज्ञान में समन्वय स्थापित कर प्राचीन ज्ञान को आगे बढाने की रही है। वे काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य (प्रिंसिपल) के पद पर ९ मास तक रहे। इस अवधि में वे विभिन्न गोष्ठियों, चलचित्रों, प्रवचनों और व्यक्तिगत वार्तालाप के द्वारा इस संस्था के अध्यापन विभाग के और सरस्वती भवन पुस्तकालय के सभी विद्वानों को इस पवित्र कार्य में लगाने का पूरा प्रयत्न करते रहे। एक विचार गोष्ठी का विषय इन्होंने रक्खा था—"नवीन दर्शन की उत्पत्ति कैसे हो ?" काशी के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने नवीन दर्शन की उत्पत्ति का ही विरोध कर दिया था और आज भी काशी का पूरा संस्कृत समाज इस मोहतन्द्रा में पड़ा हुआ है कि प्राचीन ऋषि-मुनियों ने जिन सिद्धान्तों की स्थापना कर दी है, उस विषय में कुछ नई उद्भावना करने की सामर्थ्य हम में आ ही कहाँ से सकती है ? चलचित्रों के माध्यम से इन्होंने शब्द, रूप, परमाणु, शक्ति आदि के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोग-पद्धति से इन विद्वानों को परिचित कराने के लिये भरपूर प्रयत्न किया और इन विषयों को आधुनिक तथा प्राचीन दृष्टिकोणों से समझने वाले विशेषज्ञ विद्वानों के परस्पर विचारों के आदान-प्रदान में सहायता पहुँचाने का भी अथक परिश्रम किया, किन्तु इनके चले जाने के बाद यह सब कुछ व्यक्तियों की स्मृति का विषयमात्र रह गया।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय से त्रैमासिक पत्रिका 'सारस्वती सुषमा' का प्रकाशन होता रहा है। इस पत्रिका को अपने उक्त आदर्शों के अनुरूप ढालने के लिये इन्होंने उसको एक अनुसन्धानप्रधान पत्रिका का स्वरूप प्रदान किया। अपने सम्पादकीय में इन्होंने लिखा था कि अनुसन्धानप्रधान निबन्धों

के अतिरिक्त इसमें गंभीर शास्त्रीय निबन्धों को और आधुनिक भाषाओं में प्रकाशित भारतीय विद्या सम्बन्धी उत्कृष्ट निबन्धों के संस्कृत अनुवाद को भी यथोचित स्थान मिलेगा। यह कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा की यह अनुसन्धानप्रधान प्रथम पत्रिका रही है और इसी के पथ-प्रदर्शन पर अब देश के विभिन्न भागों से लगभग आधा दर्जन इस तरह की पत्रिकाएँ संस्कृत भाषा में भी प्रकाशित होने लगी हैं।

सन् १९५८ में काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय नाम दे दिया गया। सन् १९६०-६१ में प्राचार्य अय्यर महोदय कुछ समय के लिये उपकुलपति बन कर पुनः यहाँ आये। इस संस्था का यह नया रूप इनको कभी पसन्द नहीं आया। वे इसको राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के रूप में ही फलता-फूलता देखना चाहते थे, जिससे कि आधुनिक विश्वविद्यालयों के दोष इस संस्था में प्रवेश न कर सकें। मनुष्य का सोचा सब कुछ होता नहीं है। संस्कृत विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर इन्होंने प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान में समन्वय स्थापित करने के अपने दृष्टिकोण को पुनः विस्तार से स्पष्ट किया, किन्तु यह संस्था उनके इस दृष्टिकोण को विभिन्न कारणों से हृदयंगम न कर सकी। फलतः यह संस्था अपने मूल उद्देश्य से ही, जो कि इसके संस्थापक स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी का प्रिय मनोरथ रहा है, एक प्रकार से दूर होती चली जा रही है। हाँ, इसके साथ उनका नाम अवश्य जोड़ दिया गया है।

प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान के प्रति इस समन्वित दृष्टिकोण के अतिरिक्त प्राचार्य अय्यर महोदय की सामान्य मानवीय मूल्यों के प्रति भी एक सहज, स्वाभाविक दृष्टि है। उसी से प्रभावित होकर इन पंक्तियों के लेखक ने इस लेख के शीर्षक में 'आदर्श मानव' शब्द जोड़े हैं। इनका निरभिमान, सरल, किन्तु अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ दृष्टिकोण इनके सम्पर्क में आने वालों को सहज रूप से प्रभावित करता रहा है। मानव देवता बन जाता है या कभी-कभी पशुओं की सी चेष्टा करने लगता है। मानव के रूप में एक मनुष्य कहाँ तक उठ सकता है, इसके उदाहरण के रूप में यह लेखक स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव और प्राचार्य को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर का नाम ही ले सकता है। पातंजल योगसूत्र में चित्त के परिष्कार के लिये मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का उपदेश दिया गया है। बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों में इनको चार ब्रह्म-विहार बताया गया है। उक्त दोनों महानुभावों का चित्त इन भावनाओं से सहज, स्वाभाविक गति से निरन्तर ओत-प्रोत था और है। उत्पीडक का अनिष्ट

न कर उत्पीडित की सहायता करना इनका मूलमन्त्र रहा है। उत्पीडक की चित्तवृत्तियों के परिष्कार की सहज चिन्ता इनमें निरन्तर प्रबल रही है। दानवता से उठ कर मनुष्य सीधे देवता बन जाना चाहता है। फलतः आज मानवता के दर्शन दुर्लभ हैं। मनुष्य देवता बन जाने से पहले उक्त दोनों महानुभावों के उदाहरण पर यदि मानव बनने का प्रयत्न करे, तो विद्रूप मानसिक तनावों से घिरे इस जगत् का वर्तमान रूप में ही परिष्कार हो सकता है।

इन्हीं शब्दों के साथ हम आदर्श मानव को पूरी श्रद्धा के साथ आदरपूर्वक अपना अभिवादन अर्पित करते हैं और उनकी दीर्घायु की भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना करते हुए चाहते हैं कि काश, इस भावना का विकास हममें भी हो सके ॥

•

आचार्य बलदेव उपाध्याय और तन्त्रागमीय दर्शन

"धर्मशास्त्र का इतिहास" म० म० भारतरत्न पी० वी० काणे का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके पाँचवे खण्ड के २६ वें अध्याय में विद्वान् लेखक ने तन्त्रशास्त्रीय दर्शन की चर्चा करते हुए लिखा है कि तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं आचारों से संबद्ध इस अध्याय के अन्त में एक विचित्र बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। सायण-माधव भाइयों (१४वीं शताब्दी) ने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में १५ दर्शनों की चर्चा की है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि यहाँ तन्त्रों के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा गया है, जब कि चार्वाक दर्शन, बौद्ध तथा जैन दर्शन के सिद्धान्तों पर पर्याप्त लिखा है। ऐसा मानना असंभव है कि इन दो भाइयों को तन्त्र के विषय में ज्ञान नहीं था। यदि कल्पना का सहारा लिया जाय, तो ऐसा कहा जा सकता है कि जिन कारणों से बंगाल के राजा वल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' में देवीपुराण को छोड़ दिया था, उन्हीं कारणों से सम्भवतः इन विद्वान् भाइयों ने तन्त्रों की चर्चा नहीं की। इतना ही नहीं, तब तक तन्त्र-ग्रन्थ समाज में पर्याप्त रूप से अरुचिकर हो चुके थे और विद्वान् लोग इनका विरोध करने लग गये थे।

उनकी यह बात तान्त्रिक वाङ्मय की बौद्ध, कौल, वाम आदि शाखाओं पर भी लागू हो सकती है, जैसा कि आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने अपने ग्रन्थों में लिखा है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि प्रपञ्चसार में तान्त्रिक दर्शन और अन्य सामान्य विषयों का निरूपण करने के बाद सर्वप्रथम शक्ति की उपासना वर्णित है। सौन्दर्यलहरी की टीका में लक्ष्मीधर ने कुलाचार को अवैदिक और समयाचार को वैदिक सिद्ध किया है। आज भी महान् आचार्य शंकर के द्वारा स्थापित मठों की परम्परा में त्रिपुरा की उपासना उसी विधि से सम्पन्न होती है। सर्वदर्शनसंग्रह में भी लकुलीश पाशुपत, शैव सिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर दर्शन के अलग-अलग प्रकरण हैं। ये सभी दर्शन आगम और तन्त्रशास्त्र का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। पूर्णप्रज्ञ दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सर्वदर्शनसंग्रहकार ने कहा है कि पांचरात्रोपजीव्यत्व रामानुज और माध्व दर्शन की समान विशेषता है। इतना सब होते हुए भी डॉ० काणे की इतनी बात सच है कि वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों द्वारा प्रतिपादित दर्शन का समावेश दर्शनशास्त्र के आधुनिक इतिहास-ग्रन्थों में नहीं के बराबर हुआ है। डॉ० सुरेशचन्द्र दासगुप्त ने अपने बृहद् इतिहास के तीसरे खण्ड में पांचरात्र आगम का तथा पांचवें खण्ड में नकुलीश पाशुपत आदि शैवागमीय दर्शनों का विवेचन अवश्य किया है, किन्तु उन्होंने भो शाक्तागमीय दर्शन की उपेक्षा कर दी है। इस अधूरे कार्य को सविधि सम्पन्न किया है आचार्य बलदेव उपाध्याय ने। इस कार्य में उनके प्रेरणास्रोत रहे हैं श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी।

भारतीय दर्शन, भागवत सम्प्रदाय और बौद्ध दर्शन मीमांसा जैसे अपने महनीय ग्रन्थों में इन्होंने जैन तन्त्रों को छोड़कर तन्त्रशास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं के साहित्य और दर्शन का सांगोपांग अथ च सारगर्भ वर्णन किया है। भागवत सम्प्रदाय के 'तन्त्र में विष्णु' नामक तृतीय अध्याय में विष्णु-भक्ति की प्राचीनता की चर्चा करते हुए इन्होंने वैष्णव तन्त्रों की पांचरात्र (सात्वत) और वैखानस शाखाओं का तथा उनके साहित्य का परिचय देकर चतुर्व्यूहवाद, षाड्गुण्यसिद्धान्त, तथा षड्विध शरणागति का विवेचन करते हुए ईश्वर के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार नामक स्वरूपों का स्पष्ट विवरण दिया है।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना होगा कि वैष्णवागम की पांचरात्र, वैखानस और भागवत नामक शाखाओं में प्रतिपादित सिद्धान्त भी रामानुज, निम्बार्क, माध्व, वल्लभ, चैतन्य आदि वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रतिपादित वैष्णव दर्शन की

विभिन्न शाखाओं को विभिन्न रूपों में मान्य रहे हैं। हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं कि पांचरात्रोपजीव्यत्व रामानुज और माध्व दर्शन की समान विशेषता है। हम इन दर्शनों की अन्य समानताओं पर भी प्रकाश डाल सकते हैं, जब कि हम वैष्णवागमों की उक्त तीनों शाखाओं के भूले-बिसरे साहित्य का संकलन और अध्ययन कर इन कड़ियों को जोड़ने का प्रयत्न करें। इस ओर श्री उपाध्याय जी का यह प्रयास सराहनीय माना जायगा।

आपकी अन्य पुस्तक बौद्ध दर्शन मीमांसा के २२वें परिच्छेद में बौद्ध तन्त्रों का परिचय दिया गया है। इस परिच्छेद को आपने पांच खण्डों में बांटा है। पहले खण्ड में तन्त्रशास्त्र का सामान्य परिचय देने के बाद यहाँ तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसकी परिधि बताई गई है। वेदानुकूल और वेदबाह्य तन्त्रों की चर्चा करते हुए यहां शाक्त तन्त्रों की वेदबाह्यता का खण्डन किया गया है तथा इसी पृष्ठभूमि में भाव और आचार की तथा पंचमकार की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। विभिन्न तन्त्र-ग्रन्थों के आधार पर यहां पंचमकार की प्रामाणिक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत हुई है।

आगम और तन्त्रशास्त्र में बाह्य और आन्तर दो प्रकार की वरिवस्या (पूजा) प्रतिपादित है। तन्त्रशास्त्र का स्पष्ट उद्घोष है कि विष्ठापूरित सुवर्ण घट जैसे त्याज्य होता है, उसी प्रकार आन्तर शुद्धि के बिना केवल बाह्य पूजा करने वाला साधक त्याज्य ही है। इसीलिये कुलमार्ग के अधिकारी की चर्चा करते हुए यहां बताया गया है कि जो ब्राह्मण परद्रव्य में अंधे के बराबर, परस्त्री के विषय में नपुंसक तथा परनिन्दा में मूक हो और जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर रखा हो, वही इस शास्त्र का अधिकारी हो सकता है। अत एव यहां कहा गया है कि पंचमकार का आध्यात्मिक रहस्य बड़ा ही गम्भीर है।

ये सभी विषय भारतीय दर्शन के वैष्णव तन्त्र शीर्षक चौदहवें परिच्छेद में कुछ अधिक विस्तार से वर्णित हैं।

इस प्रकार तन्त्रशास्त्र का सामान्य परिचय देकर आगे द्वितीय खण्ड में बौद्ध तन्त्रों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। बौद्ध धर्म में तन्त्रशास्त्र का उदय कब और कैसे हुआ? इस महनीय प्रश्न पर विचार करते हुए यहां बताया गया है कि मंजुश्रीमूलकल्प इस शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है और बौद्ध धर्म की महायान शाखा में मन्त्रयान का विकास हुआ है। यहां यह भी बताया गया है कि तन्त्रशास्त्र की सौम्य अवस्था का नाम मन्त्रयान और उसके उग्र रूप की संज्ञा वज्रयान है। वज्रयान में शून्यता के साथ-साथ महासुख की कल्पना जोड़ दी गई है। शून्यता का ही नाम वज्र है। वज्र कभी नष्ट नहीं

होता, वह दुर्भेद्य है। वज्रयान ने शून्यता, विज्ञान तथा महासुख की त्रिवेणी का संगम कर असंख्य जीवों के कल्याण का पथ प्रशस्त किया है।

इस प्रसंग में यहाँ वज्रयान का उद्भव-स्थान कहाँ हुआ था ? वज्रयान की उत्पत्ति किस समय हुई ? जैसे प्रश्नों का भी भारतीय परम्परा के अनुरूप समाधान किया गया है।

तृतीय खण्ड में वज्रयान के मान्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। महायान के चौरासी सिद्धों का सामान्य परिचय देने के बाद यहाँ विशिष्ट आचार्यों तथा उनके साहित्य का परिचय देते हुए अन्त में अद्वयवज्र और उनकी कृतियों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ खण्ड में वज्रयान के सिद्धान्तों का सारगर्भ विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ सहजयान की सहजावस्था, गुरुतत्त्व, शिष्य की पात्रता, अवधूती-मार्ग, रागमार्ग, डोम्बी तथा चाण्डाली, ऋजुमार्ग, आनन्द, महामुद्रा, तत्त्वभावना एवं तत्त्व का आध्यात्मिक रहस्य जैसे गहन दार्शनिक तथा रहस्यवादी तान्त्रिक सिद्धान्तों का परिचय बड़ी ही सरल भाषा में दिया गया है, जो कि उपाध्याय जी की केवल अपनी विशेषता है।

अन्त में यहाँ कालचक्रयान विवेचित है। सेकोद्देशटीका, विमलप्रभा आदि ग्रन्थों की सहायता से इसका विवेचन किया गया है। प्रारम्भ में यहाँ कालचक्रयान के मुख्य सिद्धान्त विवेचित हैं। आदिबुद्ध के चतुर्विध काय का निरूपण करने के बाद कालचक्र पद के प्रत्येक शब्द का गहन गम्भीर विश्लेषण किया गया है। इस विषय का विस्तृत परिचय आचार्य नरेन्द्रदेव के ग्रन्थ 'बौद्ध धर्म-दर्शन' पर लिखी गई म० म० गोपीनाथ कविराज जी की भूमिका से प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ चैतन्य की विश्व, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा नामक चार अवस्थाओं का भी निरूपण किया गया है। इनकी वेदान्तशास्त्र में प्रदर्शित जीव की प्रायः इन्हीं शब्दों से उद्घोषित विभिन्न दशाओं से तुलना की जा सकती है।

प्रो० उपाध्याय जी ने इस विषय का अपने भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ के १४-१५ परिच्छेदों में अधिक सांगोपांग वर्णन किया है। यहाँ वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों का और उनकी विभिन्न शाखाओं का परिचय दिया गया है। जैसा कि हमने अभी ऊपर बताया बौद्ध दर्शन मीमांसा के बाईसवें परिच्छेद के प्रथम खण्ड में वर्णित विषय यहाँ कुछ अधिक विस्तार से वर्णित है। आगम और तन्त्र की परिभाषा, आगम-निगम विभाग व इनकी प्राचीनता, समयाचार, कौलाचार, तन्त्रशास्त्र की प्रामाणिकता आदि विषयों पर विशेष रूप से

विचार कर यहाँ तन्त्रशास्त्र को ब्राह्मण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र और जैन तन्त्र नामक तीन विभागों में बाँटा है। फिर ब्राह्मण तन्त्रों के भी वैष्णवागम, शैवागम और शाक्तागम नाम के तीन विभाग किये गये हैं।

वैष्णवागमों के दो विभागों का परिचय यहाँ दिया गया है। जैसा कि हमने ऊपर बताया पांचरात्र आगम, उसके साहित्य और सिद्धान्तों का परिचय भागवत सम्प्रदाय में ही दिया गया है, किन्तु वैखानस आगम का, उसके साहित्य और सिद्धान्तों का परिचय कुछ अधिक विस्तार से भारतीय दर्शन में मिलता है। इस ग्रन्थ के सप्तम निर्णायक संस्करण के पृ० ४४३-४४९ पृष्ठों पर यह विषय देखा जा सकता है।

शैव तन्त्रों का परिचय तो दर्शनशास्त्र के इतिहास में अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है, किन्तु शाक्त तन्त्रों का इतिहास देना प्रो० उपाध्याय जी की अपनी विशेषता है। यहाँ पाशुपतमत, शैवसिद्धान्तागम, वीरशैवमत और प्रत्यभिज्ञादर्शन नामक शैवागमों के चार विभागों के अतिरिक्त शाक्त तन्त्रों और उनकी शाखा-प्रशाखाओं का तथा उनके आचार्यों एवं कृतियों का भी परिचय दिया गया है।

पाशुपतमत का विवेचन करते समय प्रसंगवश इन्होंने कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय की, सर्वदर्शसंग्रह में वर्णित रसेश्वरदर्शन और व्याकरण-दर्शन की विवेचना प्रस्तुत की है। इसी प्रसंग में वाणी के वैखरी, मध्यमा तथा पश्यन्ती नामक तीन प्रकारों का भी स्वरूप विवेचित है। पाशुपत सम्प्रदाय का पंचार्थ शब्द पुराणों में अनेक स्थलों पर देखने को मिलता है। यहाँ कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त नामक पांच अर्थों का विशद अभिप्राय बताया गया है।

वीरशैव सिद्धान्त शिवाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशेषाद्वैत तथा शक्तिविशिष्टाद्वैत के नामों से पुकारा जाता है। इस प्रकरण में यहाँ शिव और शक्ति तत्त्व की व्याख्या के साथ जीव और जगद्विषयक वीरशैव दृष्टिकोण की सारगर्भ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। द्वैतवादी शैवदर्शन सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध रहा है। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने कहा है कि जनता को यह सिद्धान्त अधिक रुचिकर लगता है। पति, पशु और पाश के नाम से यहाँ सारे जगत् की व्याख्या की गई है। आणव, मायिक और कार्म नामक मलों की, जो कि भगवान् के निग्रह व्यापार को चलाते हैं; तथा शक्तिपात की, जो कि भगवान् के अनुग्रह व्यापार का उद्भावक है, यहाँ विशद व्याख्या की गई है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन ईश्वराद्वयवाद, आभासवाद और स्वातन्त्र्यवाद का प्रतिपादक है। यहाँ सिद्धान्त शैवागम के समान ३६ तत्त्व मान्य हैं। इनमें से कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक तत्त्व पंचकंचुक के नाम से तथा माया को भी मिलाकर षट्कंचुक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सब विषयों का वर्णन करने के बाद यहाँ अद्वयमार्ग में ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य बताया गया है। अन्त में त्रिपुरा सिद्धान्त का वर्णन करते हुए यहाँ त्रिपुरसुन्दरी तत्त्व की तथा षोडशी कला एवं ललिता पद की सरल व्याख्या दी गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगम और तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं का अतिसंक्षिप्त विवरण उपस्थित कर आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने तन्त्र-शास्त्र के जिज्ञासुओं का बड़ा उपकार किया है। दर्शन जैसे गंभीर एवं उबाऊ विषय को भी बहुत ही सरल, तथा सरस भाषा में समझा देना इनकी अपनी विशेषता है। संक्षेप के रहते हुए भी यहां कोई प्रमुख विषय छूट नहीं पाया है।

इस लेख को समाप्त करने से पहले कुछ विषयों पर विचार कर लेना अच्छा होगा। गतिशीलता ज्ञान की अपनी विशेषता है। इतिहास के क्षेत्र में यह गति अधिक तीव्र रहती है। बाह्य और आन्तर परीक्षाओं के साथ नये-नये ग्रन्थों का प्रकाशन होता रहता है। पांचरात्रागम सम्बन्धी नये प्रकाशनों का परिचय हम 'पैनारोमा आफ पांचरात्र लिटरेचर' और 'ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लियोग्राफी आफ दी प्रिन्टेड टेक्ट्स आफ पांचरात्र आगम' जैसे ग्रन्थों से प्राप्त कर सकते हैं। अद्वयसिद्धि, सहजसिद्धि, व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि जैसे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं अथवा छप रहे हैं। वैखानसागम के भी अन्य अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

यह भी हमें स्मरण रखना होगा कि भट्ट उत्पल और उत्पल वैष्णव दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। इनमें से प्रथम शैव हैं और दूसरे वैष्णव। इन दोनों में भेद बताने के लिये ही द्वितीय उत्पल को वैष्णव कहा जाता है। उत्पल वैष्णव ने स्पन्दकारिका की स्पन्दप्रदीपिका नाम की टीका लिखी है। इसमें वैष्णव दृष्टि की प्रधानता होते हुए भी यहाँ उद्धृत सभी ग्रन्थ वैष्णवागमों के ही न होकर कुछ ग्रन्थ शैव अथवा शाक्तागमों के भी हैं। हंसपारमेश्वरतन्त्र में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की हादिविद्या का उद्धार बताया गया है। पांचरात्रमत की उत्पत्ति के देश के विषय में भी हम निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकते। शैवागम के समान वैष्णवागम का भी प्राचीन साहित्य आज काश्मीर में ही उपलब्ध होता है। द्वैतवादी शैवागम और पांचरात्रागम का दक्षिण यात्रा विषयक शोध अभी अधूरा है। सम्भवतः इस पूरे साहित्य का उद्भव और विकास प्रथमतः अन्तर्वेदि में हुआ था।

वैष्णवागम की पांचरात्र और वैखानस के अतिरिक्त भागवत नाम की तीसरी शाखा का उल्लेख हमें मिलता है। यह पांचरात्र शाखा से सर्वथा भिन्न थी। बाणभट्ट के हर्षचरित में पांचरात्र और भागवत शाखा का अलग-अलग उल्लेख मिलता है। नित्याषोडशिकार्णव की टीका सेतुबन्ध में भास्करराय ने भी वैष्णवागम की पांचरात्र, भागवत और वैखानस नामक तीन शाखाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। हयशीर्षपांचरात्र के प्रारम्भ में पचीस पांचरात्र संहिताओं के नाम गिनाने के बाद भागवत संहिताओं की गणना की गई है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के सम्पादक डा० ओटो श्राडर ने इस पूरी नामावली को पांचरात्र संहिताओं में संमिलित कर लिया है, जब कि अग्नि-पुराण में केवल पचीस नामों का ही समावेश किया गया था।

ज्ञान, योग, क्रिया, चर्या नामक पाद-विभाग वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध सभी तन्त्रों में मिलता है, किन्तु इनका पूर्ण व्यवस्थित रूप शैव तथा बौद्ध तन्त्रों में दिखाई पड़ता है। बौद्ध तन्त्रों में ज्ञान के स्थान पर अनुत्तर नाम मिलता है। मंजुश्रीमूलकल्प और गुह्यसमाजतन्त्र में यह विभाग नहीं मिलता, किन्तु इन दोनों ग्रन्थों में उक्त चारों विभागों के विषय मिलते हैं। अनेक पांचरात्र संहिताओं में भी उक्त विभाग नहीं हैं, किन्तु वहाँ भी ये सभी विषय यथास्थान प्रतिपादित हैं। उक्त दोनों बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों के काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अभिनवगुप्त आदि के प्रमाण से मत्स्येन्द्रनाथ कुल-शास्त्र के प्रथम अवतारक माने जाते हैं। इनके छः पुत्र थे। इनकी जो परम्परा चली, जो कि ओवल्ली के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें प्रभु और पाद शब्दों से अंकित शिष्य-परम्परा बौद्ध तन्त्रों और सिद्ध साहित्य में प्रचलित है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार मत्स्येन्द्र का समय पाँचवीं या छठी ई० शताब्दी है। उसी समय कुलपरम्परा प्रकाशित हुई और गुह्यसमाजतन्त्र निश्चित रूप से कुल परम्परा का अनुवर्तन करता है। इसीलिये यह किंवदन्ती प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती, जिसके आधार पर मत्स्येन्द्र और गोरख को साक्षात् गुरु-शिष्य के रूप में स्थापित किया जाता है। वज्रयान कुल अथवा कौल मत को पूर्णतया प्रतिबिम्बित करता है। लकुलीश पाशुपतमत, प्राचीन शैव-वैष्णवागम और महायान साहित्य में इसके बीज खोजने होंगे। पुराणों में वर्णित ऋषि दुर्वासा का उन्मत्तव्रत कुलमार्ग की तरफ इंगित करता है। बौद्ध तन्त्रों में इस शब्द का प्रयोग हमें अनेक स्थानों पर मिलता है। वज्रयान की अपनी भी कुछ विशेषताएँ हैं। महायान त्रिकायवादी है, जब कि वज्रयान में सहजकाय का समावेश कर बुद्ध-कायों की संख्या चार मानी गई है।

आचार्यप्रवर प्रो० बलदेव उपाध्याय जी के भारतीय दर्शन के एक संदर्भ को देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं—वेदान्त माया के ऊपरी जगत् का विवरण प्रस्तुत नहीं करता, परन्तु उस मायालोक के ऊपर महामाया के साम्राज्य का विवेचन तान्त्रिक ग्रन्थों में किया गया है। वहाँ बैन्दव उपादान से निर्मित अनन्त लोकों और जीवों की सत्ता है, जिसका रहस्यमय ज्ञान साधकों के मोक्षपथ के लिये एक उपादेय पाथेय है। तन्त्रों में शक्ति के जड़त्व को दूर कर उसकी वास्तविक चिद्रूपता को प्रकट किया गया है। शाक्त तन्त्रों मे पूर्ण अद्वैतवाद के साथ भक्ति का मनोरम समन्वय उपस्थित करना साधना-जगत् के लिये एक विशिष्ट घटना है॥

●

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
(मनु० ३।७६)

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(मनु० ३।१०१)

संस्कृत-संस्कृति

- संस्कृत साहित्य : १९६२ ई०
- व्याधि-जराग्रस्त संस्कृत शिक्षा
- क्या संस्कृत शिक्षा संकीर्णता से बाहर निकल सकेगी ?
- सांस्कृतिक नवचेतना का अरुणोदय
- इक्कीसवीं सदी में जाने से पहले
- धर्मनिरपेक्षता एक अवांछनीय शब्द
- समाजवादी संस्कृति और उसके नाम पाँच पत्र
- भारतीय संस्कृति : साधक-बाधक तत्त्व
- अपने मुसलमान भाइयों से
- एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक भाषा
- धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानिये

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥
(मनु० ४।११)

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥
(मनु० ४।१३७)

संस्कृत साहित्य, १९६२ ई०

संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाली तीन अखिल भारतीय संस्थाएँ हैं—१. संस्कृत साहित्य सम्मेलन, २. संस्कृत विश्वपरिषद् और ३. प्राच्यविद्या परिषद् ।

संस्कृत साहित्य सम्मेलन

संस्कृत साहित्य सम्मेलन मुख्यतः संस्कृत के प्राचीन प्रणाली के विद्वानों का प्रतिनिधित्व करता है। इस संगठन का स्वरूप प्रचारात्मक है। इसकी ओर से एक संस्कृत पाक्षिक पत्र 'संस्कृत रत्नाकर' का प्रकाशन होता है। आजकल इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में है और वहीं से इस पत्र का भी यदा-कदा प्रकाशन होता रहता है। जब इसका प्रधान कार्यालय जयपुर में था, तो इस पत्र के दो तीन संग्रहणीय विशेषांक प्रकाशित हुए थे। इधर सम्मेलन ने विश्व संस्कृत शताब्दी ग्रन्थ के प्रकाशन का आयोजन किया है और इसके लिये देश के विशिष्ट विद्वानों की एक समिति का भी निर्माण किया है। इसमें विगत शताब्दी में हुए सभी प्रकार के संस्कृत भाषा संबन्धी प्रकाशनों का विस्तृत परिचय रहेगा। सन् १९६३ तक इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर देने की योजना बनाई गई है। आलोच्य वर्ष में इसका २६वाँ अधिवेशन कलकत्ते में हुआ था।

संस्कृत विश्वपरिषद्

संस्कृत विश्वपरिषद् मुख्यतः सांस्कृतिक संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रचार करना है। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद इतिहास-प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर की पुनः प्रतिष्ठा के पवित्र अवसर पर प्रभासपट्टन में सन् १९५१ में इसकी स्थापना की गई थी। राजनीतिज्ञों और पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा एवं भौतिक चकाचौंध से गुमराह देश के नवयुवकों में भारतीय संस्कृति के पुनीत भावों को भरना ही इसका प्रधान लक्ष्य है। प्रशासनिक और राजनीतिक स्तर पर भारत में संस्कृत भाषा और साहित्य को समुचित स्थान दिलाने के लिये इसका कार्य सराहनीय है। अभी अभी बम्बई में इसका ७ वां अधिवेशन हुआ है।

प्राच्यविद्या परिषद्

प्राच्यविद्या परिषद् देश के प्रबुद्ध मनीषियों की संस्था है। इसका क्षेत्र व्यापक है। आधुनिक तुलनात्मक और ऐतिहासिक समालोचनात्मक पद्धति से प्राच्य देशों की सभी प्राचीन भाषाओं और साहित्य में गवेषणा करने वाले इसके अधिवेशनों में एकत्रित होते हैं और निबन्धपाठ के रूप में अपनी गवेषणाओं को प्रस्तुत करते हैं। पूना में भांडारकर इंस्टीटयूट में इसका प्रधान कार्यालय है। अधिवेशन में पढे गये चुने हुए उत्कृष्ट निबन्धों का पुस्तक रूप में प्रकाशन होता है। इस प्रकार यह संस्था प्रचार-प्रधान न होकर विचार-प्रधान है। पाश्चात्य विद्वानों की तुलना में भारत में इसी संस्था के माध्यम और प्रेरणा से कुछ महत्त्व के कार्य हुए हैं और हो रहे हैं। संस्कृत पंडितों का इस संस्था की ओर झुकाव कम है। इसका एक कारण तो इस संस्था की कार्यविधि में अंग्रेजी भाषा का प्राधान्य है, दूसरा कारण है प्राचीन प्रणाली के पंडितों का आधुनिक गवेषणा पद्धति की ओर उपेक्षाभाव। प्रसिद्ध अरब यात्री अलबेरुनी ने तत्कालीन भारतीय पंडितों पर यह आक्षेप किया था कि वे दूसरे से कभी भी कोई नई चीज सीखने को तैयार नहीं होते। उनका विश्वास रहता है कि जितना वे जानते हैं, उससे अधिक और कोई जानता ही नहीं। हमारा विगत एक हजार वर्ष का इतिहास एक प्रकार से अलबेरुनी के इस आक्षेप को सत्य ही सिद्ध कर रहा है। वराहमिहिर ने ज्योतिर्विद् यवनों को ऋषियों के समान पूजनीय माना था और इसी मनोभावना की पृष्ठभूमि में उनके समय में विविध विद्याओं की उन्नति हुई थी। आज हमें संस्कृत के अध्ययनाध्यापन की प्राचीन प्रणाली के साथ आधुनिक तुलनात्मक और ऐतिहासिक समालोचनात्मक गवेषणा पद्धति का समन्वय करना चाहिये। ग्रन्थों के समीक्षात्मक संपादन और गवेषणा के निश्चित सिद्धान्तों को ग्रहण किये बिना संस्कृत विद्या इस युग में फलवती न हो सकेगी। इसके लिये प्राच्यविद्या परिषद् के अधिवेशनों में प्राचीन प्रणाली के संस्कृत विद्वानों का अधिकाधिक समावेश हो और उसमें वे रुचि ले सकें, यह दोनों ही आवश्यक हैं। आलोच्य वर्ष में इस संस्था का २१वां अधिवेशन कश्मीर की राजधानी श्रीनगर में हुआ था।

केन्द्रीय संस्कृत परिषद् और साहित्य अकादमी

केन्द्रीय संस्कृत आयोग की सिफारिश के अनुसार केन्द्रीय संस्कृत परिषद् की स्थापना की गई थी। इस परिषद् ने संस्कृत पत्रिकाओं और संस्कृत प्रकाशनों के लिये आर्थिक सहायता देना आरंभ कर दिया है। साहित्य अकादमी की ओर से संस्कृत की षाण्मासिक पत्रिका 'संस्कृत प्रतिभा' प्रकाशित हो रही है। महाकवि कालिदास के सभी ग्रन्थों का आलोचनात्मक संस्करण प्रस्तुत किया जा

रहा है। इसके अतिरिक्त 'पुराणेतिहाससंग्रह' के नाम से पुराण और इतिहास के विशिष्ट अंशों का संग्रह, वेद, काव्य, नाटक, बौद्ध-जैन साहित्य और सुभाषितों का कोष, भारतीय कविता और संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, एवं भारतीय साहित्य सूची (प्रकाशित ग्रन्थों की) के निर्माण और प्रकाशन की योजना पर कार्य हो रहा है। आलोच्य वर्ष में अकादमी ने भारतीय लेखकसूची का प्रकाशन किया है। इसमें देश भर की सभी भाषाओं के लेखकों एवं उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। केन्द्रीय संस्कृत आयोग की सिफारिश के अनुसार ही विगत ५ जनवरी ६२ को दक्षिण भारत के प्रसिद्ध तीर्थस्थान तिरुपति में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना हुई है। प्रारंभ में इसमें प्रशिक्षण, अनुसन्धान एवं प्रकाशन का प्रबन्ध किया जा रहा है। आलोच्य वर्ष में बिहार में दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय की सविधि स्थापना हो गई है और इस प्रकार उत्तर भारत में दो संस्कृत विश्वविद्यालय हो गये हैं, किन्तु अभी तक यहाँ अनुसन्धान एवं प्रकाशन सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं हुई है। आशा है इस कमी की पूर्ति भी शीघ्र ही हो सकेगी और तभी संस्कृत के अनुसन्धान एवं प्रकाशन के क्षेत्र को सुव्यवस्था तथा गति प्राप्त हो सकेगी।

पालि त्रिपिटक एवं अट्ठकथा साहित्य

नालन्दा प्रतिष्ठान से हो रहे पालि त्रिपिटक का प्रकाशन आलोच्य वर्ष में पूरा हो चुका है। सम्पूर्ण त्रिपिटक ४१ खण्डों में पूरा हुआ। प्रत्येक खण्ड में लगभग ५०० पृष्ठ हैं। प्रत्येक खण्ड के प्रारम्भ में लगभग ३० पृष्ठ की भूमिका है, जिसमें कि समाविष्ट सामग्री का संक्षिप्त परिचय एवं विशेष अवधेय अंशों का निर्देशन किया गया है। अन्त में विशिष्ट पदों की सूची दी गई है। यह संस्करण बर्मी, सिंहली, श्यामी और रोमन संस्करणों के आधार पर तैयार किया गया है। अनुसन्धान की सुविधा की दृष्टि से इसमें उक्त प्रत्येक संस्करण की पृष्ठसंख्या भी मार्जिन में दे दी गई। यह विशाल कार्य निश्चित अवधि से पहले ही चार वर्ष की अल्प अवधि में पूरा हो सका। योजनाबद्ध प्रकाशकों के समक्ष यह एक अनुकरणीय उदाहरण है। मूल त्रिपिटक का भाष्य-रूप अट्ठकथा साहित्य है। उक्त त्रिपिटक के संपादक भिक्षु जगदीश काश्यप ने पूरे अट्ठकथा साहित्य को भी ५० खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनाई है। यह योजना ५ वर्ष में पूरी हो सकेगी। बहुत कुछ संभावना है कि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की पंचवर्षीय प्रकाशन योजना में यह सम्मिलित कर ली जायगी। नालन्दा शोध संस्थान से अटठकथा महाकोश के प्रकाशन

का भी आयोजन हो रहा है। इनके अतिरिक्त दिल्ली और कलकत्ता विश्वविद्यालयों से तथा सीलोन और बर्मा से भी पालि ग्रन्थों के प्रकाशन की योजनाएँ चल रही हैं। आलोच्य वर्ष में बंबई से 'महावंसो' का प्रकाशन हुआ है।

योजनाबद्ध प्रकाशन

मद्रास विश्वविद्यालय से संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की बृहत्सूची 'न्यू कैटलागस कैटलागरम्' का प्रथम भाग कुछ वर्षों पहले प्रकाशित हुआ था। प्राच्यविद्या परिषद् के श्रीनगर अधिवेशन के अध्यक्ष डॉ० वी० राघवन् के, जो कि मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष भी हैं, अध्यक्षीय भाषण से ज्ञात होता है कि इसका द्वितीय भाग मुद्रण के लिये प्रस्तुत कर दिया गया है। इसमें 'आ' से लेकर 'औ' तक के अक्षरों से आरंभ होने वाले ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम समाविष्ट हैं।

वैदिक शोध संस्थान

होशियारपुर के वैदिक शोध संस्थान से वैदिक पदानुक्रमकोश का प्रकाशन हो रहा है। इसके अब तक १३ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९६२ तक इस योजना को पूरा कर देने की घोषणा की गई है। इस वर्ष इस संस्था से अथर्ववेद के सायण भाष्य के दो भाग प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कि १-१० मण्डल समाविष्ट हैं। चतुर्वेदवैयाकरणपदसूची का प्रथम भाग भी यहाँ से प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त ६ खण्डों में वैदिकपदतालिका और १५ खण्डों में वैदिकशब्दार्थकोश के प्रकाशन की योजना भी प्रारंभ कर दी गई है।

भाण्डारकर शोध संस्थान

भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट से हो रहे महाभारत के आलोचनात्मक संस्करण का प्रकाशन लगभग समाप्तप्राय है। आजकल पादसूची के निर्माण का कार्य तेजी से चल रहा है। आलोच्य वर्ष में यहाँ से 'सुभाषितावलि' नाम के सुभाषितों के प्राचीन संग्रह ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन हुआ है। पूना के वैदिक संशोधन मण्डल से सायणाचार्य के भाष्य के साथ ऋग्वेद और श्रौतकोश का प्रकाशन हो चुका है। अब वहाँ से अवेस्ता का देवनागरी संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

गायकवाड़ शोध संस्थान

बड़ोदा रिसर्च इंस्टीटयूट से वाल्मीकिरामायण का जो आलोचनात्मक संस्करण प्रारंभ किया गया है, उसके अयोध्याकाण्ड का प्रथम खण्ड (१-४०

अध्याय) इस वर्ष प्रकाशित किया गया है। बालकाण्ड का प्रकाशन पहले हो चुका है। इनके अतिरिक्त यहाँ से आलोच्य वर्ष में वाल्मीकिरामायण की पाद-सूची के प्रथम भाग का, सोमेश्वरदेव के उल्लासराघव नाटक का, वाचकाचार्य सुधाकलश के संगीतोपनिषत्सारोद्धार का, विष्णुधर्मोत्तर पुराण के तृतीय भाग का, सोमेश्वर के मानसोल्लास के तृतीय भाग का और तिब्बती हस्तलेखों के आधार पर संपादित चन्द्रानन्द की वृत्ति के साथ वैशेषिक सूत्रों का प्रकाशन हुआ है। यहाँ की रिसर्च सिरीज के ७वें ग्रन्थ के रूप में श्री कालिकाप्रसाद शुक्ल की ज्योत्स्ना टीका के साथ नागेशभट्ट की परमलघुमंजूषा का भी प्रकाशन हुआ है। अंग्रेजी और संस्कृत की विस्तृत भूमिका में ग्रन्थ और ग्रन्थ-कार के विषय में विशद प्रकाश डाला गया है। श्री शुक्ल आजकल वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान विभाग में कार्य कर रहे हैं।

अन्य संस्थान

वाही की प्राज्ञ पाठशाला से धर्मकोश के संस्कार काण्ड का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है। इसके पहले व्यवहार काण्ड के तीन भाग, उपनिषत्कोश के ४ भाग और मीमांसाकोश के ५ भाग यहाँ से प्रकाशित हो चुके हैं। कलकत्ता के मोर संस्थान से आलोच्य वर्ष में देवीभागवत का दो खण्डों में और स्कन्द-पुराण के तीन खण्ड प्रकाशित हुए हैं। सम्पूर्ण स्कन्दपुराण सात खण्डों में प्रकाशित होगा। दरभंगा रिसर्च इंस्टीटयूट से बदरीनाथ झा की अलंकारमंजरी का, दयानाथ झा की लीलावती का, म० म० देवनाथ ठक्कुर की मन्त्रकौमुदी का और विश्वेश्वर झा के तर्पणविचार एवं चतुर्थीचन्द्रविचार का प्रकाशन हुआ है। प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी से चडप्पन्नमहापुरिससर्वस्व का पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक के संपादकत्व में प्रकाशन हुआ है। सिंघी जैन ग्रन्थमाला से उद्योतन सूरि के प्राकृत भाषा के ग्रन्थ कुवलयमाला के प्रथम भाग का, गुणपाल रचित प्राकृत काव्य जंबुचरित्र का और पूर्णाचार्य रचित प्रश्नव्याकरणाख्य जयपायड निमित्तशास्त्र नाम के प्राकृत ग्रन्थ का संस्कृत छाया के साथ प्रकाशन हुआ है।

मैसूर संस्कृत सिरीज से वाल्मीकिरामायण की प्रसिद्ध प्राचीन टीका 'कतक' के प्रथम भाग का, कौटिल्य अर्थशास्त्र के चतुर्थ संस्करण का, मुम्मडि चिक्कभूपाल के अभिनवभरतसंग्रह का, नारायण स्वामी के सेवन्तिका-परिणय नाटक का तथा नीतिसूत्र, आपस्तम्बश्रौतसूत्र और विष्णुसहस्र-नामस्तोत्र का प्रकाशन हुआ है। मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से तत्त्वचिन्ता-मणि की टीका मणिकण का प्रकाशन हुआ है और मद्रास विश्वविद्यालय से

उच्छिष्टगणेशसहस्रनामस्तव का। मिथिला रिसर्च इंस्टीटयूट से महायान के संस्कृत ग्रन्थों की प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत अब तक दिव्यावदान, ललितविस्तर, अवदानशतक, अवदानकल्पलता, गण्डव्यूह, सद्धर्मपुण्डरीक और जातकमाला का प्रकाशन हो चुका है। नालन्दा पालि शोध संस्थान से विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, विग्रहव्यावर्तिनी, प्रसन्नपदा और खण्डनखण्डखाद्य का और कलकत्ता विश्वविद्यालय से आर्यशूर की सुभाषितरत्नकरण्डककथा का प्रकाशन हुआ है।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

यहाँ से सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, सरस्वतीभवन निबन्धमाला, लघुग्रन्थमाला, गंगानाथ झा ग्रन्थमाला, सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला, गंगानाथ झा प्रवचनमाला, सम्पूर्णानन्द प्रवचनमाला, सारस्वती सुषमा (त्रैमासिक अनुसन्धान पत्रिका), दृक्सिद्ध पञ्चाङ्ग और हस्तलिखित ग्रन्थों की विवरणात्मक सूचियों का नियमित प्रकाशन होता है। आलोच्य वर्ष में सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला में गोकुलनाथ के काव्यप्रकाशविवरण का, विद्वदुपाध्याय के तारिणीपारिजात का, सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला में श्री गणपतिदेव शास्त्रीजी की दृक्सिद्धपञ्चाङ्गनिर्माणपद्धति का, गंगानाथ झा प्रवचनमाला में बौद्ध-दर्शन बिन्दु का और सारस्वती सुषमा में लघुग्रन्थमाला के अन्तर्गत लक्ष्मीधरसूरि के गलितप्रदीप का प्रकाशन हुआ है। सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला में सेतुबन्ध और दीपिका टीका के साथ योगिनीहृदय का, हर्षनाथ झा रचित संस्कारदीपक का, गोकुलनाथ उपाध्याय रचित सूक्तिमुक्तावली नाम के गद्य काव्य का, कुमारिल भट्ट की टुप्टीका की व्याख्या तन्त्ररत्न (पार्थसारथिमिश्र रचित) के तृतीय भाग का, काव्यप्रकाश की चण्डीदास रचित टीका दीपिका के तृतीय भाग का और भास्कराचार्य के भगवद्गीताभाष्य का मुद्रण हो रहा है। इनके अतिरिक्त त्रिपुरारहस्य (ज्ञानखण्ड), भास्करराय कृत तृचभास्कर आदि लगभग २० ग्रन्थों के संपादन का कार्य आरंभ हो चुका हैं। सरस्वती भवन निबन्धमाला में ६ ग्रन्थों पर, लघुग्रन्थमाला में ४ ग्रन्थों पर, गंगानाथ झा ग्रन्थमाला में ८ ग्रन्थों पर, सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला और प्रवचनमाला में ६ ग्रन्थों पर कार्य हो रहा है और इनमें से कुछ ग्रन्थ मुद्रित होकर शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेंगे। यहाँ से प्रति वर्ष दृश्य गणित के आधार पर तैयार किये गये बापूदेव शास्त्री पञ्चाङ्ग का भी प्रकाशन होता है। सरस्वती भवन पुस्तकालय में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की वेद, उपनिषद्, कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र, पुराणेतिहास, गीता, स्तोत्र, तन्त्र, वेदान्त, मीमांसा और सांख्य-योग विषय के ग्रन्थों की सूची प्रकाशित हो चुकी है।

न्याय-वैशेषिक, ज्यौतिष, साहित्य, व्याकरण आदि की सूचियां भी शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेंगी।

हिन्दू विश्वविद्यालय

हिन्दू विश्वविद्यालय से विल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरित का प्रकाशन हुआ था। आलोच्य वर्ष में यहाँ से नेपाल राज्य ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में भगवद्गीता का आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसका संपादन पूना के भाण्डारकर इंस्टीटयूट के महाभारत के संस्करण की पद्धति पर प्राचीनतम हस्तलेखों की सहायता से किया गया है। यहाँ से धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक के स्वार्थानुमान खण्ड का भी प्रकाशन हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य १८ प्रकाशनों के मुद्रण के लिये कार्य चल रहा है। इनके नाम ये हैं— १. दिव्यावदान, २. धर्मसूत्रसंग्रह (इसमें उपलब्ध सभी धर्मसूत्रों का समावेश रहेगा), ३. सिद्धान्तवाद मधुसूदन झा कृत, ४. गृह्यसूत्रसंग्रह (इसमें उपलब्ध सभी गृह्यसूत्रों का समावेश रहेगा), ५. चित्रसूत्र आदि ग्रन्थ, ६. गोपथ ब्राह्मण, ७. पाणिनीयादि शिक्षासंग्रह, ८. नागार्जुन कृत त्रिशिका एवं विंशिका, ९. बृहद्देवता, १०. विष्णुधर्मोत्तर पुराण (शारदा मातृका के आधार पर), ११. नाट्यशास्त्र भरत प्रणीत, १२. मध्यान्तविभागटीका, १३. अर्थशास्त्र पांच टीकाओं के साथ, १४. महाभाष्य त्रिपादी टीका भर्तृहरिकृत, १५. सूत्रधार मण्डन कृत प्रासादमण्डन, १६. वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता भट्टोत्पल की टीका के साथ, १७. उग्रभूति कृत शिष्यहिता न्यास (कातन्त्र व्याकरण) और १८. श्रौतसूत्र संग्रह (इसमें उपलब्ध सभी श्रौतसूत्रों का समावेश रहेगा)। हिन्दू विश्वविद्यालय की इस योजना में अद्यावधि उपलब्ध सभी श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रों को एक साथ प्रकाशित करने की योजना विशेष महत्त्व की है। इनके अतिरिक्त भी कुछ छोटे-बड़े वैदिक सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनको भी अलग से एक संग्रह के रूप में विश्वविद्यालय प्रकाशित कर सके, तो उसकी यह योजना परिपूर्ण बन सकेगी।

पत्र-पत्रिकाएँ

साहित्य अकादमी से प्रकाशित होने वाली षाण्मासिक पत्रिका 'संस्कृत प्रतिभा' की ऊपर चर्चा हो चुकी है। वाराणसी के काशिराज ट्रस्ट की षाण्मासिक पत्रिका 'पुराणम्' में अंग्रेजी भाषा के लेखों के साथ संस्कृत के भी लेख प्रकाशित होते हैं। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की त्रैमासिक पत्रिका 'सारस्वती सुषमा' की भी ऊपर चर्चा हो चुकी है। वाराणसी से ही 'सूर्योदय' नाम का संस्कृत का प्राचीन मासिक पत्र अब त्रैमासिक और त्रैभाषिक रूप में

प्रकाशित होता है। मैसूर की महाराजा संस्कृत कालेज की त्रैमासिक पत्रिका का इधर कोई अंक प्राप्त नहीं हुआ। गत वर्ष मेरठ से 'संस्कृतप्रभा' नाम की त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ था। इसका भी कोई अंक इधर देखने को नहीं मिला। श्रीनगर (कश्मीर) से 'श्री' नाम की और मद्रास से 'ब्रह्मविद्या' नाम की त्रैमासिक पत्रिका के प्रकाशन का पता चला है। पटना से 'संस्कृतसंजीवनम्' नाम से एक उत्कृष्ट कोटि की त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती थी। इसका प्रकाशन पुनः होने लगा है।

मासिक पत्रिकाओं में काठमांडू (नेपाल) से 'जयतु संस्कृतम्', कलकत्ता से संस्कृत साहित्य परिषत्पत्रिका और मंजूषा, शिमला से दिव्यज्योति, जयपुर से भारती, दिल्ली से संस्कृत रत्नाकर, कांजीवरम् से वैदिक मनोहरा, गदग (कर्णाटक) से मधुरवाणी, गुण्टूर (आन्ध्र) से भाषा, तंजाउर से उद्यान-पत्रिका, बंबई से 'बालसंस्कृतम्' और उज्जैन से 'मालवमयूरम्' का प्रकाशन पूर्ववत् हो रहा है। गुरुकुल कांगड़ी से भी विगत १३ वर्षों से एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है। इसमें संस्कृत के साथ हिन्दी भाषा के भी लेख रहते हैं। 'वैदिक मनोहरा' में विशिष्टाद्वैत संप्रदाय के अनेकों ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। तमिल आलवारों के तमिल भाषा में निबद्ध उपदेश 'तमिलवेद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका व्याख्यासहित संस्कृत अनुवाद क्रमशः इस पत्रिका में प्रकाशित हो रहा है। मंजूषा के संपादक प्रसिद्ध वैयाकरण मनीषी क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय के निधन के शोकजनक समाचार मिले हैं। संस्कृत पत्र-कारिता की यह अपूरणीय क्षति है। अपने अध्यवसाय से विगत १५ वर्षों से वे इस पत्रिका का संपादन और संचालन कर रहे थे। गंभीर और प्रसन्न सामग्री से पूर्ण नियमित समय पर पाठकों के पास पहुँच जाने वाली इस प्रकार की कोई पत्रिका संस्कृत जगत् में नहीं है। म० म० रामावतार शर्मा, अप्पा शास्त्री राशिवडेकर और विधुशेखर चट्टाचार्य के साथ क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय का नाम संस्कृत पत्रकारिता के क्षेत्र में सदा अमर रहेगा।

उक्त मासिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त मुंगेर से देववाणी, हैदराबाद से तरंगिणी, कलकत्ता से प्रणवपारिजात, दिल्ली से साहित्यवाटिका और इन्दौर से अमरवाणी का प्रकाशन होता है, किन्तु इनका कोई अंक हमें देखने को नहीं मिला। बड़ौदा से 'संस्कृतसौरभम्' का यदा-कदा प्रकाशन होता रहता है। इटावा से भी संस्कृत-हिन्दी की एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन होने लगा है।

पाक्षिक पत्रों में पूना से भारतवाणी और शारदा का नियमित प्रकाशन होता है। अयोध्या का संस्कृतसाकेत भी पाक्षिक पत्र है, किन्तु इसका

प्रकाशन विशेष अवसरों पर ही होता देखा गया है। साप्ताहिक पत्रों में अयोध्या से 'संस्कृतम्' और नागपुर से 'भवितव्यम्' का पूर्ववत् नियमित प्रकाशन हो रहा है। संस्कृत पत्रों को केन्द्रीय संस्कृत परिषद् के माध्यम से केन्द्रीय प्रशासन की सहायता प्राप्त होने लगी है। इससे संस्कृत पत्रों की स्थिति और स्तर में सुधार हुआ है। पूना के उत्साही कर्मठ विद्वानों के अध्यवसाय से अभी हाल में 'संस्कृति' नाम के संस्कृत दैनिक का भी प्रकाशन होने लगा है। हम इसके दीर्घायु होने की कामना करते हैं।

पत्रिकाओं में प्रकाशित ग्रन्थ

शोधसंस्थानों से अनेक अनुसन्धान प्रधान त्रैमासिक शोधपत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। इनमें निबन्ध तो आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में निकलते हैं, किन्तु कभी-कभी संस्कृत के ग्रन्थ भी इनमें प्रकाशित होते रहते हैं। आलोच्य वर्ष में गायकवाड़ शोध संस्थान की पत्रिका में जैन संस्कृत के विशेष शब्दों का चयन चालू रहा। इसके अतिरिक्त इसमें शिलालेखों की सूची भी प्रकाशित हो रही है। वेंकटेश्वर शोध संस्थान, तिरुपति की पत्रिका में भूपति लक्ष्मीनारायण राव के 'धर्मरक्षणम्' नाटक का, गौतमशंकर के 'प्रपञ्चमिथ्यात्वभूषणम्' का और न्यायपरिशुद्धि के पाठसंशोधन का प्रकाशन हुआ है। कलकत्ता संस्कृत कालेज की पत्रिका 'आवर हेरिटेज' में मधुसूदन न्यायाचार्य की सुषमा टीका के साथ जागदीशी पक्षता का प्रकाशन हो रहा है। केरल विश्वविद्यालय की पत्रिका में कुमारस्तव, अङ्कणशास्त्र, व्याघ्रपादोक्त होराशास्त्र, कमलिनी-कलहंसम्, चतुर्वेदमहावाक्यटीका (चिन्तामणि), लीलाशुकमुनि कृत कौस्तुभ-मालास्तोत्र और सरस्वतीनक्षत्रमालास्तव, मातृदत्तविरचित कामसन्देश, रामपाणिवाद विरचित भागवतचम्पू, अच्युत कृत करणोत्तम, नारायण कवि कृत अद्भुतपञ्जरनाटक, चकोरसंदेश और सुवर्णमुक्तावलीस्तव का प्रकाशन हो रहा है। अड्यार लाइब्रेरी की पत्रिका ब्रह्मविद्या में स्वयंप्रकाश यति के गुणत्रयविवेक का और अंग्रेजी अनुवाद के साथ त्रिपुरतापिनी उपनिषत् का प्रकाशन हुआ है। पूना डेक्कन कालेज की पत्रिका में प्राणाग्निहोत्र उपनिषद् का और काशकृत्स्न शब्दकलाप धातुपाठ का, तजोर सरस्वती महल पुस्तकालय की पत्रिका में हनुमन्निघण्टु, षडर्थनिर्णयनिघण्टु, आंग्ल टिप्पणी सहित सिद्धान्त-कौमुदी, आपस्तम्बस्मार्तप्रयोग, सूक्तिमालिका, ताताचार्य की टीका के साथ वेङ्कटसूरि की यमकरामायण का, वेङ्कटाचार्य के हनुमत्स्तोत्र का और घनश्याम कवि के नवग्रहचरितनाटक का प्रकाशन हुआ है। इस पत्रिका में शाहजी नृप रचित हिन्दी के दो नाटक भी प्रकाशित हुए हैं। इनके नाम हैं—विश्वातीत-

विलास नाटक और राधावंशीधरविलास नाटक। ये नाटच-नाटक यक्षगान पद्धति से नृत्य और संगीत के माध्यम से अभिनीत होने योग्य हैं।

शतपिटक

नागपुर में स्व० डॉ० रघुवीर ने 'इण्टरनेशनल एकेडमी आफ इण्डियन कल्चर' नाम की संस्था की स्थापना की थी। यहाँ से सरस्वती बिहार ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अब तक ४० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें अनेक कोश ग्रन्थ और अलभ्य वैदिक ग्रन्थ संमिलित हैं। इस संस्था का प्रधान कार्यालय अब दिल्ली में है। यहाँ से उक्त ग्रन्थमाला के अतिरिक्त शतपिटक के नाम से एक और ग्रन्थमाला प्रकाशित हो रही है। इसमें जम्बूद्वीप के भारत के अतिरिक्त नेपाल, गान्धार, पारस, भोट, चीन, मंगोल, सिहल, इंडोनेशिया, श्याम आदि देशों में उपलब्ध अलभ्य भारतीय साहित्य का अथवा उन देशों की भाषाओं में उपलब्ध अनुवाद का प्रकाशन होता है। इसमें अब तक २९ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। आलोच्य वर्ष में यहाँ से तिब्बत संस्कृत डिक्शनरी के ४-११ भागों का तथा मंजुश्री नामसंगीति, गिलगित बन्ध ग्रन्थावलि एवं मानव श्रौतसूत्र का और सिंहासनद्वात्रिंशिका के मंगोल संस्करण का प्रकाशन हुआ है।

अन्य प्रकाशन

वाराणसी में संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन के दो व्यावसायिक संस्थान हैं। चौखंबा संस्कृत कार्यालय एवं मोतीलाल बनारसीदास। दोनों ही संस्थान पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त संस्कृत के महत्त्व के ग्रन्थों का भी प्रकाशन करते रहते हैं। संस्कृत के इतिहास ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद के साथ यहाँ से प्रकाशन हुआ है। इन दोनों ही संस्थानों से भारती-विद्या संबन्धी ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में भी प्रकाशित होते हैं। पहले यहाँ से अप्रकाशित ग्रन्थों का भी प्रकाशन होता था। विशेष कर चौखंबा संस्कृत संस्थान भिन्न-भिन्न नाम की चार ग्रन्थमालाएँ प्रकाशित करता था। इधर यह प्रकाशन अवरुद्ध हो गया है। केन्द्रीय प्रशासन ने ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये भी संस्थाओं और व्यक्तियों को सहायता देने की योजना बनाई है। इस योजना से लाभ उठाया जा सकता है। उक्त दोनों संस्थाओं ने संस्कृत के दो बृहत् शब्दकोशों को पुनः प्रकाशित करना आरंभ किया है। चौखंबा संस्थान ने शब्दकल्पद्रुम को ५ खण्डों में प्रकाशित कर दिया है और 'वाचस्पत्यम्' का प्रथम भाग भी प्रकाशित होने को ही है। मोतीलाल बनारसी दास ने भी शब्दकल्पद्रुम का प्रथम भाग प्रकाशित कर दिया है।

एक ही ग्रन्थ का एक ही समय में भिन्न-भिन्न संस्थानों की ओर से प्रकाशित होना स्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता नहीं मानी जा सकती। संस्कृत वाङ्मय अतिविशाल है। इसके पूरे रूप को उपस्थित करने का संमिलित प्रयास अपेक्षित है। वाचस्पत्य और शब्दकल्पद्रुम जैसे अनगिनत ग्रन्थ अभी प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिनको प्रकाशित कर यश और धन कमाया जा सकता है। नये-नये ग्रन्थों को प्रकाशित करने की प्रतिद्वन्द्विता जाग सके, तो संस्कृत वाङ्मय का बड़ा कल्याण हो।

आलोच्य वर्ष में कलकत्ता से हिन्दी अनुवाद के साथ शार्ङ्गधरसंहिता का, सरला व्याख्या के साथ हरिराम तर्कवागीश के अनुमितेर्मानसत्वविचार-रहस्यम् का, शुभंकर के संगीतदामोदर का, ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का, कृषिपराशर, शौनककारिका, अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता और अष्टावक्र-संहिता का; वाराणसी से सोमदेव सूरि के यशस्तिलकचम्पू का, धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्त्तिककारिका, वसुबन्धु की अभिधर्मकोशकारिका, कल्हण की राज-तरंगिणी का, हरनाथदत्त की सुबोधिनी व्याख्या के साथ विवेकचूडामणि का, अनर्घराघव नाटक, बृहज्ज्योतिषसार और सूर्य दैवज्ञ के नृसिंहचम्पू का; नागपुर से शब्दरत्नटीका के साथ भट्टोजिदीक्षित की प्रौढ मनोरमा, सदाशिव लक्ष्मीधर कत्रे संपादित पुरंजनचरित नाटक और पञ्चाङ्गचन्द्रिका का; दिल्ली से ऋग्वेदीय सांख्यायनगृह्यसूत्र और साहित्यरत्नकोश के द्वितीय भाग का; मद्रास से रंगाचार्य रचित रूपावतार और स्वरूपानन्द मुनीन्द्र की न्याय-प्रकाशिका टीका के साथ आनन्दपूर्ण मुनीन्द्र की न्यायचन्द्रिका का; त्रिवेन्द्रम् से रंगनाथ की मर्मावबोधिनी टीका के साथ बाणभट्ट के हर्षचरित का; पालिताना (सौराष्ट्र) से शिल्पशास्त्र के ग्रन्थ दीपार्णव का; निरुवण्णमलै से अंग्रेजी अनुवाद के साथ त्रिपुरारहस्य ज्ञान खण्ड का, पूना से श्रीपतिभट्ट की ज्यौतिष-रत्नमाला का, इलाहाबाद से दामोदरगुप्त के कुट्टनीमत का प्रकाशन हुआ है। पूना में प्रो० दाण्डेकर द्वारा संकलित वैदिक बिब्लिओग्राफी का दूसरा भाग भी प्रकाशित हुआ है। इस दिशा में पहला ग्रन्थ पेरिस के ख्यातनामा विद्वान् प्रो० रेनु का प्रकाशित हुआ था। उसमें वैदिक साहित्य सम्बन्धी सन् १९३० तक प्रकाशित पूरी सामग्री का परिचय दिया गया था। उसके बाद प्रो० दाण्डेकर ने अपने ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रकाशित कराया। इसमें वैदिक साहित्य संबन्धी सन् १९४६ तक की सामग्री का संकलन किया गया और प्रस्तुत भाग में सन् ६० तक की सामग्री संकलित है।

नवीन साहित्य

आलोच्य वर्ष में निम्न नवीन ग्रन्थों ने संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कलकत्ता से तीन भागों में चैतन्यचरितामृत का संस्कृत अनुवाद प्रकाशित हुआ है। कांजीवरम् की संस्कृत मासिक पत्रिका 'वैदिक मनोहरा' में तमिलवेद का धारावाहिक संस्कृत अनुवाद प्रकाशित हो रहा है, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। बंगलोर से एस० कृष्ण ताताचार्य के श्रीमहावीरवैभवम् का और शम्भु एल० भट्ट के स्वानन्दवनविहारकाव्यम् का, सूरत से सद्गुरुकबीरचरितम् का, गोरखपुर से सुधीरकुमार गुप्त के वेदलाघवम् का, कलकत्ता से विष्णुपद भट्टाचार्य के काञ्चनकुञ्चिकम् और क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय की शब्दकला का, सोलापुर से वासुदेवशास्त्री के महामन्त्री (जवाहरचरितम्) का, पूना से लश्कर शास्त्री के राजेन्द्रप्रसादचरितम् का, पटना से विष्णुकान्त झा के राजेन्द्रवंशप्रशस्ति का, गुण्टूर से कर्मवीर नागेश्वर कवि के राष्ट्रपतिशतकम् का, दिल्ली से डॉ० मंगलदेव शास्त्री की सुभाषितसप्तशती का, पाण्डिचेरी से मातृमुक्तावली, कथामंजरी और दुर्गास्तोत्र का (अरविन्द के ग्रन्थों के अनुवाद) एवं कपालिशास्त्री के आह्निकस्तव का, नेपाल से बुद्धिसागर परांजुली की साम्राज्यलहरी, सोमनाथ शर्मा के आदर्शराघव और पुष्पाञ्जलि का, चिदम्बरम् से नरसिंह शास्त्री के 'सन्मार्गः' का, बंबई से वेलणकर के संगीतसौभद्रम् का, मद्रास से गणपति शास्त्री के गुरुवायुपुरेशाक्षरमालादिस्तवत्रय का, रामस्वामी शास्त्री के अष्टप्रासशतकत्रयम् का और श्रीनिवासाचार्य के श्रीशौरिराजस्तव का, गुण्टूर से कृष्ण सोमयाजी के 'कणः लुप्तो गृहं दहति' का और यज्ञनारायण दीक्षित के मनुचरितम् का, राजमहेन्द्री से वेंकटराम शास्त्री के सरोजिनीसौरभम् नाटक का, मुजफ्फरपुर से भवानीदत्त शर्मा के सौमित्रिसुन्दरीचरितम् का, हैदराबाद से सूर्यनारायण शास्त्री की 'काव्यावलिः' का, दिल्ली से जयराम शास्त्री के 'जवाहरवसन्तसाम्राज्यम्' का, वारंगल (आन्ध्र) से विजय सारथि के आत्मदानम् का, तंजोर से सुन्दरेश शर्मा के शबरीचरितम् का, महालिंग शास्त्री के 'उद्गातृदशाननम्' नाटक का, वाराणसी से कविराज सत्यनारायण शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ का और श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी के सावित्रीनाटकम् का प्रकाशन हुआ है।

विदेशों का प्रकाशन

आलोच्य वर्ष में विदेशों से निम्नांकित ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इटली की रोम नगरी से 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' नाम की त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है। प्रो० तुच्ची इसके संपादक हैं। वे एक भारती विद्या संबन्धो संस्था के

संचालक भी हैं। इस संस्था से नागार्जुन की माध्यमिककारिका की चन्द्रकीर्ति रचित प्रसन्नपदा नाम की मध्यमकवृत्ति का पुनः संस्करण हुआ है और धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक के प्रथम परिच्छेद का भी टीका के साथ प्रकाशन हुआ है। जापान से सुविक्रान्तविक्रमपरिपृच्छा प्रज्ञापारमितासूत्र का, पेरिस से अनन्तशक्तिपाद की वृत्ति के साथ वातूलनाथसूत्र का, लंदन से अंग्रेजी अनुवाद के साथ ब्रह्मसूत्र का और नीदरलैण्ड से प्रज्ञापारमिताशास्त्र का प्रकाशन हुआ है। इंडो-ईरानियन जर्नल में प्रज्ञापारमितारत्नगुणसंचयगाथा का पुनः संस्करण किया गया है। फिलाडेल्फिया से सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोश का और भारत में फ्रांस की पुरानी बस्ती पांडिचेरी से फ्रांसीसी विद्वान् एलिन डेनियेलू के द्वारा संपादित होकर गीतालंकार नाम के नाटयशास्त्र के ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। यह ग्रन्थ भरत के नाटयशास्त्र से भी प्राचीन बताया गया है। ग्रन्थ के संपादक का भारतीय नाम शिवशरण है। कुछ वर्ष पहले ये काशी में ही रहते थे। यहाँ से वे अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास चले गये और आजकल पांडिचेरी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया है। उन्होंने अपना पूरा जीवन भारतीय संगीत शास्त्र के अध्ययन में लगा दिया है। भारतीय संगीतशास्त्र संबन्धी ग्रन्थों का इनका जैसा संग्रह शायद ही और कहीं मिले।

विदेशी विद्वानों की यह अनुकरणीय प्रवृत्ति रहती है कि वे किसी एक विषय को अपने लिये चुन कर अपना पूरा जीवन उसके लिये अर्पित कर देते हैं। भारतीय विद्वानों में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम है। सभी क्षेत्रों में कुछ न कुछ कर दिखाने की प्रवृत्ति उनको किसी एक विषय के गंभीर अध्ययन के लायक नहीं रहने देती। इस प्रवृत्ति के कारण मौलिक ग्रन्थों का निर्माण कम होने पाता है और साहित्य-रचना संकलन, संग्रह और अनुवाद तक ही सीमित रह जाती है॥

•

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

व्याधि-जराग्रस्त संस्कृत शिक्षा

देश में आजकल दो तरह की संस्कृत शिक्षा प्रचलित है—एक प्राच्य पद्धति की और दूसरी पाश्चात्य पद्धति की। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। प्राच्य पद्धति जहाँ शास्त्रों की प्रत्येक पंक्ति और पदों के रहस्यों को खोलने में समर्थ है, वहीं पाश्चात्य पद्धति शास्त्रों के क्रमिक ऐतिहासिक विकास के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवीण है। पहली शास्त्रों के अन्तरंग को समझने में अधिक समर्थ है, तो दूसरी बहिरंग को। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय, तो पहली पद्धति से प्रशिक्षित व्यक्ति सांख्यकारिका, तर्कभाषा और वेदान्तसार को अलग-अलग बड़े मनोयोग से पढा देगा, किन्तु यदि उससे इन तीनों ग्रन्थों के प्रतिपादित सिद्धान्तों का तुलनात्मक समालोचन प्रस्तुत करने के लिये कहा जाय, तो वह मानसिक तनाव में पड़ जायगा। इसी प्रकार दूसरी पद्धति से प्रशिक्षित व्यक्ति के सामने यदि किसी ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ाने की प्रार्थना की जाय, तो वह इस प्रसंग को अवश्य टाल जायगा।

पहली पद्धति संस्कृत भाषा के माध्यम से भाषण करने, शास्त्रार्थ करने, मूल ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी करने और संग्रहात्मक निबन्ध ग्रन्थों के लिखने का उत्कृष्ट प्रशिक्षण देती है, तो दूसरी पद्धति व्यक्ति को प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन की विशिष्ट विधि में, अनुसन्धान के माध्यम से इतिहास की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने में और विभिन्न शास्त्रों के समन्वित अध्ययन में प्रवीण बनाती है। यह सही है कि टीका-टिप्पणियाँ और संग्रहात्मक तथा समालोचनात्मक निबन्ध ग्रन्थों के माध्यम से सामयिक प्रश्नों के समाधान के रूप में शास्त्रों का उत्तरोत्तर विकास और पूर्वपक्ष के रूप में विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन भी फला-फूला है, किन्तु यह सब एक परिधि के भीतर हुआ है। नैयायिक हो या मीमांसक, वैयाकरण हो या वेदान्ती, बौद्ध हो या जैन—सभी दार्शनिक विद्वानों ने पूर्वपक्ष के रूप में अन्य मतों को उद्धृत कर उनका खण्डन प्रस्तुत करते हुए अन्त में अपने-अपने सिद्धान्तों की ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इनमें अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनका कि आधुनिक विज्ञान ने एक स्वरूप निश्चित कर दिया है। उदाहरण के रूप में सुवर्ण का तेजस्त्व, वायु का गुरुत्व, चक्षु का प्राप्यकारित्व, शब्द की नित्यता आदि विषय लिये जा सकते [illegible] पण्डितसमाज इस प्रकार के विषयों पर अब भी शास्त्रार्थ करता और [illegible]ता चला जा रहा है। प्राच्य पद्धति में शास्त्रों का खण्ड-खण्ड रूप में [illegible] है, अखण्ड रूप में नहीं।

आज सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान के ही नहीं, अपितु पूरे विश्व के समान कोटि के ज्ञान के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन की और उसके आधार पर नवीन तर्कों और नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना की आवश्यकता है। यह कार्य उक्त दोनों पद्धतियों के समन्वित प्रयत्न के बाद ही सम्भव हो सकता है। प्रथम पद्धति में इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का उदय नहीं हो पा रहा है और दूसरी पद्धति वाले इस अथाह सागर में बिना प्रवेश किये लहरों के थपेड़ों से जो कुछ किनारे लग जाता है, उसी को बटोर कर सन्तोष कर लेना चाहते हैं। पहली पद्धति की शिक्षा संस्कृत पाठशालाओं, महाविद्यालयों और संस्कृत विश्वविद्यालयों में तथा दूसरी शिक्षा आधुनिक स्कूल, कालेज और युनिवर्सिटियों में मिलती है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद संस्कृत शिक्षा के भविष्य पर विचार करने की दृष्टि से भारत सरकार ने एक आयोग की स्थापना की थी। आयोग ने सर्वसम्मति से यह सुझाव दिया था कि वर्तमान समय में प्रचलित संस्कृत शिक्षा की दोनों पद्धतियों को नजदीक लाने का प्रयत्न अपेक्षित है। इसके लिये आयोग ने प्रथमतः यह सुझाव दिया था कि प्राचीन पद्धति के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में आधुनिक पद्धति से प्रशिक्षित और आधुनिक पद्धति के कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्राचीन पद्धति से प्रशिक्षित विद्वानों को प्रतीक रूप में नियुक्तियाँ की जाँय। यह प्राथमिक उपाय भी आज चरितार्थ नहीं हो पा रहा है।

प्राचीन पद्धति के विद्वान् नयी पद्धति की विशेषताओं को अधिक सरलता से हृदयंगम कर सकते हैं, इस अभिप्राय से मनीषिप्रवर स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द ने वाराणसी के राजकीय महाविद्यालय को संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप दिया था। यह देश का पहला संस्कृत विश्वविद्यालय था। जाने-अनजाने ब्राह्मण समाज को संस्कृत भाषा का वाहक मान लिया गया है। इस समाज के परिष्कृत होने के बाद ही संस्कृत भाषा की शिक्षण-पद्धति का भी परिष्कार हो सकता है, इस अभिप्राय से इन्होंने 'ब्राह्मण सावधान' लिखकर इस समाज में प्रविष्ट त्रुटियों की ओर इंगित किया, किन्तु रोग अधिक बढ़ चुका था। बिना इसका उपचार किये ही संस्कृत विश्वविद्यालय बना दिया गया। उसका फल हमारे सामने है।

भाषा को धार्मिक बाना पहनाना एक असंगत और आरोपित विचार है। दुर्भाग्य से भारत में संस्कृत और उर्दू भाषा को इसी दृष्टिकोण से देखा जाने लगा है। इससे अनेक असंगतियाँ पैदा हो गई हैं। सबसे बड़ी असंगति यह

है कि दुनिया की सबसे पुरानी भाषा को सबसे नवीन भाषा के साथ एक ही तराजू पर तौलने की कोशिश की जाती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिये यह एक विडम्बना है। उपनिषदों के विश्वबन्धुत्व की, बुद्ध की महाकरुणा और महावीर की तपस्या की भावना की वाहिका यह भाषा आज विश्व-भाषा है। किसी संकीर्ण विचारधारा का वर्चस्व इस पर कथमपि मान्य नहीं होना चाहिये। संस्कृत भाषा त्याग और तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय की प्रतीक मानी जाती है। संस्कृत विश्वविद्यालय के संस्थापक की ही नहीं, समाज की भी यह आकांक्षा थी कि संस्कृत विश्वविद्यालय के माध्यम से भारतीय समाज में ये गुण पुनः प्रतिष्ठित होंगे, किन्तु हुआ इसके विपरीत है।

वैदिक कर्मकाण्डियों ने दो नये मन्त्रों की उद्भावना की है। एक है— "छोरा रे वासन्ता, घी लेकर खिसकन्ता, स्वाहा"। पुरोहित का बटुक धुएँ से भरे यज्ञमण्डप से घी का कनस्तर लेकर चम्पत होने लगता है, तो उस पर एक ऋत्विक् की दृष्टि पड़ जाती है। अब पुरोहित जी दूसरा मन्त्र बोलते हैं— "तवार्धं च ममार्धं च विघ्नं मा कुरु पण्डित ! स्वाहा"। सब ठीक-ठीक चलने लगता है। संस्कृत विश्वविद्यालय आज इसी मनोवृत्ति का शिकार है। कोई टोकने वाला नहीं है, तो पुरोहित अपनी मनमानी करता है। यदि कोई बीच में आ धमका तो "तवार्धं च ममार्धं च" होने लगता है। संस्कृत विश्व-विद्यालय में अनुसन्धान संस्थान की स्थापना का मुख्य उद्देश्य उक्त दोनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करना रहा है, किन्तु 'तवार्धं च' के चक्कर ने उसको कभी संभलने ही नहीं दिया। कभी-कभी इस संस्थान को उखाड़ फेंकने की भी चर्चा चल पड़ती है। आज संस्कृत विश्वविद्यालय का अनुसन्धान और प्रकाशन दिशाहीन चल रहा है। अनेक व्याधियों से घिरी इसकी शिक्षण-पद्धति भी आज जराजीर्ण हो चुकी है। इसमें न तो प्राचीन पाण्डित्य को सुरक्षित रख सकने का सामर्थ्य ही शेष रहा है और न यहाँ पर आधुनिक अनुसन्धान पद्धति का पौधा ही पनपने पा रहा है। चारों तरफ अर्थ का पैशाचिक अट्टहास मात्र सुनाई देता है।

दैनिक 'आज' के प्रातःकालीन संस्करण में 'अग्निवेश' जी के आयुर्वेद की शिक्षा से सम्बद्ध सामयिक, वस्तुनिष्ठ और विचारोत्तेजक तीन लेख प्रकाशित हुए हैं। आयुर्वेदिक स्नातकों की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए इन्होंने आर्थिक विषमता को भी इसके लिये दोषी बताया है। आज संस्कृत विश्व-विद्यालय के प्राध्यापकों के सामने यह समस्या नहीं है। उनको वही वेतनमान

मिलते हैं, जो कि किसी अन्य विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों को। इसके उपरान्त भी वे निरन्तर अर्थचिन्ता में ही डूबे रहते हैं। सुरभारती की आराधना के लिये उनको केवल भाषण-मंच पर ही समय मिलता है। वह संस्कृत पाठशालाओं के अभावग्रस्त विद्वानों को परीक्षक तक नहीं बनने देता और कार्यकारिणी के, जिसका कि वह स्वयं सदस्य रहता है, इस प्रस्ताव का कि किसी भी परीक्षक को ५०० रु० से अधिक का परीक्षा-पारिश्रमिक न दिया जाय, चार-पाँच टुकडों में अलग-अलग अपना बिल बनाकर हजार, डेढ़ हजार, दो हजार रुपये तक उदरस्थ कर स्वयं मखौल उड़ाता है। ऐसे किसी भी आर्थिक अवसर को अपने घेरे से बाहर के व्यक्ति को लाभान्वित न होने देने के लिये वह निरन्तर कटिबद्ध रहता है।

संस्कृत विश्वविद्यालय ही क्यों, पूरा संस्कृत समाज आज इस व्याधि से ग्रस्त है। राजा-महाराजों, सेठ-साहूकारों और मठाधीशों के द्वारा चलाई जा रही संस्कृत पाठशालाएँ और अन्नसत्र बन्द हो चुके हैं या बन्द होते चले जा रहे हैं। उनकी एवज में उनके व्यवस्थापकों के भवन उठ खड़े हुए हैं। काशी के बड़े-बड़े मठों में अब गिने-चुने ऐसे मिलेंगे, जिनमें कि किरायेदार न बसा दिये गये हों। संस्कृत पाठशालाओं की सरकारी सहायता में इधर उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, किन्तु यह सारा धन छात्रों और अध्यापकों के नाम पर व्यवस्थापकों के पेट में चला जाता है। इस प्रकार की ५० प्रतिशत पाठशालाओं का अस्तित्व कोरे कागजों पर है। आज अग्निहोत्र जैसा पवित्र धार्मिक अनुष्ठान वैदिकों के यात्रा के झोले के साथ घूमता है। कहीं भी सम्पन्न होने वाले धार्मिक अनुष्ठान की वरणी उस ब्राह्मण को मिलती है, जो कि मिलने वाली दक्षिण का आधा भाग मुख्य पुरोहित को अर्पित करने का वचन दिये रहता है।

चरित्र और नैतिकता के धनी ये व्यक्ति भाषण-मंच से भारतीय संस्कृति के संरक्षक के रूप में अपने को उपस्थापित करते हैं। कहा जाता है कि भारतीय दूतावासों में इनकी नियुक्ति होनी चाहिये। तभी विदेशों में भारतीय संस्कृति के सही रूप का दर्शन हो सकेगा। कुछ लोगों का यह भी विचार था कि देश के आधुनिक विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता का मुख्य कारण वहाँ संस्कृत शिक्षा को कोई स्थान न दिया जाना है। संस्कृत विश्वविद्यालय के नये छात्रों ने उनका मोह भंग कर दिया है। नैतिक मूल्यों का सर्वाधिक ह्रास आज संस्कृत समाज में ही हुआ है। धर्मशास्त्र का विद्वान् ५ रु० की दक्षिणा लेकर एक प्रकार की व्यवस्था देता है। दूसरे पक्ष से १० रु० मिल जाने पर वह अपनी ही पहली व्यवस्था के विपरीत दूसरी व्यवस्था देने में

कोई सङ्कोच नहीं करता। शास्त्र तो अथाह सागर है। गहरी डुबकी मारने पर सभी कुछ उसमें से निकल आता है।

देश की स्वतन्त्रता के संघर्ष में इस तथाकथित संस्कृत समाज ने कोई सहयोग नहीं दिया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो इसमें है कि यह समाज अपने धार्मिक मन्तव्यों के प्रति भी आस्थाहीन है। हैदराबाद में तोड़े जा रहे मन्दिर की रक्षा इस संस्कृतजीवी समाज ने नहीं, आर्यसमाजियों ने की थी। वाराणसी की जनता इसको भूली नहीं होगी कि स्वामी करपात्री जी के चलाये धार्मिक आन्दोलनों के अवसर यह समाज सदा पीछे के दरवाजे से पलायन करता रहा है और जहाँ दक्षिणा पाने का अवसर था, वहाँ सब से आगे रहा है। संस्कृत विश्वविद्यालय के एक हजार से ऊपर वेतन पाने वाले विभागाध्यक्ष दो रुपया की दक्षिणा सभा के लिये अपना पूरा दिन बर्बाद कर देने के लिये सदा तत्पर रहते हैं। यों तो पूरे भारत में ही आज नैतिकता का अवमूल्यन हो चुका है, उसी का यह परिणाम है कि देश को ओलम्पिक खेल जैसी विश्व-प्रतियोगिता के अवसरों पर मात्र कांसे के एक तमगे पर सन्तोष करना पड़ता है। देश ने योग्यता का आदर करना छोड़ दिया है। सभी जगह भाई-भतीजावाद का बोलबाला है। किन्तु दूसरी जगह वह दम्भ नहीं है, जो कि इस संस्कृत समाज को सर्वात्मना दबोचे हुए है। इसके रहते क्या संस्कृत समाज 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' अथवा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इस मनुवाक्य का उद्घोष करने का सामर्थ्य अर्जित कर सकेगा? क्या हम आशा करें कि मनीषिप्रवर डॉ० सम्पूर्णानन्द के द्वारा स्थापित यह विश्वविद्यालय उक्त व्याधियों से जर्जर संस्कृत शिक्षा में नये जीवन का सञ्चार कर सकेगा? क्या यह विश्वविद्यालय देश में नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना के पावन कर्तव्य में अपना भी कुछ अंशदान कर सकेगा?

यह तभी सम्भव होगा, जब कि संस्कृत शिक्षा को सङ्कीर्ण घेरे से बाहर निकाला जाय। आधुनिक संस्कृत समाज में नहीं, संस्कृत भाषा में वह सामर्थ्य अभी भी है। इस सामर्थ्य के उद्बोधन की दिशा में क्या संस्कृत विश्वविद्यालय की विद्वत्परिषद् और शिष्ट परिषद् के सदस्यगण प्रयत्नशील होंगे[1]?

●

१. दैनिक 'आज' ११-९-७२ के अंक में प्रकाशित।

क्या संस्कृत शिक्षा संकीर्णता से बाहर निकल सकेगी ?

संस्कृत शिक्षा के भविष्य पर विचार करने से पहले देश में प्रचलित सामान्य शिक्षा पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। इस देश में अंग्रेजों के पैर जमाने से पहले शिक्षा का प्रधान स्रोत संस्कृत भाषा ही थी। विगत दो-तीन शताब्दियों में ज्ञान-विज्ञान का आश्चर्यजनक विकास हुआ है, किन्तु उस समय तक संस्कृत भाषा में निबद्ध ज्ञान-विज्ञान से ही देश अपना काम चलाता था और अनेक क्षेत्रों में विश्व की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ इसमें सुरक्षित थीं। पिछले एक हजार वर्षों में इसका ह्रास अधिक हुआ, विकास कम। फलतः देश पराधीन हो गया। इतना अवश्य हुआ कि इस कठिन काल में भी देश ने अपनी इस थाती को यथाशक्ति सुरक्षित रखा। अपनी इस निधि पर देश को गर्व था।

देश में पाश्चात्य पद्धति की शिक्षा प्रचलित होने के बाद इस सुरक्षित निधि पर हमारी आस्था कम होने लगी। देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी हमारी यह अनास्था कम नहीं हुई, बढ़ी ही है। इस पुरातन ज्ञान-विज्ञान से नवीन ज्ञान-विज्ञान को जोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। यह सही है कि ज्ञान-विज्ञान की अनेकों शाखाओं का विश्व में इदम्प्रथमतया उन्मेष हुआ है और होता जा रहा है, उनको वैदिक मन्त्रों से खोज निकालना बुद्धि के व्यायाम से अधिक कुछ नहीं माना जायगा। इस प्रकार के प्रयत्न उक्त अनास्था के बढ़ाने में केवल सहायक ही नहीं होते, अपितु सही प्रयत्नों के मार्ग में बाधा भी डालते हैं। फलतः देश का सुरक्षित ज्ञान भण्डार उपेक्षित पड़ा है और बाहर से आयातित ज्ञान उस पर हावी होता जा रहा है।

उदाहरण के लिये हम हिन्दी साहित्य को ही लें। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल के काल तक यह संस्कृत भाषा से प्रेरणा लेता रहा है, किन्तु आज स्थिति इसके विपरीत है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का केवल संस्कृत से ही नहीं, पूरे भारतीय वाङ्मय से सम्बन्ध टूटता जा रहा है। रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के बाद संस्कृत के विद्वानों की प्रतिभा तो कुण्ठित हो ही चुकी थी, हिन्दी में भी रामचन्द्र शुक्ल की प्रतिभा का धनी कोई दिखाई नहीं दे रहा है, जो कि भारतीय साहित्य-

शास्त्र को परम्परानुगत अथवा स्वतन्त्र नया चिन्तन दे सके। हिन्दी साहित्य की दशा तो आज इतनी खराब हो गई है कि वह आयातित ज्ञान की नकल में मगन हो अपने पुराने कवियों को समझ पाने की शक्ति भी खोता जा रहा है। काशी के श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे हिन्दी भाषा के प्रौढ़ मर्मज्ञ विद्वान्, आज उपेक्षित हो चुके हैं। संस्कृत से हिन्दी का आज इतना ही सम्बन्ध रह गया है कि संस्कृत के छटके विद्वान् वहाँ जाने पर आचार्य मान लिये जाते हैं। यहाँ आकर प्रगतिशील बनने की धुन में ये आचार्यगण पुरातन से अपने चूल्हे-चक्की तक का ही सम्बन्ध रख पाते हैं। चार-छः जगह से झपट्टा मार कर मौलिक ग्रन्थलेखक बनने की आधुनिक भारतीय लेखकों की दुराकांक्षा भारतीय साहित्य को दुनिया के उत्कृष्ट ज्ञान-ग्रन्थों के सही अनुवाद से भी वंचित करती रही है। ऊँचे स्तर की डाका डालने की इस प्रवृत्ति को समाज जब तक पुरस्कृत करता रहेगा, तब तक भारतीय वाङ्मय का भविष्य अन्धकारमय ही रहेगा।

भारत में ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में पुरातन ज्ञान को नये ज्ञान से जोड़ना आज प्रतिगामी कदम माना जाने लगा है। फलतः नवीन ज्ञान की उन शाख़ाओं का भी सम्बन्ध संस्कृत भाषा से छूटता जा रहा है, जिनका कि प्रभूत साहित्य यहाँ विद्यमान है। संगीत, नृत्य जैसी कलाओं और थोड़ा बहुत दर्शनशास्त्र को छोड़ आज पूरा भारतीय वाङ्मय उपेक्षित पड़ा है। सर्वत्र पुरातनवादियों और आधुनिकता-प्रेमियों के दो दल बन गये हैं। आज कालिदास की इस उक्ति को—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"

भुला दिया गया है। पुरातनवादियों का कहना है कि सर्वज्ञ ऋषि-मुनियों ने हमें जो कुछ ज्ञान दे दिया है, उसमें नया कुछ जोड़ने की शक्ति आज के पामर मानव में नहीं है और आधुनिकतावादी इस पुरानी थाती को फूटी आँख देखना नहीं चाहता। फलतः ऐसा कोई कोणबिन्दु नहीं दिखाई पड़ता, जहाँ पर इनके मिलने की सम्भावना हो। ऐसी परिस्थिति में आधुनिक भारतीय शिक्षा का यहाँ की प्राचीन शिक्षा पद्धति से किसी भी प्रकार का लगाव कैसे सम्भव हो सकता है? प्राचीनतावादी भी बात तो पुराने शास्त्रों की करते हैं, किन्तु उनका आत्मविश्वास डिग चुका है। आज कल आयुर्वेदाचार्य डाक्टर कहलाना पसन्द करता है। शिक्षाशास्त्री बी० एड० लिखना अधिक आवश्यक समझता है और संस्कृत विश्वविद्यालय के स्नातक तथा प्राध्यापक विद्यावारिधि

और वाचस्पति कहलाने की अपेक्षा अपने नाम के आगे पीएच० डी० और डी० लिट्० लिखने में अधिक गौरव का अनुभव करते हैं। इसके लिये विश्व-विद्यालय के नियमों में आवश्यक सुधार भी करवा लिये गये हैं।

ज्ञान और विज्ञान को देश तथा काल की सीमा में बाँधना उचित नहीं है। यह तो पूरे विश्व की सदा-सर्वदा के लिये थाती है। आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को आज हमें भी उसी मनोवृत्ति के साथ ग्रहण करना चाहिये, जिस प्रकार कि प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने यवनों को ऋषितुल्य पूज्य मानकर उनसे विद्या को ग्रहण किया था। भारतीय अंकविज्ञान और उसकी दशमलव पद्धति आज पूरे विश्व की थाती है। इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अन्तिम तथ्य पूरे विश्व की थाती बनेगा। उसको अंगीकार करने से पहले इसकी परीक्षा आवश्यक है। नवीन ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करते समय हमें अपने पुरानी थाती को संभालना होगा। हमको यह विचारना पड़ेगा कि हम कहाँ तक पहुँच सके हैं और अब कहाँ से आगे बढ़ना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि बाह्य ज्ञान-विज्ञान को पचा सकने और भारतीय वातावरण के प्ररिप्रेक्ष्य में उसको नया स्वरूप दे सकने की सामर्थ्य हम अर्जित कर सकें। राजनीति, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, खगोल और भूगर्भशास्त्र आदि प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में दोनों पद्धतियों के समन्वित गंभीर अध्ययन के उपरान्त अपने देश के जलवायु के अनुकूल निर्मित एक समन्वयात्मक शिक्षापद्धति ही भारत के युवकों को सही दिशानिर्देश कर सकती है। क्या हम राजनीति से ऊपर उठकर पूरे देश के हित में एक समन्वित शिक्षाप्रणाली के विकास की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे ?

जब पूरी भारतीय शिक्षापद्धति ही भ्रम-जाल में फँसी हुई है, तो ऐसी परिस्थिति में संस्कृत शिक्षा उससे मुक्त कैसे हो सकती है ? पूरी भारतीय शिक्षापद्धति की इन समस्याओं के साथ संस्कृत शिक्षा की अपनी समस्याएँ अलग से जुड़ी हुई हैं। आज की प्राचीन प्रणाली की संस्कृत शिक्षा-पद्धति पर पतनोन्मुख वैदिक कर्मकाण्डीय संस्कृति और निर्वाणोन्मुख (बुझने जा रही) बौद्ध मठीय संस्कृति का गहरा प्रभाव है। संस्कृत पाठशालाओं से लेकर संस्कृत विश्वविद्यालयों तक में पहली संस्कृति का तथा मठों-मन्दिरों में दूसरी का प्रभाव यत्र-तत्र देखा जा सकता है। बौद्ध मठीय संस्कृति का प्रति-निधित्व करने वाली तान्त्रिक वाङ्मय की कुछ शाखाओं में कुछ शब्दों का आध्यात्मिक रहस्यात्मक विशिष्ट अर्थ बताया गया है। इस पर शंका उपस्थित

करना मात्र अपने अज्ञान को मुखरित करना होगा। हमें सोचना इतना ही है कि आज व्यवहार में क्या हो रहा है ? भोग का जितना बीभत्स वर्णन इन शास्त्रों की शाखाओं में मिलता है, वहाँ तक शायद आजकल का पाश्चात्य हिप्पी-समाज अभी तक नहीं पहुँच पाया है। इसी के कारण देश एक हजार वर्ष तक परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा तड़फड़ाता रहा है। यह देश की नैतिकता के ह्रास का काल था।

संसार का सर्वोत्कृष्ट औपनिषद ज्ञान गृहस्थ ऋषि-मुनियों और नृपतियों की संचित निधि है। वैदिक वाङ्मय वृद्धावस्था में ही संन्यासाश्रम का विधान करता है। मनोविज्ञान और चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण से सर्वथा विपरीत बौद्ध मठीय संस्कृति के ये अवशेष अपने वर्तमान रूप में क्या समाज का कुछ हितसाधन कर रहे हैं ? इस प्रश्न पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिये।

इस प्रसंग में विदुरनीति के निम्न दो श्लोक स्मरण हो आते हैं—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति॥

अर्थात् पूजा (यज्ञ-यागादि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और अलोभ ये आठ धर्म के मार्ग हैं। इनमें पहले चार मार्गों का उपयोग दम्भ (पाखण्ड) के लिये भी किया जा सकता है, किन्तु अन्तिम चार का अनुसरण केवल महात्मा पुरुष ही कर सकते हैं।

आज उक्त दोनों संस्कृतियों में दम्भ-धर्म का ही प्राधान्य परिलक्षित होता है। उत्तर चतुर्वर्ग का पालन करने वाले कितने महात्मागण आज इस समाज में हैं ?

कोढ़ में खाज के समाज संस्कृत समाज में बाह्य संस्कृति की संकीर्णता और असहिष्णुता का रोग और आ घुसा है। आज संस्कृत जगत् में भी अखिल भारतीय भावना नष्ट होती जा रही है। सर्वत्र स्थानीय समुदाय बाहरी प्रवेश को अवांछनीय मानता है और इसको रोकने के लिये निरन्तर सचेष्ट रहता है। काशी में इस रोग की जड़ें अधिक गहरी हैं। एक समुदाय में जन्म लेते ही बालक शास्त्री बन जाता है। निरक्षर भट्टाचार्य रहते हुए भी यह अपने वर्ग के विद्वत्समाज में ऊँचा स्थान पाता है। इसके विपरीत

दूसरे वर्ग में आचार्यगणों की सृष्टि होती है। शास्त्रार्थ-सभा आदि में समय-कुसमय में एक दूसरे वर्ग के बड़े से बड़े विद्वान् को अपमानित कर देना इनके लिये गौरव का विषय है। संसारत्यागी काशी का साधु-समाज भी इस संकीर्ण वर्गसंघर्ष की भावना से विरत नहीं है। इसका कहाँ अन्त होगा ?

संस्कृत शिक्षा का, भारतीय संस्कृति का, उक्त दोनों दृष्टिकोणों से भिन्न एक तीसरा दृष्टिकोण भी है, जो कि वेद और उपनिषद् के, बुद्ध और महावीर के उदात्त उपदेशों के तथा इतिहास, पुराण और आगमशास्त्र की समन्वयात्मक उदार विचारधारा के बीच पनपा है। काशी इस उदात्त दृष्टिकोण का भी प्राचीनकाल से ही प्रतिनिधित्व करती रही है। आद्य शंकराचार्य के अज्ञान को काशी के एक चाण्डाल ने दूर किया था। रामानन्द और कबीर की कर्मभूमि काशी ही रही है। अभी हाल में भारतरत्न डॉ० भगवान्दास, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द और श्री श्रीप्रकाश ने इसी दृष्टिकोण को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया है और म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, श्री गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी, प्रो० मुकुटबिहारी लाल, प्रो० राजाराम शास्त्री जैसे विद्वद्गण भारतीय संस्कृति की इस विशिष्ट धारा को आगे बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील हैं। क्या आधुनिक संस्कृत शिक्षा अपनी दोनों संकीर्ण धाराओं से बाहर निकल कर इस प्रशस्त पथ की ओर मुड़ने में समर्थ होगी ?

संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का अब तक अटूट सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध के टूटने की आशंका उपस्थित हो गई है। यह तभी निर्मूल हो सकती है, जब कि संस्कृत भाषा का सम्बन्ध धर्म की अपेक्षा संस्कृति से अधिक गहरा किया जाय[1] ॥

१. दि० ३०-९-७२ के दैनिक 'आज' में प्रकाशित।

सांस्कृतिक नवचेतना का अरुणोदय

भारत के पूरब में बंगलादेश के रूप में हुआ भारत की समन्वयात्मिका संस्कृति के आकाश में नवचेतना का अरुणोदय आज पूरे विश्व को नवजागरण का संदेश सुना रहा है। इस नवचेतना का संचार करने वाले महात्मा गांधी आज यशःशरीर हैं। उनकी नोआखाली की यात्रा आज फलीभूत हो रही है। इस अरुणोदय का शंखनाद फूंकने का एकमात्र श्रेय शेख मुजीबुर्रहमान को दिया जा सकता है।

लक्ष्मीवाहनों को अरुणोदय कभी पसन्द नहीं आया है। आधुनिक विश्व के संरक्षक होने का दावा करने वाले दो बड़े देश इस अरुणोदय से घबड़ा उठे हैं। कागजी और इण्टरप्राइजी नकली बादलों से वे इसको ढक देना चाहते हैं। उनको यह नहीं मालूम कि जिनके दिलों में आन्तरिक शक्ति उद्बुद्ध हो चुकी है, उनका बड़ी से बड़ी दानवी शक्ति भी कुछ बिगाड़ नहीं सकती। दिल्ली के रामलीला मैदान में संगीतमय लय में गाये गये गीत की प्रत्येक मूर्छना से इस राष्ट्र के कण-कण में इस आन्तरिक शक्ति के उद्वेलित हो उठने की स्पष्ट अभिव्यक्ति को आंकने की क्षमता केवल अभिधा की भाषा को ही बोल-समझ पाने वाले विश्वसंस्कृति के इन नये ठेकेदारों में शायद नहीं है।

रक्षामन्त्री श्री जगजीवन राम के कथनानुसार इस देश की संस्कृति तीन हजार वर्ष पुरानी है। आधुनिक विश्व इससे पुरानी इसको मानने को तैयार नहीं है, इस उक्ति का केवल इतना ही अभिप्राय है। इतना तो स्पष्ट ही है कि इससे पुरानी जो संस्कृतियां और सभ्यताएँ थीं, वे आज विद्यमान नहीं हैं और विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में जो आज विद्यमान हैं, उनमें यही सबसे प्राचीन है। युद्धबन्दियों के संबन्ध में आज जेनेवा समझौते की चर्चा की जाती है। हमारे स्थलसेनाध्यक्ष भी जब शत्रु को हथियार डाल देने की सलाह देते हैं, तो इसी समझौते की दुहाई देते हैं। वे भूल जाते हैं कि भारतीय संस्कृति में युद्धबन्दियों के साथ सद्व्यवहार की परम्परा बहुत पुरानी है। जेनेवा समझौते के जनक राष्ट्र अभी इससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। आधुनिक सभ्य विश्व अभी तो जेनेवा समझौते का भी पूरी तरह से पालन कर पाने में अपने को असमर्थ पाता है। यह जेनेवा समझौते का नहीं, भारतीय संस्कृति का प्रभाव है कि बंगला देश में युद्ध बन्द हो जाने के बाद एक लाख युद्धबन्दी

पूरी तरह से सुरक्षित हैं और सरकार के इस निर्णय को भारतीय जनता का पूरा समर्थन प्राप्त है।

प्रसंगवश यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि पृथ्वीराज चौहान ने अपने शत्रुओं को अनेक बार क्षमादान किया था, किन्तु उसका अन्त में क्या हश्र हुआ ? जनाब जुल्फीकार अली भुट्टो साहब हिन्दुस्तान के साथ एक हजार साल तक जंग करने की बात कहते रहते हैं। आकाशवाणी इसका मजाक उड़ाती है। ऐसा करते समय हम भूल जाते हैं कि जो चीज उनको यह कहने के लिये प्रेरित करती है, उस भावना ने एक हजार वर्ष तक भारतीय संस्कृति से युद्ध किया है और आधुनिक सभ्य संसार का मानस यदि परिष्कृत नहीं होता, तो भुट्टो साहब का कहना कोई गलत बात नहीं है। इतिहास की पुनरावृत्ति तो नहीं होती, किन्तु उससे शिक्षा तो ग्रहण की ही जा सकती है।

सम्राट् हर्ष के बाद भारतीय संस्कृति का तेज घटने लगा था। भगवत्पाद शंकराचार्य भी इसके घटते तेज को रोक न सके। किसी आधुनिक विचारक ने लिखा है कि पैगम्बर मुहम्मद साहब और शंकराचार्य का आविर्भाव लगभग एक ही समय में हुआ। आगे के वर्षों में इसलाम ने विश्वविजय की, किन्तु भारत अपनी स्वतन्त्रता को भी सुरक्षित न रख सका। ऊपर से देखने में यह आक्षेप सही मालूम होता है, किन्तु इस प्रसंग में हमको भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय के दो श्लोक याद आते हैं, जिनमें कि सात्त्विक और राजस सुख की व्याख्या की गई है। किसी समय बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था, किन्तु शंकराचार्य के समय तक उसकी जीवनी शक्ति समाप्त-प्राय हो गई थी। अतः शंकराचार्य ने तत्कालीन विभिन्न सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित कर स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की। वैष्णव आचार्यों और सन्तों के अमृत-मय उपदेशों से सिंचित हो यह नयी संस्कृति फली-फूली और इतिहास इस बात का साक्षी है कि इसी संस्कृति की छत्रछाया में भारतवर्ष ने अपनी आत्मा को मरने नहीं दिया और इसलाम धर्म में भी सहिष्णुता के बीच बोये। इसके विपरीत शंकराचार्य के काल में लड़खड़ाता बौद्ध धर्म इसलाम के आक्रमण को सह न सका और इस प्रकार अपने मूल देश से एक प्रकार से उच्छिन्न हो गया। इसलाम की असहिष्णुता कहीं-कहीं पाशविक क्रूरता के रूप में उभड़ी है। इसका ताजा उदाहरण बंगला देश में देखा जा सकता है। यह दोष इसमें कहाँ से आया, इसका अन्वेषण करने की अपेक्षा, अब इसमें परिष्कार की आवश्य-कता है। यदि इसलाम में धार्मिक उन्माद अब भी बना रहा तो नये विश्व के निर्माण से इसका कोई भविष्य नहीं रह जायगा। नये विश्व का गठन विश्वधर्म

और विश्वसंस्कृति के आधार पर होगा और इस विश्वसंस्कृति के निर्माण में भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंशदान होगा। नये विश्व के निर्माण में इसलाम पिछड़ता जा रहा है और शंकराचार्य के समय के बाद से निस्तेज हो रही भारतीय संस्कृति आज इसलाम के अनुयायियों को उन्हीं की क्रूरता से बचा रही है। यही गीता का वह सात्त्विक सुख है, जिसका कि वर्तमान कष्टमय होते हुए भी भविष्य उज्ज्वल रहता है। भारतीय संस्कृति की यह नवचेतना अभिनन्दनीय है। इसके प्रातःकालीन मंगलमय भेरीनिनाद से पीकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी आज कांप उठी है।

पीकिंग आधुनिक विश्व के, विशेष कर पाकिस्तान जैसे भारत के पड़ोसी देशों के सामने बृहत्तर भारत का हौवा खड़ा करना चाहता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत इसलाम की तरह कहीं तलवार लेकर नहीं गया। भारत का संदेश सुख, समृद्धि, शान्ति और सर्वोपरि परम शान्ति का रहा है। यह संदेश चीन और जापान को भी सुनाया गया था। उसको भुलाकर चंगेज और हलाकू के उत्तराधिकारी माओ के चीन ने कुछ वर्ष पहले तिब्बत में वहाँ की संस्कृति और मानवता को उसी प्रकार कुचला था, जैसे कि नादिरशाह के वंशज याहिया के दरिन्दों ने बंगला देश में अभी किया। बंगला देश की आवाज तो हम सुन सके, किन्तु हमारी अकर्मण्यता और बुजदिली के कारण तिब्बती मानवता की करुण चीत्कार विश्व की कर्णशष्कुली से टकरा कर आकाश में लीन हो गई। कुछ हजार तिब्बतियों को भारत में शरण मिल सकी, किन्तु हम उनको एक हजार वर्ष पूर्व के भारत में रखना चाहते हैं। इनको गंगा की पवित्र धारा के समान सतत प्रवहमान भारतीय संस्कृति एवं गांधीवाद का परिचय न करा कर और स्वतन्त्र तिब्बत से इनका ध्यान हटाकर यदि भारत में मार्क्सवाद की पृष्ठभूमि में एक हजार वर्ष पूर्व के बौद्ध धर्म के पुनरुज्जीवन की शिक्षा दी गई, तो यह तिब्बत और भारत दोनों ही देशों के साथ भारी गद्दारी होगी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में एक ऐसा वर्ग पनप रहा है, जिसको भगवद्गीता का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ने की और धम्मपद के नाम पर पुलकित हो उठने की आदत पड़ गई है। बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद में ही इनको विश्वशान्ति का संदेश सुनाई देता है। किसी शायर ने लिखा है—मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना। किन्तु धर्मों का इतिहास द्वेष, घृणा, क्रूरता और रक्तपात से रंगा हुआ है, भारतीय संस्कृति की यह देन है कि वह आपस में बैर रखने की नहीं, सुहृद्भाव से रहने की शिक्षा

देती है। मार्क्सवाद की सारी इमारत वर्ग-संघर्ष पर खड़ी है। एक संघर्ष दूसरे संघर्ष को ही जन्म दे सकता है, शान्ति को नहीं। आज गांधीवाद पर आधारित भारतीय संस्कृति ही विश्व को शान्ति का संदेश दे सकती है, जिसको कि न किसी धर्म से द्वेष है और न किसी वाद से कोई गिला। सभी धर्मों में सहिष्णुता और वादों में समन्वय स्थापित करना इसका पहला काम है।

गांधीवाद के आधार पर देश को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया था, किन्तु हमारी परराष्ट्रनीति धर्म पर ही आधारित रही है। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से हम बौद्ध धर्म के आधार पर और पश्चिम एशिया के देशों से इसलाम के आधार पर संबन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। अभी हाल के भारत-पाक संघर्ष ने इस नीति की असफलता को पुनः उजागर कर दिया है। आज का विश्व धर्म की नहीं, शक्ति की भाषा को जानता है। एक राष्ट्रीयता और अखण्ड भारतीय संस्कृति के आधार पर ही आज हम विश्व में अपनी स्थिति बना सकते हैं, जिसके कि प्रवक्ता महात्मा गांधी हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में १०४ राष्ट्रों ने हमारे विरोध में मत दिया, इसका कोई महत्त्व नहीं है। महाभारत काल में भरी सभा में द्रौपदी के साथ जब असद्-व्यवहार किया जा रहा था, तब पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण इस घटना के मौन दर्शक बने हुए थे। द्रौपदी की फटकार का उनके पास कोई जवाब नहीं था। विश्व की नैतिकता महात्मा गांधी के समान अभी इतनी उद्‌बुद्ध नहीं हुई है कि वह बिना किसी स्वार्थ के सब जगह अन्याय का प्रतीकार कर सके। १०४ राष्ट्रों ने अमेरिका अथवा पाकिस्तानी पक्ष का समर्थन किया, यह भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। इस प्रसंग में संस्कृत का एक श्लोक याद आता है। उसका अभिप्राय है कि खल और सज्जन की मित्रता दिन के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की छाया के समान है। दिन के पूर्वार्ध में किसी वस्तु की छाया पहले बड़ी प्रतिबिम्बित होती है और धीरे-धीरे घटती जाती है। इसके विपरीत उत्तरार्ध की छाया पहले छोटी होती है, किन्तु वह आगे बढ़ती जाती है। भारत के मित्रों की संख्या अभी भले ही कम हो, यह निश्चित है कि धीरे-धीरे वह अवश्य बढ़ती जायगी।

इसके लिये सबसे पहली आवश्यकता है, अपनी परराष्ट्र नीति में त्वरित परिवर्तन की। धर्म के आधार पर इसका संचालन तुरन्त बन्द होना चाहिये। वर्तमान परिस्थिति में इसराइल को मान्यता देना इसका पहला काम होना चाहिये। भारत और इसराइल मिलकर इसलाम से क्रूरता को दूर कर

उसका परिष्कार कर सकते हैं। भारतीय जनता और बुद्धिजीवियों का, विशेष कर हमारे पत्रकार बन्धुओं का यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वे अपनी सरकार को इसराइल को मान्यता देने के लिये बाध्य करें। यह जरूरी नहीं है कि चीन को मान्यता देने में अमेरिका ने जो गलती की, उसीको हम इसराइल के मामले में दोहरावें। मिश्र और ईरान इसलाम के आविर्भाव के पूर्व महान् देश रहे हैं। इनको पुनः महान् बनाने के लिये अपने पुराने स्वरूप के अवबोध की अपेक्षा है। सिन्धु घाटी की सभ्यता और अवेस्ता के माध्यम से भी इनके साथ भावात्मक एकता स्थापित होनी चाहिये, केवल इसलाम के माध्यम से नहीं। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों को भी केवल बुद्ध का नहीं, किन्तु शिव-विष्णु, राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर और महात्मा गांधी का बिन-सम्प्रदाय का भारत ही नई प्रेरणा दे सकता है।

पंचशील के आधार पर तटस्थ राष्ट्रों का तृतीय गुट बनाने का हमने प्रयत्न किया था। अभी हमने देखा कि बंगलादेश के प्रश्न पर उन तथाकथित तटस्थ राष्ट्रों को हम अपने प्रति तटस्थ भी न रख सके। निर्बल व्यक्ति की क्षमा के समान निर्बल राष्ट्र की तटस्थता का भी कोई अर्थ नहीं है। रूस से सुरक्षा सन्धि कर इस दिशा में हमने नया पग उठाया है। त्याग और तपस्या (कठोर श्रम) से ही देश सबल हो सकता है। किसी समय का सबसे ऊँचे नैतिकता के सिद्धान्तों का धनी यह देश आज इस मामले में भी सब से गरीब है। त्याग और तपस्या की जिनसे सबसे अधिक आशा की जा सकती है, वे आज अर्थलोलुपता, अकर्मण्यता, संकीर्णता, मिथ्या आडम्बर आदि के केन्द्र बने हुए हैं। इन स्थानों में बौद्ध मठीय संस्कृति का "भोगश्च मोक्षश्च" वाला सिद्धान्त आज भी अपनी जड़ जमाये हुए हैं। उपनिषद् के त्याग, महावीर की तपस्या, बुद्ध की परदुःखकातरता, सिद्ध, सन्त, साधु और फकीरों की विश्वबन्धुत्व की भावना, गुरुओं के बलिदान और ईसाई मिशनरियों की सेवाभावना के सिद्धान्त जब इस राष्ट्र के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में पूरी तरह से प्रविष्ट होंगे, तभी यह देश पुनः महान् बनेगा और तब विश्व की कोई भी शक्ति भारत को शान्ति का संदेश सुनाने से रोक न सकेगी। तृतीय गुट बनाने अथवा विश्व की तीसरी शक्ति के रूप में उभरने के बजाय भारत का गौरव इसमें है कि वह दुनिया को एक गुट, एक विश्व और एक संस्कृति की छत्रछाया में इकट्ठा कर भावी युद्ध की बिभीषिका से इसको बचा सके। सांस्कृतिक नव-चेतना के अरुणोदय की बेला में इस पुनीत यज्ञ की पुरोधा भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी का हम अभिनन्दन करते हैं॥

इक्कीसवीं सदी में जाने से पहले

चांद और सूरज के उदय-अस्त के साथ जुड़ी काल की गति को हम रोक नहीं सकते। बिजली की सीढ़ी जैसे अपने आप व्यक्ति को गन्तव्य तक पहुँचा देती है, वैसे ही कालचक्र हमें इक्कीसवीं सदी में अपने आप पहुँचा देगा। इस तरह से मोटे तौर पर हम देखें तो गरीबी हटाओ के नारे के बाद यह दूसरी पीढ़ी का चतुराई से भरा नारा है। योगसूत्रकार महर्षि पंतजलि ने चित्त की वृत्तियों में विकल्प को भी गिना है और उसका लक्षण—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" बताया है। लुभावने नारों को सुनकर आदमी गद्‌गद हो हो उठता है। यह विकल्प की ही शक्ति है। आज के राजनेता पतंजलि को बिना पढे ही विकल्प की इस शक्ति को पहचानते हैं और उसको अपने हक में ढालते रहते हैं।

बुद्धिजीवी नाम का एक नया प्राणी आजकल उभरा है। यह भी अपने करिश्मे दिखाने में किसी सिद्ध महात्मा से कम नहीं है। आजकल का हर एक राजनेता अपने चमचों की सहायता से इन प्राणियों को अपने इर्द-गिर्द ज्यादा से ज्यादा संख्या में जुटाने में लगा रहता है। इनके दबदबे में आकर हम यह भूल जाते हैं कि करिश्मा एक अलोकतान्त्रिक शब्द है। जनतन्त्र किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं है, वह तो सामूहिक सम्पत्ति है। एक व्यक्ति का करिश्मा जनतन्त्र की रक्षा नहीं कर सकता, वह तो उसको अधिनायकवाद और वंशवाद की ओर ही ले जा सकता है।

'जय हिन्द' एक सही नारा था और 'जय जवान, जय किसान' भी। इक्कीसवीं सदी में जाने का नारा भी सही हो सकता है, यदि हम ठीक दिशा में सोचें। जिसने यह नारा दिया है, वह इस ओर नहीं बढ़ रहा है। उसने तो सातवीं सदी की ओर देश को ढकेल दिया है। उन दिनों एक असहिष्णु संस्कृति ने डग भरा था। आज भी खोमेनी के ईरान तथा गद्दाफी के लीबिया में उसकी झलक देखी जा सकती है। जो मनोवृत्ति आज फ्रेंच और अंग्रेजी भाषा की पुस्तकों को जला रही है, उसी ने कभी बिहार के समृद्ध पुस्तकालयों को राख का ढेर बना दिया था। अपने मूल बतन से उजाड़े गये पारसी यहाँ दूध में चीनी की तरह घुलमिल गये हैं, वहीं इस आक्रामक संस्कृति ने देश के तीन टुकड़े कर दिये। इस असहिष्णु मनोवृत्ति को हवा देने से देश इक्कीसवीं

सदी में भी सुख-चैन से नहीं रह सकेगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि इस तरह की वोट-बटोरू मनोवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिये सभी राजनीतिक दल मिल-बैठकर आचार संहिता बना लें। बहुमत को धर्मनिरपेक्ष बनने की तथा अल्पमत को अपनी डफली अलग से बजाने देने की सलाह कभी सही नहीं मानी जा सकती।

कम्प्यूटर के जिम्मे अपनी अक्ल को गिरवी रखकर की गई उन्नति अमीर को और अमीर तथा गरीब को और गरीब बना देगी, जैसा कि अब तक हुआ है। तिलक और दहेज के भंवर में पहले से बुरी तरह से फंसा भारतीय समाज आज भ्रष्टाचार और काले धन के सागर में आकंठ डूब चुका है। अध्यात्मशून्य आज की भौतिक प्रगति उसको किसी भी समय रसातल में पहुँचा सकती है।

हजरत मुहम्मद साहब तथा आचार्य शंकर भगवत्पाद प्रायः समसामयिक माने जाते हैं। मुहम्मद साहब का भाई चारे का संदेश आधी दुनिया में फैल गया। इसके विपरीत किसी समय ईरान-मेसोपोटामिया (इराक) से लेकर चीन-जापान तक फैली भारतीय संस्कृति अपने मूल देश को भी खंडित होने से बचा न सकी। इसके कारणों की हमें खोज करनी होगी।

सभी पूर्वाचार्यों के प्रति पूरा आदरभाव रखते हुए हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि बादरायण ब्रह्मसूत्र के दो स्थल इसके लिये जिम्मेदार हैं। उनमें से पहला है अपशूद्राधिकरण और दूसरा है तर्कपाद। अपशूद्राधिकरण ने शूद्रों के अधिकारों को सीमित कर दिया, जबकि तर्कपाद ने सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन और पाशुपत-पांचरात्र मतों को अवैदिक करार दिया। इससे सांख्य-योग, पांचरात्र-पाशुपत और बौद्ध-जैन दृष्टियों के माध्यम से भारतीय समाज में जो उदारवादी दृष्टिकोण पनप रहा था, उसमें रुकावट पैदा हो गई। ब्रह्मसूत्र के व्याख्याता प्रायः सभी आचार्यों ने उपनिषद् और भगवद्गीता के विश्वजनीन दृष्टिकोण की उपेक्षा कर दी, इसके विपरीत दक्षिण और उत्तर भारत के सन्तों ने उस उदारवादी दृष्टिकोण की अलख जगाये रखी। हमारा यह दुर्भाग्य है कि आज हमारी वाणी में तो सन्तों के उपदेश बसे हुए हैं, किन्तु व्यवहार में हम पूरी तरह से ब्रह्मसूत्र के उक्त अंशों का अनुसरण करते हैं।

आजकल यह कहना फैशन सा बन गया है कि भारतवर्ष से बौद्ध धर्म उच्छिन्न हो गया। सचाई तो यह है कि अपनी सभी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ वह अब भी यहाँ बना हुआ है। आज उसका रूप बदल गया है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य भास्कर शंकराचार्य के मायावाद को महायानि -बौद्ध-गाथित

मानते हैं और आचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य पद्मपाद भास्कर को क्षपणक-(जैन) पादावनत-शिरोबिम्ब विशेषण से अलंकृत करते हैं। भट्ट कुमारिल का कहना है कि भर्तृमित्र आदि आचार्यों ने मीमांसाशास्त्र को लोकायतिक बना दिया। इस तरह की उक्तियों का केवल एक ही अभिप्राय निकाला जा सकता है कि परस्परविरोधी दृष्टिकोणों का भी यहाँ पूरी स्वतन्त्रता के साथ विकास हुआ है, पर्याप्त गंभीरता एवं सहानुभूति के साथ उन पर विचार-विमर्श होता रहा है और उनके ग्राह्य अंशों को निःसंकोच स्वीकार किया जाता रहा है। आदान-प्रदान की निरन्तर चलने वाली इस उदारवादी प्रक्रिया का ही नाम भारतीय संस्कृति है।

यदि हमें पूरी गंभीरता के साथ इक्कीसवीं सदी में पदार्पण करना है, तो पूरी ईमानदारी के साथ ग्यारहवीं शताब्दी की उन परिस्थितियों पर विचार करना पड़ेगा, जिनके चलते देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ता चला गया। भारतीय संस्कृति ने चार पुरुषार्थों की कल्पना की है, किन्तु उस समय धर्म और मोक्ष के क्षेत्र में भी अर्थ और काम का आधिपत्य हो चुका था। आज भी अनेक क्षेत्रों में "भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" वाले सिद्धान्त को धार्मिक और दार्शनिक मान्यता मिली हुई है।

आगम और तन्त्रशास्त्र ने ही नहीं, महाभारत और पुराणों ने भी चारों वेदों के अध्येता दंभी ब्राह्मण की अपेक्षा सरल स्वभाव के चाण्डाल को अधिक महत्त्व दिया है। सिद्धों और सन्तों की परम्परा में इसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। गीता के उपदेश के अनुसार जन्म (जाति) की अपेक्षा यदि हम गुण और कर्म को वरीयता दें, ऊँच-नीच की दृष्टि को छोड़ सकें, तो देश समतादृष्टि की ओर, "वसुधैव कुटुम्बकम्" में निहित भावना की ओर, सही माने में बढ़ सकता है। इसके विपरीत नैतिकताविहीन कोरी आर्थिक उन्नति देश को घोर भौतिकता की ओर ढकेल देगी॥

●

धर्मनिरपेक्षता एक अवांछनीय शब्द

भारतीय मनीषियों की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की अवधारणा अतिप्राचीन होते हुए भी चिरनवीन है, किन्तु धर्मनिरपेक्ष भारतीय शासन ने इनमें से प्रथम पुरुषार्थ (धर्म) को तिलांजलि दे दी है और अध्यात्म के ठेकेदारों ने मोक्ष को केवल उत्कृष्ट ज्ञानियों और महायोगियों के लिये ही सुरक्षित कर दिया है। दसवीं सदी के बाद भारतीय चिन्तन की मौलिकता तो समाप्त होती ही चली गई, हमारे अनुवाद में भी कितना भौंड़ापन आ गया, इसका उत्कृष्ट उदाहरण यह धर्मनिरपेक्षता शब्द है। सेक्युलर स्टेट का अनुवाद जिन्होंने धर्मनिरपेक्ष राज्य किया है, लगता है धर्म शब्द की भारतीय आत्मा को पहचानने की उनकी शक्ति को पाश्चात्य प्रभाव ने कुंठित कर दिया था। धर्म और संप्रदाय ये दोनों भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अत्यन्त पवित्र शब्द हैं। इनको देश और काल के प्रभाव से अछूता रख 'सेक्युलर' शब्द के अनुवाद के रूप में नये शब्द की खोज होनी चाहिये।

महाभारत के महान् यशस्वी पात्र विदुर ने धर्म के आठ अंग बताये हैं— इज्या (यज्ञ-याग, पूजा आदि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, दया, क्षमा और अलोभ। उनका कहना है कि इनमें से प्रथम चार अंगों का आचरण मात्र दिखावे के लिये भी हो सकता है, किन्तु अन्तिम चार अंगों का आचरण करने वाला महान् आत्मा बन जाता है। आगम-तन्त्रशास्त्र में पूजा के आन्तर और बाह्य दो प्रकार बताये गये हैं और बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर (मन) शुद्धि पर अधिक जोर दिया है। हमें मानव मन की शुद्धि के लिये बाह्य आडंबरों को छोड़ कर धर्म के इस आन्तर स्वरूप पर अधिक जोर देना चाहिये, जिसके आचरण से प्रत्येक मानव मोक्ष का भी अधिकारी बन सकता है। योगभाष्यकार (२।१५) का कहना है कि चिकित्साशास्त्र के समान योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह है। जैसे चिकित्साशास्त्र रोग के स्वरूप और उसके कारणों की परीक्षा कर मनुष्य के शरीर को स्वस्थ करता है, उसी तरह से योगशास्त्र भी दुःख के स्वरूप और उसके कारणों की समीक्षा कर मानव मन को उससे छुटकारा दिलाता है। महात्मा बुद्ध ने इस तथ्य का साक्षात्कार चार आर्य सत्य के रूप में किया था और तीर्थंकर महावीर ने हमें अहिंसा आदि पांच महाव्रतों की शिक्षा दी थी। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को नये आयाम दिये हैं।

इन महापुरुषों के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने पर ही मानव जाति दुःखों से छुटकारा पा सकती है। महाकरुणा से प्रेरित बुद्धदेव ने निर्वाण मार्ग का परित्याग कर दिया था। स्वामी करपात्री जी महाराज रन्तिदेव की एक उक्ति का उदाहरण दिया करते थे कि मुझे पृथ्वी का राज्य नहीं चाहिये, न मुझे स्वर्ग चाहिये और न मैं मोक्ष की ही कामना करता हूँ। मैं तो मात्र यह चाहता हूँ कि सभी दुःखी प्राणियों का दुःख दूर हो जाय। योगी अरविन्द की कामना है कि मानव मन एक न एक दिन इस स्थिति को अवश्य प्राप्त कर लेगा। श्रद्धेय श्री श्रो गोपीनाथ कविराज अखण्ड महायोग को इस ओर बढ़ने के उपाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मानव जाति आज धर्म, भाषा, राज्य, राष्ट्र आदि के नाम पर अनेक टुकड़ों में बंटी हुई है। कर्मकाण्ड के आधार पर हमने भारतोय ज्ञान को भी वैदिक, बौद्ध, जैन, तान्त्रिक, पौराणिक जैसे टुकड़ों में बाँट दिया हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अनलहक" जैसे वाक्य शास्त्रों की शोभा अवश्य बढ़ा रहे हैं, किन्तु हमारे जीवन पर इनका रंचमात्र भी प्रभाव नहीं है। जब तक इन टुकड़ों से हम अपना पिण्ड नहीं छुड़ा लेते, तब तक यह प्रभाव हमारे ऊपर पड़ने वाला भी नहीं है।

गुरुशिष्यपरम्परा के द्वारा निरन्तर प्रवाहित हो रही ज्ञान की धारा को शास्त्रों में सम्प्रदाय शब्द से कहा गया है। नाम और रूप का भेद होते हुए भी इन सबका गन्तव्य एक ही है। अपनी रुचि के अनुसार किसी एक मार्ग का अनुसरण कर व्यक्ति अपनी यात्रा आरंभ कर सकता है, किन्तु ज्ञान की यह धारा बाह्य आडंबरों से आई रेती के कारण सूखती नज़र आ रही है। इसका कारण है पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति का अन्धानुकरण। भगवद्गीता का कहना है—"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"। यह सही है कि इस पवित्र ज्ञान को कहीं से भी प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु इसको प्राप्त करने से पहले बहुत सावधानी से हमें देखना होगा कि कहीं हम मृगमरीचिका के पीछे तो नहीं दौड़ रहे हैं। इसके लिये यह बहुत जरूरी है कि इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने से पहले हम ग्यारहवीं सदी की उन परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर लें, जिनके चलते यह देश लम्बे समय के लिये पराधीनता की बेड़ी से जकड़ दिया गया।

हम धर्म, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद जैसे विषयों को लें। तान्त्रिक धर्म ने वर्ण, जाति और लिंग के भेद को अस्वीकार कर पूरी मानव जाति को मोक्ष का अधिकारी माना था तथा धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर अधिक जोर दिया था। अवतारों के माध्यम से विभिन्न मतवादों में समन्वय का भी

प्रयत्न किया गया, किन्तु दसवीं सदी के साहित्य, दर्शन और आगम-तन्त्रशास्त्र के महान् कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त के बाद यह दृष्टि शिथिल होने लगी और बुद्ध एवं महावीर के साथ जब भारतीय मन एकरस न हो सका, तो कबीर, रविदास, नानक, दादूदयाल जैसे सन्तों की तो बात ही कहा उठती है। हां हमने सबके नाम से अपने-अपने घरौंदे अवश्य बना लिये हैं। इसी संकीर्णता के कारण देश तीन टुकड़ों में बँट चुका है और आगे फिर बँटने की तैयारी चल रही है। यूरोप अनेक छोटे-मोटे टुकड़ों में बँटा हुआ है। वह दूसरे देशों को भी इसी शक्ल में देखना चाहता है। हमें अपनी धार्मिक विशालता के अनुरूप एक एकताबद्ध विश्व की कल्पना को साकार करने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह तभी सम्भव है, जब हम अपने साहित्य को ग्यारहवीं सदी के साथ जोड़ कर मौलिक रूप से उसे आगे बढ़ावें। महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल ने यह प्रयास किया था। इस प्रयास की अन्तिम कड़ी विश्वनाथप्रसाद मिश्र थे। आज जिस भाषा को हम राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं, उसका प्राचीनता से सम्बन्ध टूट चुका है, जब कि अन्य भारतीय भाषाओं ने ऐसा नहीं होने दिया। पाश्चात्य अन्धानुकरण ही हिन्दी भाषा की दुर्दशा का बहुत बड़ा कारण है। साहित्य की ही तरह हमारे दर्शन के क्षेत्र की भी लगभग यही स्थिति है। साहित्य और दर्शन की अपेक्षा संगीत, नृत्य और चित्रकला के क्षेत्र में हमने अपनी मौलिकता बहुत कुछ बनाये रखी थी, किन्तु अब उधर भी खतरा नजर आ रहा है। ज्योतिष और आयुर्वेद शुद्ध वैज्ञानिक विषय हैं। इन क्षेत्रों में आधुनिक विज्ञान ने जो उन्नति की, उसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु ग्यारहवीं सदी तक विकसित भारतीय ज्योतिष विद्या और आयुर्वेद की चिकित्सा-पद्धति एवं रस-रसायन विद्या के परिप्रेक्ष्य में इन विषयों का अध्ययन अपेक्षित है। आज इनकी दो पद्धतियाँ चल पड़ी हैं। इनका परस्पर एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक विकास के बावजूद भारतीय ज्योतिष और आयुर्वेद की अपनी कुछ मौलिकताएँ हैं। उनके विकास का प्रयत्न होना चाहिये और उनकी रक्षा करते हुए ही हमें आधुनिक चिन्तन के ग्राह्य पक्षों का संग्रह करना चाहिये।

दसवीं-ग्यारहवीं सदी के महान् नैयायिक आचार्य उदयन ने अनेक उदाहरणों के सहारे ह्रासवाद का समर्थन किया था। कलि-काल के दारुण वर्णनों से भयभीत भारतीय मानसिकता इस विचार से आज भी पूरी तरह से छुटकारा नहीं पा सकी है, जबकि विकासवाद के उद्भावक पाश्चात्य जगत् ने

विविध क्षेत्रों में असीम उन्नति कर ली है। नेत्रतन्त्र (मृत्युञ्जयभट्टारक) का कहना है कि भगवान् शिव के साम्राज्य में कृत, त्रेता आदि युगों की प्रवृत्ति नहीं होती। इस शास्त्रीय वचन के आधार पर हमें कलिकाल की अर्गला से अवरुद्ध अपनी मानसिकता के विकास को नया आयाम देना चाहिये। तभी हम आध्यात्मिक उन्नति की ओर आगे बढ़ सकेंगे।

जातिवाद और ब्राह्मणवाद के खिलाफ आवाज बुलन्द करने वाली आज की वोट-बटोरू राजनीति मुसलमान, सवर्ण और असवर्ण आदि भेदों को बढ़ावा दे रही है। मानवतावादी दृष्टिकोण के विकास की बात तो दूर, एक अखण्ड भारतीयता को भी विकसित नहीं होने दिया जा रहा है। विद्या के पवित्र मन्दिरों में अपने पालतू मुर्गों को बैठा कर ये वहाँ के वातावरण में भी जहर घोल रहे हैं। इन तथाकथित राजनेताओं के ही चलते अनेक तान्त्रिक योगी पनपने लगे हैं। कुछ पत्रकार भी इन तान्त्रिक गुरुओं को बढ़ावा देने में पीछे नहीं हैं। वैदिक कर्मकाण्ड को तो हम भुला बैठे हैं, किन्तु तान्त्रिक कर्मकाण्ड की बड़ी चाव से चर्चा की जाती है। हमें इस बात को पूरी तरह से याद रखना चाहिये कि ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में आज की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और कर्मठ तान्त्रिक इस देश में विद्यमान थे, किन्तु उनके देखते ही देखते यह देश पराधीन हो गया। तान्त्रिक कर्मकाण्ड हमको पाँच हजार वर्ष पीछे ले जायगा और वह हमको सामान्य मानवीय मूल्यों से भी वंचित कर देगा। घृणा, द्वेष और क्रूरता किसी देश या जाति को आगे नहीं बढ़ा सकती।

यदि हमें ईमानदारी से धर्म के आन्तरिक स्वरूप को समझना है, तो सभी मतों के विरोधी कर्मकाण्डों को छोड़कर राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, जरथुष्ट्र, ईसामसीह, हजरत मुहम्मद तथा सन्तों और गुरुओं के उन उपदेशों का सार संगृहीत करना होगा, जो मानव मन का विस्तार कर मनुष्य को मनुष्य बना सकता है। तभी हम स्वयं भी शान्ति से रह सकेंगे और पूरी मानवता को भी शान्ति का संदेश सुना पावेंगे॥

•

समाजवादी संस्कृति और उसके नाम पाँच पत्र

समाजवादी संस्कृति

आज से १२ वर्ष पहले आदरणीय प्रोफेसर मुकुटबिहारी लाल के ग्रन्थ "आचार्य नरेन्द्रदेव : युग और नेतृत्व" से हमने आचार्य नरेन्द्रदेव के संस्कृति से सम्बद्ध विचारों को इस प्रकार संकलित किया था—

भारतीय समाजवाद के प्रवर्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति और समाजवाद में सुन्दर समन्वय स्थापित किया था। उनका कहना था कि संस्कृति[1] चित्तभूमि की खेती है। व्यक्तियों के चित्त के साथ-साथ लोकचित्त के कार्यक्षेत्र का विस्तार आवश्यक है। लोकचित्त का राष्ट्रचित्त में और विश्वचित्त का विश्वसंस्कृति के रूप में विकास अभिप्रेत है। जीवन और संस्कृति दोनों परिवर्तनशील हैं। कालप्रवाह से जीर्ण और अनुपयोगी पुराने विचारों के परित्याग के साथ श्रैणिक नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का बहिष्कार तथा समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का अनादर अनुचित होगा। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करें, उसके जीवनपूर्ण तत्त्वों की रक्षा करें और आधुनिक विचारों से उनका सामंजस्य स्थापित कर नव संस्कृति का निर्माण करें। आदान-प्रदान से ही संस्कृतियाँ सम्पुष्ट और ऐश्वर्यमय हो सकती हैं।

भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा तत्त्व विभिन्न जीवन प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी, विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति", "वसुधैव कुटुम्बकम्" इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं। एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हीं को हम व्यक्तिगत मानस और लोक-मानस कह सकते हैं।

---

१. "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध." (१।२) इस योगसूत्र के अनुसार योगशास्त्र भी एक प्रकार से चित्तभूमि की खेती ही है।

व्यक्ति और समष्टि में सामंजस्य युग की माँग है। मानव की उन्नति के लिये व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समष्टि-भावना दोनों आवश्यक हैं। भारतीय विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित समत्व, कर्मयोग, विश्वभावना, लोकहित तथा शील के विचारों का अर्वाचीन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र, समाजवाद और इतिहास की वैज्ञानिक व्यवस्था से समयोग अपेक्षित है। इसके लिये अपने शास्त्रों के साथ अर्वाचीन विद्वानों के लोकतन्त्र, देशबन्धुत्व, विश्वसहयोग तथा समताराज्य सम्बन्धी विचारों का भी विवेचनात्मक अध्ययन होना चाहिये। अपनी संस्कृति के कालविपरीत तत्त्वों का परित्याग कर उसके युगानुरूप कल्याणकारी तत्त्वों का संरक्षण और परिवर्धन करना साथ ही अर्वाचीन विचारकों के हानिकारक सिद्धान्तों और परिपाटियों की यथोचित समीक्षा करते हुए उनके लाभप्रद प्रगतिशील विचारों का परिग्रहण करना युग की माँग है।

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्धयाऽथ रूपद्रव्येण वा पुनः॥

महाभारत शान्तिपर्व में गणराज्य के प्रकरण में कही गई ये दोनों बातें अर्वाचीन विद्वानों को स्वीकार हैं। वे प्रत्येक जाति, कुल और व्यक्ति की समानता को स्वीकार करते हुए उद्योग और बुद्धि की क्षमता की विभिन्नता को स्वीकार करते हैं और चाहते हैं कि क्षमता, कर्तव्यपरायणता और सद्व्यवहार ही जनविश्वास तथा पदों पर नियुक्तियों का आधार हो। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) और उसे जिस किसी से ग्रहण किया जा सकता है।

हमारे पूर्वजों ने हमारे सामने "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श प्रस्तुत किया है। इस आदर्श को जीवन में आत्मसात् करना हमारा कर्तव्य है। यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों, प्रजातियों तथा जातियों में विभाजित मानव समाज में भ्रातृत्व का अनुभव कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम सम्पूर्ण हिन्दू समाज तथा भारतीय समाज में बन्धुत्व और आत्मीयता का अनुभव न करें। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है कि देशबन्धुत्व को आत्मसात् किये बिना विश्वबन्धुत्व की उपलब्धि असम्भव है। देशबन्धुत्व और समता पर आश्रित राष्ट्रीयता ही भारतीय गणतन्त्र को संघबद्ध तथा सबल कर सकती है, विभिन्न जातियों, जनजातियों और सम्प्रदायों से सम्बद्ध सज्जनों में सौजन्य की वृद्धि कर सकती है तथा विश्वबन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

समता पर आधृत संस्कृति ही श्रेष्ठ मानी जा सकती है। तभी विश्वबन्धुत्व, मानवता और विश्वकल्याण की भावना को बढ़ावा मिल सकता है। निराग्रही समीक्षा तथा सर्जनात्मक समन्वय द्वारा ही यह सम्भव है। विचारवैचित्र्य से घबराने की कोई बात नहीं है। विचार-स्वातन्त्र्य चिरकाल से भारतीय संस्कृति का सद्गुण रहा है। भारतीय संस्कृति के विकास में विचार-स्वातन्त्र्य और विचार-विमर्श का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और इनके द्वारा ही इस समय भी जड़ता और संकीर्णता का परित्याग तथा सर्जनात्मक चिन्तन हमारे लिये सम्भव हो सकते हैं।

राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और समाजवाद इस युग की मुख्य मान्यताएँ हैं। इन्हें अपनाना, भारतीय संस्कृति में इनका समावेश करना नितान्त आवश्यक है। इस तरह समाजवाद भारतीय संस्कृति के दीर्घकालीन, सर्वजनीन, सजीव मूल्यों तथा तथ्यों का पाश्चात्य संस्कृति के सजीव, प्रगतिशील तत्त्वों तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों से समन्वय करता है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में समाजवाद पर आस्था रखने वाले विचारक एक ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं, जिसका मूल प्राचीन सभ्यता में होगा, जिसका रूप-रंग देशी होगा, जिसमें पुरातन सभ्यता के उत्कृष्ट अंश सुरक्षित रहेंगे और साथ-साथ उसमें ऐसे नवीन अंशों का भी समावेश होगा, जो आज जगत् में प्रगतिशील हैं और संसार के सामने एक नवीन आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं। तभी उस विश्व-संस्कृति का निर्माण हो सकेगा, जिसमें कि सभी मनुष्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दासता से मुक्त हों, सभी को मौलिक मानवाधिकार प्राप्त हों तथा सबको स्वतन्त्रता और सम्मान के साथ अपने आर्थिक अभ्युदय और सांस्कृतिक उन्नति की सुविधा प्राप्त हो, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को बराबर की जनतान्त्रिक आजादी हासिल हो, सब अन्तरराष्ट्रीय झगड़े शान्तिमय ढंग से निपटाये जा सकें और सब राष्ट्र पारस्परिक सहयोग के जरिये मानव-कल्याण में वृद्धि करें।

इतना लिखने के बाद अपनी प्रतिक्रिया हमने इस प्रकार व्यक्त की थी—

यह खेद की बात है कि भारतीय समाजवादी आन्दोलन आचार्य नरेन्द्रदेव सरीखे मानवतावादी मनीषी के उक्त विचारों का अनुवर्तन न कर सका। उनके कुछ अन्तरंग साथियों ने ही उनका अन्तिम जीवन दूभर बना दिया था। उनके कुछ दूसरे साथियों ने राजनीति से संन्यास ले लिया। किन्तु आचार्य जी अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक इन सब विपरीत परिस्थितियों से जूझते रहे और अपने सिद्धान्तों के मूल्य पर कभी भी किसी के सामने

आत्मसमर्पण नहीं किया। आज उनके कुछ अनुयायी तान्त्रिकों और बाबाओं की देहली ढोकने लगे हैं और कुछ धम्म की शरण में चले गये हैं। महात्मा गांधी और आचार्य नरेन्द्रदेव के द्वारा स्थापित मूल्यों का अनुवर्तन न कर पाने के कारण ही भारतीय गणतन्त्र ने दलतन्त्र का रूप ले लिया है। आज भारतीय राजनीतिज्ञों की देश की अपेक्षा अपने दल के प्रति अधिक गहरी भक्ति है। दूसरी तरफ तान्त्रिक धर्म की रहस्यवादी मान्यताओं के कारण धर्म और मोक्ष के क्षेत्र में भी जब छद्मवेश में अर्थ और काम ने प्रवेश पा लिया, तो सामान्य नागरिक के सामने नैतिकता का प्रश्न ही कहा रह जाता है। आभिजात्यवाद से वह दबा हुआ है। "समरथ को नहीं दोष गुसाई" की घुट्टी उसे पिलाई गई है। वह उत्पीडक को दोष न देकर अपने ही पूर्व जन्म के कृत्यों को कोसता है। भगवद्गीता में वर्णित आसुरी सम्पत्ति का सर्वत्र साम्राज्य फैला हुआ है। विश्वविद्यालय जैसी पवित्र संस्था भी इनसे अछूती नहीं है। देश में असंख्य छोटे-मोटे तानाशाह हैं। उनके आतंक से आस-पास का वातावरण भय और आशंका से भरा रहता है। हमने "शोचनीया भारतीया नैतिकता" शीर्षक संस्कृत निबन्ध में भारतीय जनमानस की इस कमजोरी पर प्रकाश डाला था कि उसकी अन्याय के प्रतीकार की शक्ति अत्यन्त प्रसुप्त है। इसी का यह परिणाम है कि दुर्योधन के औद्धत्य जैसी सभापर्व की घटनाओं को हम अनुशासन पर्व मान बैठते हैं।

हम आचार्य जी की संस्कृति की उक्त व्याख्या से पूरी तरह से सहमत हैं और १२ वर्ष बीत जाने के बाद भी अपनी उक्त प्रतिक्रिया पर भी कायम हैं। समाजवादी संस्कृति के सामने वर्तमान चुनौतियों को हम इस प्रकार वर्गीकृत करना चाहते हैं।

१. तुष्टीकरण

आज बहुसंख्यकों को उपदेश देने से वे भी बाज नहीं आते, जिनकी जड़ें भारत में हैं ही नहीं। आचार्य नरेन्द्रदेव, सन्त बिनोवा भावे और लोकनायक जयप्रकाश की सांस्कृतिक विरासत से दूर युवातुर्कों की देन है—शहाबुद्दीन। अंग्रेजों की फूट डालो नीति और कांग्रेसियों की तुष्टीकरण नीति ने देश का विभाजन करा दिया। कांग्रेस की तुष्टीकरण नीति और अल्पसंख्यकों की हठ-वादिता के कारण आई बहुसंख्यकों की हठवादिता का आज सही निदान नहीं हो पा रहा है। शाहबानो की घटना हो या सलमान रश्दी की किताब, अल्पसंख्यकों को किसी भी मूल्य पर खुश करने की नीति बरकरार है। नेताओं को भेड़ों की जो दरकार है।

मन्दिरों को तोड़कर बनाई गई मस्जिदें मध्यकालीन मानव की बर्बरता की निशानियाँ हैं। इस बर्बरता ने केवल बिहार के ही नहीं, मिस्र और मेसोपोटामिया के समृद्ध पुस्तकालयों को भी आग में झोंक दिया था। यह समृद्ध साहित्य तो अब वापस आ नहीं सकता, किन्तु अब भी किसी न किसी रूप में चली आ रही इस मध्यकालीन बर्बरता को दूर करने का एक ही उपाय है कि इसकी निशानियों को, चाहे वह एक हो या अनेक, दूर कर दिया जाय। सौभाग्य से हमारे बीच नकवी जैसे समझदार आदमी हैं। बोलने की स्वतन्त्रता पर रोक लगाने की माँग किस ओर इंगित करती है।

गांधी की नकल पर कुछ कांग्रेसी नेता पाकिस्तान और कई एक लैण्डों को बना देने के बाद अब क्या करना चाहते हैं? बहुसंख्यकों की एक ही कमजोरी है, उनकी छुआछूत का दृष्टि, ऊँच-नीच की भावना। यह दृष्टि, यह भावना जब तक दूर नहीं होगी, पेट्रो-डालर और अमेरिकन डालर को देश में आने से हम रोक नहीं सकेंगे और जब तक वह रुकता नहीं है, हम एकताबद्ध भी न हो सकेंगे। गणतन्त्र किस तरह से विनष्ट हो जाते हैं, एक प्राचीन श्लोक में यह वर्णित है। इसमें बताया गया है कि अपने को ही सबसे बढ़कर मानने वाले ढेर सारे नेता जहाँ अपना-अपना महत्त्व बढ़ाने में लग जाते हैं, वह समुदाय अवश्य ही नष्ट हो जाता है। राजनीतिक दल बहुसंख्यकों को 'उपदेश' देने की प्रवृत्ति को छोड़कर यदि एकताबद्ध हो सकें, तो अच्छा हो। भारतीय संस्कृति आज की दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ संस्कृतियों में से एक है और यहाँ की अधिसंख्य जनता इन 'उपदेशक' नेताओं से अधिक सुसंस्कृत है।

२. संस्कृत की उपेक्षा

दुनियाँ की सबसे पुरानी भाषा संस्कृत और सबसे नई जुबान उर्दू को अंग्रेजी शासक एक ही तराजू के दो पलड़ों पर रख बन्दरबांट किया करते थे। उन्होंने घोषित कर दिया था कि संस्कृत पण्डितों की भाषा और उर्दू मौलबियों की जुबान है। जाने-अनजाने आज भी पण्डित, मौलवी और भारतीय प्रशासन उसी ढर्रे पर चल रहे हैं। दुनियां का प्राचीनतम साहित्य संस्कृत में सुरक्षित है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसने नई विश्वयात्रा आरम्भ की और आज पूरे विश्व में इसने अपना संमानित स्थान बना लिया है।

भाषाविज्ञान, देवतावाद, मानववंशवाद जैसे नये ज्ञान-विज्ञान को पनपाने में इसने अहम भूमिका अदा की है। दुनियां का ऐसा कोई देश नहीं होगा, जहाँ संस्कृत न पढ़ाई जाती हो अथवा उस पर अनुसन्धान न हो रहा हो।

खोमैनी का ईरान भी उनमें से एक है। प्राचीन ईरान के जरथुष्ट्र धर्म के आदि ग्रन्थ जेन्दावेस्ता की भाषा के थोड़े से हरफों को बदल देने पर वह ऋग्वेद की भाषा बन जाती है। अपने अनुयायियों के साथ इस धर्म-ग्रन्थ को भारत में शरण लेनी पड़ी और शताब्दियों से यह दूध में चीनी की मिठास घोलता हुआ यहाँ शान्ति से रह रहा है, फल-फूल रहा है। संस्कृत दुनियाँ को एकता के सूत्र में पिरोने वाली भाषा है।

इसके विपरीत उर्दू को अपनी जुबान मानने वालों ने उस देश को ही बंटवा दिया, जहाँ यह पैदा हुई थी। इसी के कारण पाकिस्तान के दो टुकड़े हो गये। आगे पाकिस्तान के कितने टुकड़े होंगे, यह भविष्य के गर्भ में है। उर्दूभाषी पाकिस्तानी मुजाहिदीन तो अपने किये पर पछता रहे होंगे, लेकिन आखीर में उर्दू को अपनी जन्मभूमि भारत में ही शरण लेनी पड़ेगी। दोष भाषा का नहीं, संस्कृति का है। वेदों को भांडों, धूर्तों और राक्षसों की रचना बताने वाले चार्वाक दर्शन के प्रवक्ता देवगुरु बृहस्पति माने जाते हैं। दूसरी वह भी संस्कृति ही है, जो अपने खिलाफ आवाज उठाने वालों के लिये मौत का फतवा जारी कर देती है। इसलाम का भाईचारे का घेरा क्या अपने तक ही सीमित नहीं है?

एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियाँ जिस भाषा को मिटा न सकीं, उस भाषा को जीवित रखने के लिये आज किसी का मुहताज होने की जरूरत नहीं है, वह अपने बलबूते और गुणवत्ता के कारण अनन्त काल तक सुरक्षित रहेगी। अपना पेट पालने के लिये कुछ लोग इसका झण्डा फहरायें, तो यह उस अमरवाणी का भद्दे मजाक के सिवाय और क्या हो सकता है? आज इन तथाकथित संस्कृत-संरक्षकों की अपेक्षा विदेशी विद्वान् अधिक मनोयोग से संस्कृत की सेवा कर रहे हैं।

३. हिन्दुत्व का दुराग्रह

'हिन्दु' शब्द हमारा अपना नहीं है। यह विदेशियों से हमें तोहफे में मिला है। किन्तु अब इससे हमें इतना मोह हो गया है कि उसे हम छोड़ना नहीं चाहते। कुछ वर्षों पहले इन पंक्तियों के लेखक ने 'हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण' शीर्षक लेख लिखा था और यह 'भारतीयकरण क्या है' इसमें भारतीयकरण को परिभाषित किया था। प्रो० बलराम मधोक को भी यह शब्द भाया था, किन्तु न जाने क्यों आज "गर्व से कहो हम हिन्दु हैं" का नारा बुलन्द होने लगा है।

संस्कृत व्याकरण में कात्यायन का एक वार्त्तिक है—"येषां च विरोधः शाश्वतिकः"। इसके उदाहरण के रूप में वहाँ 'अहिनकुलम्' और 'श्रमण-ब्राह्मणम्' जैसे शब्द दिये गये हैं। साँप और नेवले की तरह कभी श्रमण और ब्राह्मण का भी दृढ़मूल वैर रहा है, किन्तु आगम और तन्त्रशास्त्र ने इस वैरभाव को बहुत-कुछ दूर कर दिया। तन्त्र मात्र जादू-टोना, मारण-उच्चाटन तक ही सीमित रहने वाला शास्त्र नहीं है, न यह उन तान्त्रिकों का शास्त्र है, जिनके यहाँ जाकर आजकल के नेतागण नाक रगड़ते हैं और न वह तन्त्रशास्त्र है, जिसकी सिद्धियों को उपन्यास की शैली में पेश कर लोगों को भरमाया जाता है। यदि यह सब होता तो एक हजार वर्ष पहले भारत को और आज तिब्बत को पराधीनता का मुँह न देखना पड़ता। यह तो वह शास्त्र है, जिसने सिद्धों और नाथों को, आलवारों, सन्तों और गुरुओं को प्रेरणा दी; कबीर, रामानन्द, रविदास और मीरा को पैदा किया। सूफी सन्तों की प्रेरणा का स्रोत भी यही शास्त्र रहा है। यह बिना किसी भेदभाव के मानवता का ही नहीं, प्राणीमात्र का कल्याण चाहता है।

भारत में परस्परविरोधी विचारधाराओं को जोड़ने के दो तीन सफल प्रयत्न हुए हैं। उनकी अन्तिम परिणति हमें पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र के रूप में मिलती है। इसी तरह के एक और प्रयास की हमें अपेक्षा है। हिन्दु शब्द आज बौद्ध, जैन, सिख, पारसी, मुसलमान, ईसाई समुदाय को अपने में समेट पाने में असमर्थ है। आज 'श्रमणब्राह्मणम्' जैसी ही स्थिति हिन्दु-मुसलमान की हो गई है; किन्तु शैवों, वैष्णवों और भारत के अन्य अनेक सम्प्रदायों के समान हम उक्त सभी मतों को भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के रूप में मान्यता दे सकते हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म और सम्प्रदाय दोनों शब्द अतिपवित्र माने जाते हैं। आज की धर्मनिरपेक्षता ने तो भारतीय संस्कृति की जड़ें ही हिला दी हैं।

विदेशों में हम सब केवल भारतीय के रूप में पहचाने जाते हैं। पासपोर्ट में यह नहीं लिखा रहता कि वह किस धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी है। उसमें तो मात्र उसकी राष्ट्रीयता अंकित रहती है। यहाँ के सभी सम्प्रदाय जायज या नाजायज तरीकों से अपनी संख्यावृद्धि का आग्रह छोड़कर यदि शान्ति से रहना सीख लें, तो हिन्दुत्व को इस शुभ कार्य में आड़े नहीं आने देना चाहिये। भारतीयता को ही सर्वोपरि मान्यता मिलनी चाहिये।

४. धर्मनिरपेक्षता का भूत

भारतीय दर्शन और संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों को स्वीकारा गया है। इसमें धर्म का पहला स्थान है। धर्म के बिना अर्थ और काम अनियन्त्रित हो जाते हैं, जैसा कि आजकल हो रहा है। सिनेमा और टेलीविजन इसमें घी की आहुति दे रहे हैं। इन माध्यमों से समाज को सुसंस्कृत किया जा सकता है, किन्तु धर्मनिरपेक्षता हमें ऐसा नहीं करने दे रही है। स्मृतिकारों ने धर्म के लक्षण में सन्तोष, दया, क्षमा, सत्य, अस्तेय आदि उत्कृष्ट नैतिक मूल्यों का समावेश किया है। 'धर्म' शब्द 'मजहब' का वाचक न होकर उन्हीं मानवीय गुणों को अपने में समेटता है। आजकल की नैतिकता से हम इसकी कुछ मानों में तुलना कर सकते हैं, किन्तु नैतिक मूल्यों की सत्ता वर्तमान जीवन तक ही सीमित है, जब कि धर्म का सम्बन्ध इस लोक के साथ परलोक से भी है। निश्चित रूप से धर्मनिरपेक्षता समाज और व्यक्ति को उच्छृंखल बनाने के सिवाय और कुछ न कर सकेगी।

अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' के पर्याय के रूप में यह शब्द गढ़ा गया है। क्या भारतीय भाषाएँ इतनी कमजोर हो गई हैं कि एक 'सेक्युलर' शब्द के लिये 'धर्म-निरपेक्ष' जैसे दो शब्द गढ़े जाँय और ये शब्द भी ऐसे जो भारतीय संस्कृति को ही पंगु बना दें। अंग्रेजी चश्मे से भारतीय संस्कृति को देखने वालों से हम और आशा भी क्या रख सकते हैं। जहाँ तक अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' शब्द की मूल मंशा है, उसका अभिप्राय यह है कि ऐसा राज्य जो व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के परलोक सम्बन्धी विचारों में किसी तरह का दखल दिये बिना केवल उसके वर्तमान जीवन की सुख-सुविधा की चिन्ता करे। इस अभिप्राय को व्यक्त करने में 'लोकराज्य' शब्द अधिक सशक्त है।

चार्वाक दर्शन स्वर्ग, नरक, आत्मा, ईश्वर आदि की सत्ता नहीं मानता। वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को भी स्वीकार नहीं करता। आज भी न्यायालय में चश्मदीद गवाह को ही मान्यता प्राप्त है। न्यायाधीश अनुमान के सहारे कोई निर्णय नहीं कर सकता। इस दर्शन की पृष्ठभूमि में 'लोकराज्य' का अर्थ वही होगा, जो 'सेक्युलर स्टेट' से निकलता है। यह लोकराज्य वास्तव में जनता का होगा, नेताओं का नहीं। आज तो धर्म-निरपेक्षता अल्पसंख्यकों के धर्म तक सीमित है, बहुसंख्यकों के धर्म के साथ तो यह निरन्तर छेड़-छाड़ किया करती है। राष्ट्र के कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि जितना जल्दी हो सके हम इस शब्द से अपना पिण्ड छुड़ा लें और 'लोकराज्य' में पूरी भारतीय प्रजा के ऐहलौकिक कल्याण के लिये बिना किसी भेदभाव के समान नियमावली बना लें।

५. नेहरू-संस्कृति का दुष्प्रभाव

भारत को समाजवादी गणतन्त्र घोषित किया गया था, किन्तु समाजवादी भारतीय संस्कृति की रचना के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया। गांधीवादी संस्कृति की छीछालेदर तो स्वयं नेहरू ने ही कर दी थी, कम्युनिस्टों ने गांधीवाद की 'शवयात्रा' ही निकाल दी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के इन अनुयायियों ने सर्वत्र सौहार्द के स्थान पर विद्वेष को प्रश्रय दिया। पश्चिम की दो विपरीत संस्कृतियों का चश्मा चढ़ाये लोगों से ओर आशा भी क्या की जा सकती है? इस सन्दर्भ में कुछ ठोस कार्य तब होता, जब नेहरू अपने मित्र आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रति अधिक सहिष्णु और ईमानदार रहते, किन्तु नेहरू की महत्त्वाकांक्षा तथा मिथ्या-व्यामोह ने ऐसा होने नहीं दिया। उनके अन्तरराष्ट्रीय व्यामोह ने कश्मीर के प्रति उनकी दृष्टि को धंधला कर दिया और उनकी महत्त्वाकांक्षा तिब्बत को चीन के चंगुल में जाने से रोक न सकी। शायद उनको यह आशा थी कि माओत्सेतुंग भी चीनी यात्रियों के समान उनकी शरण में आवेगा। उनका अशोक महान् बनने का सुहावना सपना बोमदिला की ऊँचाई से गिरकर चकनाचूर हो गया।

तथाकथित धर्मनिरपेक्ष समाजवादी संस्कृति के निर्माण की तरफ से आँखें मूँद कर पं० नेहरू ने दक्षिण-पूर्व एशिया के लिये बौद्ध धर्म को, पश्चिम एशिया के लिये इसलाम को और बाकी दुनिया के लिये अधकचरी खिचड़ी संस्कृति को पेश किया। उनकी डिक्शनरी में सेक्युलर शब्द का अर्थ हिन्दु धर्म से निरपेक्ष होना था। उनके इस प्रयोग की असफलता भी चीनी और पाकिस्तानी आक्रमणों के समय उजागर हो गई थी, किन्तु आज भी हमारी परराष्ट्र नीति उसी ढर्रे पर चल रही है। आभिजात्यवाद की मनोवृत्ति से घिरे हुए हमने पूरे साल नेहरू का गुणगान कर लिया है। भारतीय राजनीति में सबसे पहले असामाजिक तत्त्वों को प्रवेश दिलाने वाले आज उसके खिलाफ बोल कर अपने चरण छूने वालों की संख्या में वृद्धि करना चाहते हैं, किन्तु नेहरू की यह तीसरी सबसे बड़ी गलती थी कि आचार्य नरेन्द्रदेव सरीखे भद्र पुरुष को हराने के लिये धर्म की आड़ ही नहीं ली गई, सारे नैतिक मूल्यों को भी ताक पर रख दिया गया। आभिजात्यवाद से दबे कुछ लोग इस दोष को दूसरों के मत्थे मढ़ना चाहते हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति बुरा काम करने वाले को ही नहीं, उनको प्रेरित करने वालों अथवा उनकी ओर पीठ फेर लेने वालों को भी दोषी मानती है। पं० नेहरू के प्रधानमन्त्रित्व काल में यह घटना हुई और तब से भारतीय राजनीति में भद्र पुरुषों का प्रवेश वर्जित होता चला गया।

भौतिक दृष्टि से उन्नत हो जाने पर भी देश दिन-प्रतिदिन नैतिक पतन की ओर तेजी से बढ़ रहा है। गांधीवाद और देश की प्राचीन संस्कृति को नेस्तनाबूद करने को उतारू कुछ पार्टियाँ आजकल जो कुछ बढ़-चढ़ कर बोल रही हैं, उनका अन्धानुकरण करने वाले कुछ राजनीतिक दल कहीं एक जगह ठहर कर सोचें कि क्या अब भी समाजवादी संस्कृति के निर्माण का समय नहीं आया है? यदि वे सोचने का प्रयत्न करेंगे तो उनको दिखाई देगा कि आचार्य नरेन्द्रदेव एक टिमटिमाता प्रकाश हमारे बीच छोड़ गये हैं। हम इस घोर अनैतिकता के अन्धकार से घिरे इस दुष्काल में उसी की सहायता से सही रास्ता निकाल सकते हैं ॥

•

भारतीय संस्कृति : साधक-बाधक तत्त्व

भारतीय संस्कृति का स्वरूप क्या है? इसकी अपेक्षा हमारे सामने अहम सवाल यह है कि इसका स्वरूप कैसा होना चाहिये? भारतीय संस्कृति के विशाल कालव्यापी स्वरूप के प्रखर व्याख्याता डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति की सात धाराओं की चर्चा की थी। उनके नाम वहाँ इस प्रकार दिये गये हैं—१. वैदिक, २. औपनिषद, ३. जैन, ४. बौद्ध, ५. पौराणिक, ६. सन्तधारा और ७. इसलाम-ईसाइयत आदि। प्रथम दो धाराओं पर उनके विचार ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे पौराणिक धारा पर लिख रहे थे। हमारा दुर्भाग्य है कि उनके ये विचार हमारे सामने पुस्तक के रूप में न आ सके। उनके इस अध्ययन का हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अभिनव भारतीय संस्कृति के निर्माण में इन सभी धाराओं का समन्वय उन्हें अभीष्ट था।

भारत में दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ एक साथ पनपती रही हैं। प्रथम रूढिवादी विचारधारा के अनुसार वेद के सिवाय बाकी सारा वाङ्मय अप्रामाणिक माना गया है जब कि दूसरी उदारवादी विचारधारा के अनुसार वेद के साथ सांख्य, योग, पांचरात्र (वैष्णव) और पाशुपत (शैव) मतों

का ही नहीं, बौद्ध और जैन दर्शनों का भी समावेश छः दर्शनों में किया गया है। आगम, तन्त्रशास्त्र और पुराण साहित्य का विकास इसी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। इसीलिये सन्त तुलसीदास ने अपने महनीय ग्रन्थ रामचरितमानस को नानापुराणनिगमागम-संमत माना है। भारतीय संस्कृति की सन्तधारा में हमें इन सब धर्मों और मत-मतान्तरों का समन्वित स्वरूप देखने को मिलता है।

किन्तु इससे हमें यह समझने की गलती नहीं कर बैठना चाहिये कि पूरे भारतीय समाज को यह स्वरूप मान्य हो गया था। वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। रामायण, महाभारत आदि में इसको नकारा नहीं गया है। अन्यथा सिक्ख सम्प्रदाय के आविर्भाव की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। श्रमण और ब्राह्मण के विद्वेष को हवा देने वालों की आज भी कोई कमी नहीं है। विगत १००-१५० वर्षों का सुधारवादी आन्दोलन भी वैदिक संस्कृति के संकोर्ण उपादानों का पोषक रहा है। कुछ अपवाद अवश्य हो सकते हैं। शैव और वैष्णव धर्म के समान जैन और बौद्ध धर्म के साथ हम पूरी तरह से समरस नहीं हो सके हैं। अब तो सिक्ख धर्म को भी अलग से मान्यता मिल चुकी है। इस पृष्ठभूमि में जब हम इसलाम और ईसाई धर्म की बात सोचते हैं, तो हमारी आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है कि क्या आज की परिस्थिति में हम एक अखण्ड भारतीय संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं ?

सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। इस विशेषता का विकास यदि हम पूरी ईमानदारी के साथ सारी भारतीय प्रजा में कर सकें, तो यह संभव है, ऐसा हमारा सोच है। धर्म की भिन्नता हमारे लिये कोई समस्या नहीं है, समस्या है विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में व्याप्त आपसी घृणा। इस घृणा को हटाने के लिये हमें भारतीय संस्कृति के बाधक और साधक तत्त्वों की समीक्षा करनी होगी। हमारी समझ में बाधक तत्त्वों की समीक्षा के बाद साधक तत्त्वों को उपस्थापित करना ठीक रहेगा।

बाधक तत्त्व

१. बौद्ध और जैन परम्परा पर उपनिषदों एवं सांख्य-योग दर्शन के तथा भागवतों और पाशुपतों की प्राचीन परम्परा के प्रभाव का तथा महाभारत और पुराण साहित्य पर शैव और वैष्णव मतों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन मतों के प्रभाव का अभी तक सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। बौद्ध मत की

और तान्त्रिक दर्शन की पूरी उपेक्षा भारतीय संस्कृति का पहला बाधक तत्त्व है।

२. धर्मान्तरण और धार्मिक हठवादिता को प्रोत्साहन देना संस्कृति का दूसरा बाधक तत्त्व है। प्रो० मुकुटबिहारी लाल ने किसी मुसलिम राजनेता को उद्धृत करते हुए लिखा है कि मुट्ठी भर पारसी सैकड़ों वर्षों से यहाँ शान्ति से रह रहे हैं। उनके सामने कोई खतरा नहीं आया, तो करोड़ों की संख्या में फैले मुसलमानों के सामने खतरा कहाँ से आने वाला है? यह सोचने की बात है। वास्तव में इसलाम के सामने कोई खतरा नहीं है, किन्तु इसलाम धर्म की मध्यकालीन सर्वक्षार प्रवृत्ति उसका पिण्ड नहीं छोड़ रही है। वह अब भी पूरे संसार पर छा जाने का सपना देख रही है। इस प्रवृत्ति के रहते एक भारतीय संस्कृति केवल स्वप्नविलास है।

३. यूरोप अपने तो अनेक टुकड़ों में बँटा ही है, यहाँ भी उसने आर्य-द्रविड़ सरीखे अनेक विवादों को जन्म देकर अलगाव के बीच बो दिये हैं। रही-सही कमी की पूर्ति पूरे भारत में फैली ईसाई मिशनरियाँ कर रही हैं। प्राचीन भारत की बौद्ध भिक्षुओं की निःस्वार्थ सेवा-भावना से ये कोसों दूर हैं। कम्युनिस्टों का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्गविद्वेष और हिंसा की आग को हवा दे रहा है। कम्यूनिज्म से प्रभावित भारतीय रचनाकार प्राचीन भारतीय साहित्य से पिण्ड छुड़ाकर यूरोप और अमेरिका की दौड़ में शामिल हो गये हैं। हिन्दीभाषी क्षेत्र इनमें सबसे आगे है। कबीर इनकी दृष्टि में स्वयं-स्फूर्त प्रतिभा है। इस तरह का निराधार अध्ययन संस्कृति का तीसरा बाधक तत्त्व है।

४. बाबरी मस्जिद-रामजन्म भूमि विवाद ऐसे साहित्यकारों की दृष्टि में धार्मिक प्रश्न है और धर्म को तो कम्यूनिस्ट अफीम मानते ही हैं। वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न न होकर नैतिक प्रश्न है। अन्धी धार्मिकता के नाम पर किये गये इस प्रकार के अतिक्रमणों को जब तक हटाया नहीं जायगा, तब तक हठवादिता को ही प्रश्रय मिलता जायगा और बची-खुची सहिष्णुता और समन्वय के स्रोत भी सूखते चले जायँगे। इसलाम की हठवादिता को घटाने तथा उसके भाई-चारे के क्षेत्र को बढाने का एक मात्र उपाय है—इन सब पुराने अतिक्रमणों को समाप्त करना। इसलाम का भाई-चारा क्या अपने घरौंदे तक ही सीमित रहेगा? इस तरह की समस्याओं का समाधान न हो पाना, संस्कृति का चौथा बाधक तत्त्व है। वोट बटोरने वाली क्षुद्र राजनीति इस शुभ कार्य को नहीं होने दे रही है।

इन बाधक तत्त्वों से निजात पाने के लिये हमें ऐसे साधक तत्त्वों की खोज करनी होगी, जो पूरे भारतीय समाज को एक सुदृढ आधार दे सकें, उसे एकता के धागे में पिरो सकें।

साधक तत्त्व

१. हम देखते हैं कि संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं के क्षेत्र में पूरा राष्ट्र एकरस हो चुका है। जब बहादुरशाह 'जफर' कहता है कि मुझे दफन होने के लिये दो गज जमीन अपने वतन में न मिली, तो पूरा राष्ट्र अपने बहते हुए आँसुओं को रोक नहीं पाता। अकबर महान् और दाराशिकोह के दिखाये मार्ग से हम इस तरह की एकता की ओर आगे डग भर सकते हैं।

२. पूरे भारत में फैले पवित्र तीर्थों, नदियों, पर्वतों और सुन्दरतम प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर इस महान् देश के साथ हम पूरी तन्मयता के साथ अपनी ममता को अनायास मोड़ सकते हैं। आधुनिक इतिहास के समान हम यहाँ के मध्यकालीन और प्राचीन इतिहास के साथ भी अपना नाता जोड़ सकते हैं। वैदिक वाङ्मय और संस्कृत भाषा आज प्राचीनतम साहित्य और भाषा के रूप में पूरे विश्व में मान्य हो चुके हैं। सभी भारतीय भाषाओं में आज भी संस्कृत भाषा सर्वाधिक मान्य और व्यवहार्य है। इसका आदर करना तो हम सीख ही सकते हैं।

३. गीता कहती है कि सभी महान् विभूतियाँ और तेजस्वी व्यक्तित्व भगवान् के ही अंश हैं। इस संसार के सभी धर्म-प्रवर्तकों, आचार्यों और अवतारों के प्रति हम अपना आदरभाव प्रकट कर सकते हैं।

४. कुछ पूर्वाग्रहों को छोड़कर यदि हम पर्वों को मनावें, झगड़ा करने की मंशा के बिना उत्सवों का आयोजन करें, तो इन अवसरों पर कटुता और हिंसा का वातावरण स्वतः धीरे-धीरे समाप्त हो सकता है। मस्जिदों के पास बाजे बजाना, कुर्बानी के लिये गाय को चुनना, एक-दूसरे के खिलाफ नारेबाजी करना जैसे दुराग्रहों को हम अनायास छोड़ सकते हैं।

५. यहाँ रह रहे समुदायों में परस्पर के प्रति कुछ निराधार अथवा साधार आशंकाएँ घर करके बैठी हुई हैं। पाकिस्तान के बनने से वे और गहरा गई हैं। पाकिस्तान के और पाकिस्तानी मनोवृत्ति के रहते हुए भी हम इन आशंकाओं के निवारण का रास्ता खोज सकें, तो अवश्य ही एक भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकता है॥

अपने मुसलमान भाइयों से

उत्तरप्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री मुलायमसिंह यादव साहब फरमाते हैं कि भारतीय मुसलमान डरे हुए हैं। वे डरे हुए हैं, यह इससे साबित होता है कि वे हथियारों की तलाश में हैं। बड़ा विचित्र तर्क है। भला ये क्यों डरे हुए हैं? इसका भी खुलासा होना चाहिये था। मुट्ठी भर पारसी आज से डेढ हजार वर्ष पहले इसलाम से प्रताड़ित होकर भारत में आये थे और दूध में चीनी की तरह घुलमिल कर यहाँ रह रहे हैं। टाटा और भाभा जैसी विभूतियां उनकी देन हैं। मुट्ठी भर पारसी यहाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रख कर भी भारतीयता से पूरी तरह से ओतप्रोत हैं। इसके विपरीत इस बीसवीं शताब्दी के अन्त में भी पूरी दुनिया को इसलाम के झण्डे के नीचे बटोरने का सपना देखा जा रहा है। उसी के तहत "हँस के लिया है पाकिस्तान, लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान" जैसा नारा ईजाद किया गया है। हथियारों की तलाश इस पवित्र कार्य को पूरा करने के लिये है, या यह डरे हुए आदमी की बौखलाहट है, यह सोचने की बात है।

भाइयों! सपने में टहलना छोड़ो और राजनीतिज्ञों के जाल में फंसने से अपने को बचाओ। भारतीय संस्कृति की उदारता को अपने में उतारने का प्रयत्न करो। सभी धर्मों और विचारों के प्रति सहिष्णुता इसकी सबसे बड़ी देन है। एक तरफ यह गुरु को भगवान् से भी बढ़ कर मानती है, तो दूसरी तरफ मनुष्य की तर्क-शक्ति को, मानव-प्रतिभा को भी नकारती नहीं है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि एक हजार वर्ष तक साथ-साथ रहकर भी इसलाम ने भारतीय सहिष्णुता को स्वीकार नहीं किया, उलटे उसने अन्य समाजों में भी असहिष्णुता का जहर घोल दिया है। अन्यथा सलमान रश्दी की किताब पर प्रतिबन्ध लगाने में यह देश अगुआई न करता। यह कौन नहीं जानता कि इसलाम की मध्यकालीन बर्बरता ने अनेक देशों की संस्कृतियों को बर्बाद किया है। इसको कौन नकार सकता है कि मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें बनाई गई हैं। गुजरात के राजा मूलराज के बुलावे पर उत्तरभारत से गये एक हजार विद्वानों ने सिद्धपुर में रुद्र महालय की स्थापना की थी। आज इस मन्दिर के दो कोनों पर एक-एक हाथ की मीनार बनी दिखाई पड़ती है। आपको भयमुक्त करने का रास्ता राजनीतिज्ञों के पास नहीं है, वह तो स्वयं

आपके पास ही है। कस्तूरीमृग खुशबू की खोज में भटकता रहता है। वह है अपने में निर्णय करने की स्वतन्त्र शक्ति। भारतीय बहुसंख्यक समाज अपने धर्माचार्यों की बात सुनता है, किन्तु वह वोट अपने मनचाहे व्यक्ति को ही देता है, इसके लिये किसी के फतवे की जरूरत नहीं पड़ती। वोट देने की यह स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति ही आपको भयमुक्त कर सकती है। इस स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का ही सहारा लेकर भारतीय मुसलमान भाइयों को इसलाम के नाम पर पूर्व में किये गये अतिक्रमणों से अपने को मुक्त कर लेना चाहिये। भयमुक्त होने का यही सही रास्ता है। भगवान् बुद्ध ने धम्मपद में कहा है कि बैर से बैर कभी दूर नहीं होता। भाइयों! स्वतन्त्र रूप से आप सोचें कि आपको भयमुक्त करने का नारा देने वाले ये राजनीतिज्ञ कहीं आपको गहरी अंधेरी खंदक में तो नहीं ढकेलने जा रहे हैं? खोमेनी और सद्दाम जैसे सिरफिरों को सही रास्ते पर लाने की जिम्मेदारी खुदा ने भारतीय मुसलमानों के कन्धों पर रख छोड़ी है। क्या इससे आप लोग भागेंगे॥

•

एक राष्ट्र एक संस्कृति एक भाषा

धर्म और संस्कृति के आधार पर भारत का और फिर भाषा के आधार पर पाकिस्तान का विभाजन हो जाने के बाद भी भारत में एक संस्कृति और एक भाषा के विषय में सोचने को कोई तैयार नहीं हो रहा है। भारतीय जनता पार्टी दबी जबान से एक संस्कृति की चर्चा अवश्य करती है, किन्तु भाषा के विषय में वह भी चुनावी माहौल के इर्द-गिर्द ही घूम रही है। यह देश एक हजार वर्ष पहले की अपनी चिन्तनधारा से अभी भी जुड़ नहीं पा रहा है और भारतीय संस्कृति पर अरब और पाश्चात्य देशों से हो रहे हमलों से बेखबर है। हमारे ऊपर नेहरू संस्कृति का जो नशा चढ़ा हुआ है और राम भक्तों को हिन्दू आतंकवादी बताने वाला ब्रिटिश प्रचार तन्त्र उस नशे को न उतरने देने के लिये जी-जान से जुटा हुआ है। भारतीय पत्रकारिता भी इसके चंगुल से अपने को बचा नहीं सकी है।

भारतीय संस्कृति में शब्द की अपार महिमा गाई गई है। भूः, भुवः, और स्वः शब्द से ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की सृष्टि हुई, ऐसी मान्यता उपनिषदों की है। हमारे कम्यूनिस्ट भाई तो यह भी नहीं जानते होंगे कि यह उपनिषद् क्या बला है ? उसके विपरीत पूरा चिन्तनशील विश्व आज भी यह मानता है कि उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान मानवीय उत्कृष्ट विचारों का अद्भुत खजाना है। करुणा रस को उत्कृष्टतम कोटि में पहुँचा देने वाले महाकवि भवभूति का इस प्रसंग में कहना है कि सामान्य मनुष्य की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु वही अर्थ ऋषियों-मुनियों की वाणी का अनुगमन करता है, अर्थात् जैसा ये लोग कहते हैं, वैसा ही बाद में घटित हो जाता है। शब्द की इस महिमा के प्रसंग में आजकल के धर्मनिरपेक्ष शब्द को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

न मालूम किस बुरी घड़ी में 'सेक्युलर' शब्द का यह असांस्कृतिक अनुवाद किया गया, जिसने भारतीय संस्कृति की जड़ों में मट्ठा पिलाना शुरू कर दिया। चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों की व्यवस्था केवल भारतीय प्रजा के लिये ही नहीं, पूरे विश्व में सुख और शान्ति की स्थापना के लिये उपयोगी है, इस बात को पूरे आत्मविश्वास और निर्भीकता के साथ प्रचारित किया जाना था, किन्तु एक हजार वर्ष की परतन्त्रता और बाह्य संस्कृतियों की चकाचौंध के कारण भारतीय राजनीतिज्ञों में हीनभावना पूरी तरह से पैठ चुकी है और उन्होंने चार पुरुषार्थों में प्रथम धर्म को ही देश से निकाल बाहर करने में सारी ताकत लगा दी है तथा देश को अर्थ की अन्धी दौड़ में फँसा दिया है।

धर्म शब्द भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार आधुनिक सारे नैतिक गुणों का एक पुंजीभूत स्वरूप है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष का अर्थ होता है नैतिकता विहीन समाज, अर्थ का दास समाज। यह 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का ही प्रभाव है कि इस शब्द की दुहाई देने वाले राजनीतिज्ञ नैतिकताविहीन होते चले जा रहे हैं। राष्ट्र की इनको चिन्ता नहीं है, सत्ता में आने के साथ इनको यह चिन्ता सताने लगती है कि यह कुर्सी हमारे ही पास किस तरह से बनी रहे। हमने अभी-अभी इस तरह की दो राजनीतिक पार्टियों को देखा है। अपनी पूरी जोर-जबर्दस्ती और अहंमन्यता के बावजूद अब ये सत्ताच्युत कर दी गई हैं। किन्तु इतने मात्र से भारत राष्ट्र की समस्याओं का तब तक कोई समाधान नहीं हो सकता, जब तक कि इस राष्ट्र को एक संस्कृति और एक भाषा के ठोस धरातल पर खड़ा नहीं किया जाता।

इधर कुछ राजनीतिक दल विकृत धर्मनिरपेक्षता को हटाने की बात करने लगे हैं, किन्तु यह सोचने की बात है कि धर्मनिरपेक्षता तो सदा विकृत ही होती है, वह अविकृत कभी हो ही नहीं सकती। इस देश का जब तक इस शब्द से पिण्ड नहीं छूटेगा, तब तक एक संस्कृति की बात करना बेकार है। यह प्रसन्नता की बात है कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में यह शब्द प्रयुक्त नहीं होता। वहाँ 'सेक्युलर' शब्द का अनुवाद 'बिन सम्प्रदाय' किया गया है। यदि हमें भारत में एक संस्कृति की स्थापना करनी है, तो सबसे पहले हमें इस 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द से पूरे प्रचारतन्त्र को मुक्त करना होगा और 'सेक्युलर' शब्द का पर्यायवाची कोई एक नया शब्द तलाशना होगा।

भारतीय राजनीतिज्ञों की धर्मनिरपेक्षता ने सारी पुरानी मान्यताओं को तहस-नहस कर दिया है। नये आधारों की खोज हम नहीं कर पाये हैं और आयातित विचारों ने भाँति-भाँति के 'स्तानों' और 'लैण्डों' के नाम से देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिये हमें आमादा कर दिया है। एक भाषा के रूप में हिन्दी को कभी की मान्यता मिल जानी चाहिये थी, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा कल्पित आर्य और द्रविड़ विवाद ने इस कार्य को अभी तक पूरा नहीं होने दिया है। मान लिया जाय कि कभी यह विवाद हुआ था, किन्तु आज उसका क्या प्रसंग है? आज की भारतीय संस्कृति के तो प्रवक्ता शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ जैसे दक्षिण के द्रविड़ाचार्य ही हैं। दक्षिण के आलवार और नायनार, वैष्णव और शैव सन्तों के द्वारा प्रचारित उस भक्ति सम्प्रदाय का ही तो सारे भारत में विस्तार हुआ है, जिसमें कि लिंग और वर्ण का भेदभाव किये बिना "हरि को भजे सो हरि को होई" जैसे उदात्त सिद्धान्त की स्थापना हो सकी और जिसने हमें रामानन्द, कबीर, रैदास, मुक्ताबाई, मीराबाई, रहीम, दादूदयाल जैसे भक्त-सन्तों को दिया है। सूफी सन्तों और गुरु नानकदेव की परम्परा भी इससे भिन्न नहीं है। मोहनदास करमचन्द गांधी को महात्मा कहा गया और डॉ० भीमराव अम्बेडकर को आधुनिक मनु का खिताब दिया गया, यह भी इसी परम्परा की देन है। तो क्यों हम पाश्चात्य विचारों से अभिभूत हो आज अपनी मातृ-भूमि को ही टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिये उतावले हो उठे हैं?

प्रश्न आस्था का है। एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की हमारी आस्था डगमगा गई है। हम अपनी अपार अनोखी सांस्कृतिक धरोहर को भुला बैठे हैं। आधुनिक प्रचारतन्त्र ने हमारी वही गति कर दी है, जो कि पंचतन्त्र के उस ब्राह्मण की हुई थी, जिसे गाय के बछड़े को बकरी का बच्चा

बता कर ठग लिया गया था। आज भी ब्राह्मणवाद का भूत दिखा कर भारतीय प्रजा को ठगा जा रहा है। आर्य और द्रविड़ विवाद तो कल्पना पर आधारित भी हो सकता है, किन्तु ब्राह्मणवाद और श्रमणवाद का सचमुच कभी यहाँ बोलबाला था। इसको हम नकार नहीं सकते कि ब्राह्मण और श्रमण (प्रधानतः बौद्ध और जैन) विचारधारा में एक लंबा संघर्ष छिड़ा, किन्तु साथ ही इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि यह संघर्ष विचारों का था और इसने अनेक उत्कृष्ट भारतीय मनीषियों को जन्म दिया। ये सभी भले ही वे ब्राह्मण हों, बौद्ध हों या जैन, हमारे पूर्व पुरुष हैं, वन्दनीय हैं, श्लाघनीय हैं और उन्हीं के कारण यह भारत देश आज भी विचारों के क्षेत्र में उदारता, सहिष्णुता और समन्वय की प्रक्रिया में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस प्रक्रिया को भी आज के राजनीतिज्ञ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अभिभूत हो नष्ट कर देना चाहते हैं और सर्वत्र संघर्ष के बीज बो देना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति की आगम और पुराण धारा ने इस तथाकथित ब्राह्मण और श्रमण के झगड़े को कभी का समाप्त कर दिया है और एक स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की है, जिसमें कि बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव आदि उस समय भारत में प्रचलित सभी सम्प्रदायों के उदात्त तत्वों का समावेश किया गया है। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन की एवं बौद्ध विज्ञानवाद की प्रत्यभिज्ञा दर्शन के रूप में नई व्याख्या प्रस्तुत की गई है और आज का सूफीवाद भी उससे प्रभावित है। यहाँ जातिवाद को, उसमें घुसी ऊँच-नीच की दृष्टि को पूरी तरह से नकार दिया गया है।

इतना सब होते हुए भी आज का प्रचारतन्त्र ब्राह्मणवाद के भूत को प्रचारित करता चला आ रहा है। भारतीय जनता पार्टी ने बाबरी मसजिद को स्थानान्तरित करने की बात कही है, गिराने की बात कभी नहीं कही। उसका हिन्दु राष्ट्र का सिद्धान्त भी केवल शब्द का झगड़ा है, उसका अभिप्राय भारत को एक राष्ट्र की मान्यता दिलाना मात्र है। इस सत्य को नकार कर इस पार्टी पर भाँति-भाँति के मिथ्या आरोप लगा कर राजनीति के क्षेत्र में इस दल को अछूत सिद्ध करने के लिये केवल विदेशी प्रचार-माध्यम और भारतीय राजनीतिज्ञ ही नहीं, भारतीय पत्रकारिता भी पूरी तरह से जुटी हुई है। स्वर्ण मन्दिर में सेना का प्रवेश श्रीमती इन्दिरा गांधी का एक सही निर्णय था और उनकी निर्मम हत्या के बाद हुए दंगे मानवीय भावनाओं का सही उबाल, किन्तु इस प्रसंग में भारतीय पत्रकारिता का बड़ा अजीब रूप सामने आया। आज भारतीय पत्रकारिता पंजाब की समस्या के लिये भारतीय

राजनीतिज्ञों को दोषी ठहराने के लिये जीजान से जुटी हुई है। काश, थोड़ा वे अपने अन्तर को भी टटोलते कि सिख भावना के आहत होने की और मरहम पट्टी की बात का प्रचार कर उन्होंने राष्ट्र की एकता को तोड़ने में कितना बड़ा योगदान किया है। भारतीय पत्र-व्यवसाय किसी न किसी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक दल या विचारधारा के हाथों बिका हुआ है। उसमें स्वतन्त्र चेतना की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस अन्धेरगर्दी में बेचारा बुद्धिजीवी किस खेत की मूली है, वह भी तो इन्हीं के हाथों की कठपुतली है।

भारत की आज की समस्याओं का समाधान करने के लिये हमें एक हजार वर्ष पहले की भारतीय चिन्तनधारा से जुड़ना होगा और कल्पित अथवा अकल्पित आर्य-द्रविड़, ब्राह्मण-श्रमण जैसे विवादों से हमें दूर रहना होगा। तभी हम आज की हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान कर पावेंगे, अन्यथा नहीं। एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की समस्या का समाधान भी हम तभी कर सकेंगे॥

•

धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानिये

धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ अंग्रेजी के 'रिलीजन' के अर्थ में किया गया है। यों हम सब जानते हैं कि भारतीय 'धर्म' शब्द में समस्त नैतिक मूल्यों का ही नहीं, धृति, क्षमा आदि उत्कृष्ट मानवीय आध्यात्मिक गुणों का भी समावेश माना जाता है। उस धर्म की चर्चा हम छोड़ देते हैं और तथाकथित राजनेताओं द्वारा बहु प्रचारित 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द में प्रयुक्त होने वाले 'धर्म' की मात्र यहाँ चर्चा करना चाहते हैं, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष ताकतों को एकजुट करने के लिये राजनीतिक नेताओं का ही नहीं, बुद्धजीवियों का भी आह्वान किया जाता है और इस तरह से अधिसंख्य भारतीय प्रजा को बरगलाने का, उसको पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न भारतीय धर्म को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी नष्ट कर देने के लिये किया जा रहा है।

हम जानते हैं कि उक्त परिभाषा के अनुसार आज भारत अनेक धर्मों का देश है। विविध धर्मों और सम्प्रदायों का अनुवर्तन करने वाली प्रजा यहाँ निवास करती है। पर प्रश्न यह है कि क्या भारत में यह स्थिति आज ही पैदा हुई है ? वस्तुतः भारत तो बहुत पहले से अनेक धर्मों और दर्शनों का देश रहा है। इनके पारस्परिक विग्रह और फिर एकजुट हो जाने के प्रयोगों को भी हमने देखा है।

ऐसा पहला महान् प्रयोग महाभारत काल में हुआ था। केवल वेदों को ही प्रमाण मान कर बाकी सभी मत-मतान्तरों (सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध जैन, पांचरात्र-पाशुपत) को अवैदिक, अत एव अप्रमाण मान लिया गया था, किन्तु महाभारतकार ने केवल वेदों को ही नहीं, उनके स्थान पर कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेद) को समान रूप से प्रमाण माना। दूसरा प्रयोग आचार्य शंकर ने किया। प्रपंचसार के माध्यम से शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित कर इन्होंने स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की और उनकी दी हुई यह व्यवस्था आज भी कायम है।

आज भारत को पुनः उसी तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। भारत में उपजे धर्मों के अतिरिक्त बाहर से आये धर्मों में आज उसी तरह की अथवा उससे भी निकृष्ट कोटि के संघर्ष की स्थिति है। क्या इनमें सहिष्णुता के आधार पर पुनः समन्वय स्थापित करने की हमारी सामर्थ्य चुक गई है ? वास्तव में ऐसा है नहीं, किन्तु ऐसा करने से पहले हमें धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानना होगा। ऊपर बताये गये सभी धर्म या सम्प्रदाय यहाँ किसी न किसी रूप में अब भी स्थित हैं और सहिष्णुता के आधार पर समन्वय की ओर अग्रसर उदार विचारधारा भी। पहली परम्परावादिनी विचारधारा को धर्म के नाम से और दूसरी उदारवादी प्रवृत्ति को हम संस्कृति के नाम से पहिचान सकते हैं। हमने आज धर्म और संस्कृति को एक मान कर संस्कृति की पहिचान को ही समाप्त कर दिया है।

ऊपर के अर्थ में धर्म एक स्थिर तत्त्व है, जब कि संस्कृति में स्थिरता (निरन्तरता) के साथ परिवर्तनशीलता भी जुड़ी हुई है। इस तत्त्व को भारतीय संस्कृति में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। महाकवि कालिदास का कहना है कि पुराना सब कुछ अच्छा ही है और नया सब कुछ खराब ही है, ये दोनों ही बातें गलत हैं। समझदारी इसमें है कि हमें पुराने और नये विचारों को कसौटी पर कसना चाहिये। भगवान् बुद्ध का कथन है कि जैसे

सुवर्ण के खरे-खोटेपन को कसौटी पर कस कर पहिचाना जाता है, उसी तरह से मेरी बातों को भी परीक्षा के उपरान्त ही ग्रहण किया जाय। भारतीय संस्कृति के इस तत्त्व को हमें हृदयंगम करना चाहिये। समाजवादी आन्दोलन के महान् चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के इसी स्वरूप को उजागर किया था। संस्कृति के इस उदात्त तत्त्व के आधार पर ही आज हम पुनः वर्तमान काल में भारत में प्रवृत्त धर्मों में सामंजस्य बिठा सकते हैं। अधिसंख्य भारतीय प्रजा इसी दृष्टिकोण का अनुवर्तन करती है।

इस पवित्र कार्य को आज के राजनेतागण नहीं होने दे रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, नेहरूवाद और लोहियावाद से प्रभावित ये राजनेता अपनी वोट-बटोरू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भारतीय संस्कृति को ही नहीं, सामान्य नैतिकता को भी तिलांजलि देकर अल्पसंख्यकों, दलितों और अधिसंख्य भारतीय प्रजा को भीषण संघर्ष की आग में झोंक देना चाहते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि सन्तों, नाथों, सिद्धों, गुरुओं और सूफियों के उपदेशों से प्रभावित भारतीय प्रजा इनके चंगुल में नहीं फसने वाली है। एक न एक दिन यह प्रबुद्ध भारतीय प्रजा ही इन पथभ्रष्ट नेताओं को सही रास्ते पर लावेगी। प्रत्येक चुनाव में यह इन तथाकथित राजनेताओं को एक झटका देती है, किन्तु "फिसल पड़े तो हर गंगा" कह कर ये फिर अपनी फन फैला कर उठ खड़े होते हैं।

लोकसभा में धर्मस्थल विधेयक को पारित कराना और अगले ही दिन दिल्ली में वोट क्लब पर दलितों के आरक्षण के नाम पर भारतीय समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को वर्गविद्वेष की आग में झोंक देने का प्रयत्न क्या धर्म-निरपेक्षता के नाम पर भारतीय संस्कृति का हनन नहीं है? क्या हम वोट बटोरने के लिये इतने अन्धे हो गये हैं कि देश के भविष्य के विषय में सोचना ही बन्द कर दिया है? इन तथाकथित नेताओं के चलते धर्मनिरपेक्षता से हमारा पिण्ड जल्दी से छूटने वाला नहीं है। एक प्रकार से यह भारतीय संस्कृति पर बाह्य संस्कृतियों का आक्रमण है। सभी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष ताकते भारतीय धर्मों को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिये एकजुट हो गई हैं। उनको भारत के बहुसंख्यकों का धर्म दुनिया भर की सबसे निकृष्ट सभ्यता का प्रतीक प्रतीत होता है।

प्राचीन भारत की वेद को प्रमाण मानने वाली और न मानने वाली दो तरह की परम्पराओं की तरह आजकल धर्मपरिवर्तन में विश्वास करने वाली और न विश्वास करने वाली दो तरह की विचारधाराएँ स्पष्ट परिलक्षित हो

रही हैं। तथाकथित भारतीय राजनीतिज्ञ बिना सोचे-समझे, केवल अपनी स्वार्थपूर्ण राजनीति को चलाने के लिये, भारतीय धर्मों और सम्प्रदायों की समालोचना करते हैं, उससे इन प्रतिगामी धर्मपरिवर्तनवादिनी ताकतों को ही बल मिलता है, जो कि प्रच्छन्न रूप से भारतीय संस्कृति को उखाड़ फेंकने में लगी हैं। फलतः मध्यकालीन बर्बरता और अर्थलोलुपता को बढाने वाले संस्कार तीव्रगति से भारतीय प्रजा में पनपने लगे हैं।

जैसी कि अभी हमने ऊपर चर्चा की, एक अल्पसंख्यक समुदाय को सन्तुष्ट करने के लिये धर्मस्थल-विधेयक को कानून का जामा पहनाने का प्रयत्न किया गया है। यह कार्य भी धर्मनिरपेक्षता के नाम पर ही किया जा रहा है, जब कि इससे बढ़ कर धर्मसापेक्ष कार्य कोई हो ही नहीं सकता। मध्यकालीन बर्बरता के अनुयायी आक्रमणकारियों ने धर्म के नाम पर असंख्य धर्मस्थलों को विकृत कर दिया। उस विकृत मानसिकता के प्रतीक इन स्थलों की सुरक्षा के नाम पर क्या हम मानवीय उदात्त गुणों की अपेक्षा धार्मिक बर्बरता को प्रश्रय नहीं दे रहे हैं? क्या हम इस प्रकार से भारतीय संस्कृति के सहिष्णुता, समन्वय जैसे मूल उपादानों पर ही कुठाराघात नहीं कर रहे हैं?

चीनी विस्तारवाद और इसलामिक हठवाद एवं बन्दर-घुड़की का एक एक न एक दिन पूरी दुनिया को सामना करना पड़ेगा। अभी-अभी हम सबने ईरान के खोमेनी और ईराक के सद्दाम की क्रूरता को, इनके हठवाद को और बन्दर-घुड़कियों को देखा-सुना है। ईरान के खोमेनी ने सलमान रश्दी की मौत का फतवा निकाल कर विश्वव्यापी विचार-स्वातन्त्र्य पर कुठाराघात ही नहीं किया, एक पूरे समुदाय को मध्यकालीन बर्बरता की ओर ढकेलने का दुष्कृत्य भी किया है। खोमेनी की मौत के बाद भी उस काले बदनाम फतवे को अभी तक वापस नहीं लिया गया है। ऐसे ही फतवे निकालने वालों की भारत में भी कोई कमी नहीं है। अपने पड़ोसी देश कुवैत पर ईराक का दुःसाहसिक हमला इसलामी हठवाद का ही एक नमूना है। उसके बहुप्रचारित फौजी दस्तों के आतंग से एक लम्बे समय तक अमेरिका जमीनी हमले से बचता रहा और जब आक्रमण हुआ, तो वे बहुप्रचारित फौजी दस्ते २-४ दिन भी नहीं टिक सकें। यह इसलामिक बन्दर-घुड़की का एक अच्छा नमूना है। अमेरिका ने तो इस बन्दर-घुड़की का सामना किया और अपने जन्म के समय से ही इसराइल भी इसका जवाब दे रहा है, किन्तु भारतीय राजनीति इसलामिक बन्दर-घुड़की से सदा आतंकित रही है। कश्मीर से पूरा हिन्दू समुदाय निकाल बाहर कर दिया गया, उनके लिये आँसू बहाने वाला एक

भी राजनीतिज्ञ दूरबीन से खोजने पर भी नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु १०-२० आतंकवादी जब एक साथ पकड़ लिये जाते हैं या मुठभेड़ में मारे जाते हैं, तो इन तथाकथित राजनेताओं की नींद हराम हो जाती है। देश की रक्षा के एक स्तम्भ के रूप में अपने को प्रस्तुत करने वाले अखबारों का शोरगुल भी पाठकों को आश्चर्य में डाले बिना नहीं रहता। धर्म के नाम पर भारतीय संस्कृति का यह पराभव देश को कहाँ ले जायगा!

आधुनिक राजनेताओं की धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा के अनुसार तो, जैसा कि ऊपर बताया गया है, यह देश सदा से ही धर्मनिरपेक्ष रहा है, किन्तु एक हजार वर्ष तक साथ-साथ रहने के उपरान्त भी हम इसलाम को धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता और समन्वय का पाठ नहीं पढ़ा सके। अभी भी हमने मानव जाति के मध्यकालीन बर्बरता के इतिहास में जी रही अधिसंख्य प्रजा को इमामों, मुल्ला-मौलवियों और बन्दर-घुड़की-प्रवीण राजनेताओं के खूनी पंजों में सौंप रखा है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि वैचारिक दृष्टि से सबसे पिछड़ी हुई भारतीय प्रजा के एक अंग को सुशिक्षित किया जाय, वैचारिक संकीर्णता से उसको बाहर निकाला जाय। यह कार्य कुछ गिने-चुने धार्मिक नेताओं और राजनीतिज्ञों के साथ बैठकर चाय पीने से नहीं होगा। इसके लिये तो हमें उस समाज में अपने प्रति विश्वास जमाना होगा।

भारतीय धर्म और संस्कृति पर आज चतुर्दिक् प्रहार किये जा रहे हैं। यह सारा बखेड़ा धर्म और संस्कृति में घोलमाल कर देने से उठ खड़ा हुआ है। भारत के सभी राज्यों में अपनी-अपनी भाषा में भक्तों, सन्तों और सूफियों का विशाल साहित्य उदारवादी भारतीय संस्कृति को उजागर करता है। रामानन्द, कबीर, रैदास, ज्ञानदेव, नानकदेव, मीराबाई, नरसी मेहता आदि उस मानवतावादी भक्तिप्रधान साहित्य के प्रतिनिधि पुरोधा हैं, किन्तु इस बात को हम भूल बैठे हैं कि इन सबकी पृष्ठभूमि में आगम, पुराण, तन्त्रशास्त्र आदि का एक विशाल उदारवादी गम्भीर साहित्य-समुद्र हिलोरें ले रहा है, जिसने वैदिक-अवैदिक मतवादों में समन्वय स्थापित करने का महनीय प्रयत्न किया था। इस प्रवृत्ति ने सभी भारतीय मतवादों और धर्मों में सहिष्णुता और समन्वय को ही जन्म नहीं दिया, पूरी मानव जाति को मुक्ति का अधिकार भी दिया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी उसी उदारवादिनी भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे। आज तो हम उन्हें भी भूल बैठे हैं।

अपनी समालोचना के बिना यह लेख अधूरा रह जायगा। तन्त्रशास्त्र के "भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" इस सिद्धान्त को तो हमने स्वीकार कर लिया

है, किन्तु वहीं जब जाति की अपेक्षा चरित्र को महत्त्व दिया जाता है, तो उसकी यह बात हमारे गले तले नहीं उतरती। २०वीं शताब्दी के रजनीश भी एक जैन आचार्य हैं और तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति भी। एक संभोग से समाधि का उपदेश देते हैं, तो दूसरे सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग मानते हैं। 'सत्' की उमास्वाति की परिभाषा (उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्') भारतीय दर्शन में अन्यत्र शायद दुर्लभ है। "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" के भगवान् बुद्ध के उपदेश के बाद भी भारतीय दर्शन और उपासना पद्धति में से हम व्यक्तिवाद को हटा नहीं पाये हैं। उनकी संसार के सारे प्राणियों को दुःख से मुक्त कराने की अभिलाषा योगी अरविन्द, परमपावन दलाई लामा, म० म० पं० गोपीनाथ कविराज जैसे कुछ गिने-चुने व्यक्तियों तक ही सिमट कर रह गई है। वैदिक कर्मकाण्ड को हम भुला चुके हैं, किन्तु तान्त्रिक कर्मकाण्ड को आग्रहपूर्वक स्मरण किया जाता है, क्योंकि उसमें हमारी इन्द्रियलोलुपता को तुष्ट करने के लिये पर्याप्त उपादान हैं। यह बात सही है कि कुछ योगिक तथा तान्त्रिक विधियों का प्रायोगिक अध्ययन अपेक्षित है, किन्तु इस प्रसंग में हमें विचार यह करना होगा कि क्या ये विधियाँ मूल रूप में आज तक सुरक्षित हैं? वैदिक विधियों के समान ही इनमें से अधिकांश लुप्त ही नहीं हुई, जो कुछ बची हैं, उनमें से भी बहुत सी अब कालातीत भी हो गई हैं।

सिद्धियों और चमत्कारों से दूर रहने के भगवान् बुद्ध के उपदेश को हम भुला बैठे हैं। योगसूत्रकार महामुनि पतंजलि ने भी सिद्धियों को समाधि के लिये अन्तराय (विघ्न) माना है। फिर ये सिद्धियां सामान्य जन की सम्पत्ति कभी नहीं बन पाई हैं। श्रद्धेय कविराज जी के गुरु के पास जो सिद्धियां थीं, वे उनमें संक्रान्त न हो सकीं। वे बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि मुझे दीक्षा देने का अधिकार नहीं मिला है। उनकी यह स्पष्टोक्ति, उनका यह निर्मल, निश्छल भाव ही हमारी समझ में भारतीय संस्कृति का निचोड़ है। उनका अखण्ड महायोग अखिल विश्व के साथ तन्मयता का, निर्विकार प्रेमभाव का उद्भावक है। हम तन्त्रशास्त्र की पद्धति से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इसको पा सकते हैं। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त और बौद्ध धाराओं में शास्त्र और गुरु की अपेक्षा प्रातिभ ज्ञान को वरीयता दी गयी है। विविध कर्मकाण्डों की अपेक्षा उसने चित्त की प्रभास्वरता (निर्मलता) पर अधिक जोर दिया है। आज हम सभी धर्मों की अच्छाइयों को भूल बैठे हैं और कुछ रूढ़िवादी तत्त्वों से चिपके हुए हैं। अखण्ड भारतीय संस्कृति ही अब हमारा उद्धार कर सकती है।

इसके लिये हमें पं० नेहरू और लोहिया का अधकचरा मार्ग छोड़ कर काशी के डॉ० भगवान्दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, प्रोफेसर मुकुटबिहारी लाल और प्रो० राजाराम शास्त्री द्वारा की गई भारतीय संस्कृति की व्याख्या का अनुसरण करना होगा। सबसे पहले हमें धर्मनिरपेक्ष शब्द से अपना पिण्ड छुड़ाना होगा। इसके स्थान पर हम सम्प्रदाय-निरपेक्ष शब्द का प्रयोग करें, तो यह अपेक्षाकृत कुछ सही होगा। दूरदर्शन ने अभी एक मान्य जैन मुनि को इस शब्द का प्रयोग करने की छूट दी। इसके लिये हम उसके शुक्रगुजार हैं। वास्तव में गुजरात और महाराष्ट्र के अखबारों में सम्प्रदाय-निरपेक्ष शब्द ही प्रयुक्त होता है, धर्मनिरपेक्ष नहीं। धर्मनिरपेक्ष शब्द का तो अब मात्र इतना अभिप्राय रह गया है कि यह सरकार भारत के सभी प्राचीन धर्मों और संस्कृति से निरपेक्ष है और मात्र कुछ आक्रमणशील धर्मों से ही इस देश का उद्धार हो सकता है, ऐसा मान बैठी है। धर्मनिरपेक्ष शब्द पर अल्पसंख्यक समुदाय का तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग क्यों फिदा है, इसका रहस्य भी इसी में छिपा है। अब तो इनकी बन्दर-घुड़कियों में आकर सरकार ने धर्मनिरपेक्ष सुरक्षा दल के संगठन का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया है। हमारा यह निश्चित मत है कि जब तक इस देश के राजनेतागण धर्म और संस्कृति के अन्तर को सही रूप से नहीं पहिचानेंगे, तब तक हम पंजाब, कश्मीर, असम और तमिलनाडु की बिलगाववादी प्रवृत्तियों का और भारत की अन्य समस्याओं का सही निदान और उनका उपचार करने में पूरी तरह से असफल होंगे॥

•

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥
(मनु० ८।९२)

यात्रा

- तिरुपति तीर्थ की तृतीय यात्रा
- द्वादश ज्योतिर्लिंग यात्रा
- काष्ठमण्डप (काठमाँडू) स्थित भगवान् पशुपतिनाथ

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥
(मनु० ८।१२)

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥
(मनु० ८।१५)

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥
(मनु० ८।१७)

तिरुपति तीर्थ की तृतीय यात्रा

तिरुपति का अर्थ है श्रीपति और तिरुमलै का अर्थ है श्रीपर्वत। श्रीपर्वत पर निवास करने वाले भगवान् श्रीपति वेंकटेश्वर के प्रसाद से ही देश और विदेश में वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय तथा अन्य अनेक शैक्षणिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठान कार्यरत हैं। इसी श्रृंखला में अब तिरुपति स्थित 'भारतीय योग एवं तत्तुल्य विज्ञान परिशोधनालय' का भी नाम जुड़ गया है।

इस संस्थान का पर्यवेक्षण करने और योग की प्रायोगिक शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित करने के लिये वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति एवं भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० सच्चिदानन्द मूर्ति ने सन् १९७८ में एक समिति गठित की थी। तेरह सदस्यीय इस समिति में दो सदस्य काशी के थे। ये थे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के योगतन्त्र विभाग के प्राध्यापक (सम्प्रति आचार्य एवं अध्यक्ष) श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी और हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संस्कृत महाविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष श्री केदारनाथ त्रिपाठी। इस समिति की बैठक ३१ मई, सन् ७९ को तिरुपति स्थित योग संस्थान के भवन में हुई। समिति के संयोजक केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति के प्रिंसिपल डॉ० एस० डी० बालसुब्रह्मण्यम् शास्त्री थे।

प्रारम्भ में संस्थान की प्रिंसिपल श्रीमती एस० आर० वाई० राज्यलक्ष्मी ने समिति के सदस्यों को संस्थान के विभिन्न कक्षों में विद्यमान विविध आधुनिकतम उपकरणों का तथा उनमें कार्यरत विशेषज्ञ विद्वानों का परिचय कराया। इन यन्त्रों की सहायता से न केवल श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया आदि को ही, अपितु सूक्ष्म मानसिक तरंगों को भी रेखांकित किया जाता है और उनके आधार पर व्यक्ति की शरीरगत और मानसिक विशेषताओं का विश्लेषण किया जाता है। संस्थान में आसन, प्राणायाम के अतिरिक्त हठयोग की षट्कर्म पद्धति का भी अभ्यास कराया जाता है तथा मन्दित बालकों की एवं अन्य जटिल मानसिक व्याधियों से ग्रस्त रोगियों की मानसिक चिकित्सा भी की जाती है।

संस्थान में प्रिंसिपल के अतिरक्त छः विद्वान् कार्यरत हैं—१. श्री के० कृष्णभट्ट, योगाचार्य, २. श्री के० कृष्ण, योगशिक्षक, ३. कुमारी डी० आदिलक्ष्मी, योगशिक्षक, ४. डॉ० जी० मोहन, मेडिकल आफीसर, ५. श्री पी० एल० मेति, असिस्टेन्ट रिसर्च आफीसर और ६. डॉ० एस० पी० दीक्षित, सीनियर

रिसर्च आफीसर। श्री दीक्षित उत्तरप्रदेश के निवासी हैं तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के योग संस्थान में कार्य कर चुके हैं। संस्थान का पुस्तकालय अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। इसको समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

संस्थान ने अभी दो प्रकार का पाठ्यक्रम बनाया है—१. एक वर्ष का डिप्लोमा कोर्स और २. तीन मास का प्रमाणपत्रीय पाठ्यक्रम। एक वर्ष के पाठ्यक्रम में पाँच पत्र सैद्धान्तिक और दो पत्र प्रायोगिक अध्ययन के लिये निर्धारित हैं। तीन मास के पाठ्यक्रम में सैद्धान्तिक और प्रायोगिक अध्ययन के लिये दो-दो पत्र हैं। प्रथम पाठ्यक्रम में योगशास्त्र के सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त पातंजलयोगसूत्र, हठयोगप्रदीपिका और घेरण्डसंहिता का समावेश किया गया है। आधुनिक शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान और जैविक रसायन-विज्ञान के साथ आयुर्वेद का सामान्य परिचय भी कराया जाता है। इसके अतिरिक्त योग और सांख्य दर्शन का तथा संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराना भी इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य है। प्रायोगिक अध्ययन में आसन, प्राणायाम और हठयोग की षट्कर्म विधि का समावेश है। अध्ययन-अध्यापन के माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा को मान्यता दी गई है।

भाषा के सम्बन्ध में दक्षिण भारत की एक विशेष स्थिति है। आन्ध्र, तमिलनाडु, केरल और कर्णाटक में क्रमशः तेलुगु, तमिल, मलयालम और कन्नड़ भाषा प्रचलित है। किसी एक भाषा का प्राधान्य होते हुए भी इन राज्यों में उक्त सभी भाषाओं को बोलने वाले बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं। किसी एक दक्षिण भारतीय भाषा को सर्वत्र मान्यता प्राप्त न होने से इन सबके परस्पर व्यवहार का माध्यम अंग्रेजी भाषा बन गई है। यही वह मनोवैज्ञानिक कारण है कि दक्षिण भारत का जनमानस अंग्रेजी भाषा के मोह को नहीं छोड़ पा रहा है।

धर्म की दृष्टि से भी दक्षिण भारत विविधता से भरा हुआ है। भगवान् वेंकटेश्वर की ही नहीं, आन्ध्रप्रदेश के विस्तृत क्षेत्र में भगवदर्चा प्रधानतः वैखानस (वैष्णवागम) पद्धति से होती है। तमिलनाडु में पांचरात्र (वैष्णवागम) और सिद्धान्त शैव सम्प्रदाय को और कर्णाटक में वीर शैव और माध्व वैष्णव-मत को अधिक मान्यता प्राप्त है। केरल में कुमार स्कन्द के अवतार सुब्रह्मण्य की उपासना का प्रचार है। इसके साथ ही ये सभी अपने को श्रौत-स्मार्त धर्म का अनुयायी मानते हैं और संस्कृत भाषा को पूर्ण आदर देते हैं। यही वह भावात्मकता है, जो कि दक्षिण भारत और उत्तर भारत के जनमानस को

एकता के सूत्र में पिरोये हुए है। संस्कृत भाषा इस एकतासूत्र की मजबूती है। यह प्रसन्नता की बात है कि संस्थान ने इस बात पर ध्यान रखा है और अपने पाठ्यक्रम में संस्कृत भाषा के सामान्य ज्ञान पर भी बल दिया है।

सात्वतसंहिता पांचरात्र आगम का प्रधान ग्रन्थ है। अलशिंग भट्ट के भाष्य के साथ इसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से हो रहा है। श्री द्विवेदी इसके संपादक हैं। इसकी एक मातृका तिरुपति के वेंकटेश्वर शोध संस्थान में भी विद्यमान है। इस यात्रा का लाभ उठाकर उन्होंने उक्त संस्थान के निदेशक डॉ० एस० शंकर नारायणन् की विशेष अनुग्रहपूर्ण व्यवस्था के कारण केवल पाँच दिन में ही उक्त भाष्य के पाठ-संकलन का कार्य पूरा कर लिया। ग्रन्थलिपि के विज्ञेषज्ञ और पांचरात्र सम्प्रदाय के परिनिष्ठित विद्वान् श्री श्रीनिवास वरदाचार्य के अथक परिश्रम से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका। केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति के प्रिंसिपल डॉ० एस० डी० बालसुब्रह्मण्यम् शास्त्री ने उक्त अवधि में निवास के लिये विद्यापीठ के अतिथिगृह में एकान्त निवास की व्यवस्था कर दी थी और विद्यापीठ में कार्यरत पांचरात्र आगम के विद्वान् श्री वी० स्वामिनाथन् को तथा वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में कार्यरत विद्वान् डॉ० एस० बी० रघुनाथाचार्य को सर्वविध सहयोग करने के लिये तत्पर किया था। एतदर्थ ये सभी साधुवाद के पात्र हैं।

आन्ध्रप्रदेश के मुख्यमन्त्री डॉ० मरि चेन्ना रेड्डी उत्तरप्रदेश में राज्यपाल का पद सुशोभित कर चुके हैं। श्री द्विवेदी ने अभी हाल में प्रकाशित अपने ग्रन्थ विज्ञानभैरव को उन्हें ही समर्पित किया था। केवल शब्दों द्वारा समर्पित यह ग्रन्थ साक्षात् उनको भेंट किया जाय, इस अभिप्राय से उन्होंने हैदराबाद की यात्रा की। उस समय मुख्यमन्त्री राष्ट्रपति महोदय के साथ आन्ध्र के समुद्र-तटीय तूफान-ग्रस्त क्षेत्रों का निरीक्षण करने चले गये थे। इस अवधि में श्री द्विवेदी को सौजन्यमूर्ति, भारतीय आतिथ्य परम्परा के मूर्तिमान् स्वरूप, आन्ध्रप्रदेश के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् श्री के० लक्ष्मण शास्त्री के साथ उनके आदर्श नगर स्थित निवास स्थान में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शास्त्री जी की ही सहायता से वे अपने संकल्प की पूर्ति भी कर सके।

भगवान् शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंग देश के विभिन्न स्थानों में अवस्थित हैं। वैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग के लिये शास्त्रों में दो प्रकार के वचन उपलब्ध हैं। एक—'परल्यां वैद्यनाथं च' और दूसरा 'वैद्यनाथं चिताभूमौ'। चिताभूमि वाला वैद्यनाथ धाम बिहार राज्य में अवस्थित है और परली वैद्यनाथ हैदराबाद के पास। हैदराबाद से परली वैद्यनाथ के लिये सीधी गाड़ी जाती है। पण्ढरपुर

से भी बस द्वारा यहाँ आया जा सकता है। परली वैद्यनाथ से अनतिदूर अवस्थित औंढा नागनाथ को भी ज्योतिर्लिंग की मान्यता प्राप्त है। पक्षान्तर से दारुकवन (द्वारकापुरी के पास) स्थित नागनाथ को यह मान्यता मिली है। पवित्र पर्व प्रदोष के दिन इन ज्योतिर्लिंगों का दर्शन प्राप्त कर कोई भी अपने को धन्य मान सकता है ॥

•

द्वादश ज्योतिर्लिंग यात्रा

शिवपुराण में द्वादश ज्योतिर्लिंगों का स्मरण इस प्रकार किया गया है—"सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्। उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कार-ममलेश्वरे ॥ केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम्। वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे ॥ वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने। सेतुबन्धे तु रामेशं घुश्मेशं च शिवालये ॥" (४।१।२१-२३)। शिवपुराण की ही इस चौथी कोटिरुद्रसंहिता के १४-३३ अध्यायों में इसी क्रम से इन ज्योतिर्लिंगों के माहात्म्य का विविध उपाख्यानों के साथ वर्णन है। 'कल्याण' के शिवांक (पृ० ५४७-५६१) में भी इसी क्रम से इनका वर्णन देखा जा सकता है। प्रस्तुत लेख में इन ज्योतिर्लिंगों का वर्णन इस क्रम से न होकर समय-समय पर की गई यात्राओं के क्रम से है।

भगवान् काशी विश्वेश्वर की अपार अनुकम्पा से मैं इन द्वादश ज्योतिर्लिंगों की यात्रा सन् १९३६ से प्रारंभ कर सन् १९८५ तक के पूरे पचास वर्षों में पूरी कर सका। औदीच्य मूलतः शैव हैं। सिद्धपुर (गुजरात) में रुद्र महालय की स्थापना के निमित्त मूलराज ने उदीची से एक सहस्र ब्राह्मणों को आहूत किया था। मध्यदेश की अन्तर्वेदि के ब्राह्मण किसी समय अतिपवित्र माने जाते थे। महान् कश्मारी विद्वान् अभिनवगुप्त का कहना है कि कश्मीर में उनके पूर्वज मध्यदेश से आये थे। चट्टोपाध्याय, गंगोपाध्याय, मुखोपाध्याय, वन्द्योपाध्याय आदि उपाधि वाले बंगाली ब्राह्मण वेणीसंहार नाटक के रचयिता नारायण भट्ट के वंशज माने जाते हैं। बंगाली राजा द्वारा ससंमान आहूत हो,

ये वहीं बस गये थे। आमर्दक मठ, कदम्बगुहा, मत्तमयूर वंश आदि के स्मार्त शैवाचार्य उज्जयिनी और भृगुकच्छ ही नहीं, कर्णाटक और तमिलनाडु में भी सादर बुलाये गये थे।

यह भ्रम हमें नहीं पालना चाहिये कि औदीच्य मूलतः उत्तर गुजरात के हैं। गुजरात की नागर, खेड़ावाल, श्रीमाली, मोढ आदि जातियां ब्राह्मण और वैश्यों में विभक्त हैं, अर्थात् नागर ब्राह्मण भी हैं और बनिया भी। औदीच्यों में ऐसा कोई विभाग नहीं है। स्पष्ट है कि औदीच्य मूलतः गुजरात के निवासी नहीं हैं। वेणीदत्त का संस्कृत में लिखा ग्रन्थ 'औदीच्यप्रकाश' भी इसी बात की पुष्टि करता है। औदीच्य ज्ञाति के इतिहास-ग्रन्थों में उत्तरप्रदेश के उन स्थानों का भी उल्लेख मिलता है, जहाँ से ये ब्राह्मण सिद्धपुर गये थे। उत्तर-प्रदेश में अब भी अनेक परिवार इस बात से परिचित हैं कि उनके पूर्वज मूलराज के यज्ञ में आहूत हो वहां गये थे। ऐसे परिवारों के साथ औदीच्यों का विवाह-संबन्ध आज भी प्रचलित है। इनके साथ गोत्र, प्रवर, अवटंक आदि की समानता भी इसी तथ्य को उजागर करती है। इस प्रकार की समानता गुजरात के अन्य ब्राह्मणों के साथ औदीच्यों की नहीं है।

स्पष्ट है कि भगवान् शंकराचार्य द्वारा प्रपंचसार में प्रतिपादित स्मार्त पंचायतन धर्म की प्रतिष्ठा और विस्तार में मध्यदेश (अन्तर्वेदि) के ब्राह्मणों का बहुत बड़ा योगदान था और औदीच्य जाति उसी की एक शाखा है। कालान्तर में भगवान् गोविन्द-माधव भी इनके उपास्य देव बने। सिद्धपुर में यह आख्यान प्रसिद्ध है कि काठियावाड़ से आये किसी व्यापारी की बैलगाड़ी में भगवान् का यह विग्रह था और सिद्धपुर में आकर यह गाड़ी अड़ गई, बहुत प्रयत्न करने पर भी वह आगे नहीं बढ़ी। फलतः उस युगल रूप की स्थापना वहीं कर दी गई। सिद्धपुर से औदीच्यों का राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश आदि में हुआ निष्क्रमण अपने नये इष्टदेव के साथ हुआ। वैष्णव आगमों की पांचरात्र शाखा में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार व्यूह-देवों के अतिरिक्त १२ व्यूहान्तर-देवों की भी आराधना की जाती है। ये बारह मासों के अधिपति माने जाते हैं। इन्हीं में गोविन्द और माधव नामक देवता भी हैं। जहाँ तक हमें स्मरण आता है, द्वारकापुरी के पास समुद्र से घिरी बेठद्वारका के मन्दिर में गोविन्द और माधव की अलग-अलग मूर्तियां स्थापित हैं। पांचरात्र वैष्णव आगम के अनुसार कभी कृष्ण और बलदेव (संकर्षण) नामक दो व्यूहों की ही उपासना होती थी। चित्तौड़गढ़ के पास की प्राचीन मध्यमिका नगरी में प्राप्त घोसुंडी शिलालेख में भी इनका उल्लेख

मिलता है। श्वेत और श्याम रूप के प्रतिनिधि इन दो स्वरूपों की गोविन्द और माधव के रूप में कैसे प्रतिष्ठा हुई, यह इतिहास की एक गंभीर पहेली है। संभव है गुजरात के किसी इतिहासज्ञ विद्वान् ने इस विषय पर कार्य किया हो। हां, जन्माष्टमी के दिन महेसाणा स्थित भगवान् गोविन्द-माधव के मन्दिर की ओर अपार भीड़ को उमड़ते हुए हमने स्वयं देखा है।

मैं द्वादश ज्योतिर्लिंगों की अपनी यात्रा का विवरण लिखने जा रहा था, किन्तु उससे भटक गया हूँ। आगे भी इस तरह के भटकाव आ सकते हैं। इसके लिये मैं पाठकों से पहले ही क्षमा मांग लेता हूँ।

१. वाराणस्यां च विश्वेशम्

सन् १९३६ में मैंने संस्कृत की प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। सन् १९३६ में ही तब श्री चन्द्रशेखर शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध अपने पितृष्वसेय (फूफेरे भाई) के साथ मैं अपने अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिये उन्हीं की प्रेरणा से काशी चला आया था। साथ में उनके भाई श्री दामोदर द्विवेदी भी थे। यहाँ आने के बाद अनेक वर्षों तक निरन्तर गंगास्नान और भगवान् विश्वेश्वर के दर्शन का लाभ प्रतिदिन मिलता रहा और इस प्रकार मेरी यह ज्योतिर्लिंग की प्रथम यात्रा अनायास ही संपन्न हो गई। भगवान् विश्वेश्वर ने मुझे अपनी शरण में ले लिया और यह उन्हीं का प्रसाद है कि काशी में रहते हुए ही मैं शेष ज्योतिर्लिंगों की यात्रा भी सकुशल पूरी कर सका।

प्रारम्भ में मेरे मन में इन यात्राओं की कोई कल्पना नहीं थी। यह संयोग की ही बात है कि अपने चचेरे भाई सुप्रसिद्ध चित्रकार और स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी श्री देवकीवल्लभ जी की ज्येष्ठ पुत्री के शुभ विवाह में संमिलित होने के लिये मैं अपनी बुआ को साथ लेने वाराणसी से लखनऊ गया। वे तो न जा सकीं, किन्तु इनके छोटे पुत्र श्री शारदाशंकर शुक्ल मेरे साथ हो लिये। ये आगम और तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् स्व० गौरीशंकर शास्त्री जी के पौत्र हैं। इनके पिता परममेधावी श्री इच्छाशंकर जी शुक्ल दुर्भाग्य से अल्पायु हो गये। इच्छाशंकर जी के छोटे भ्राता और स्व० ललिताशंकर ज़ी और विवाह के उपरान्त जयपुर के प्रसिद्ध तिवारी परिवार से जुड़े प्रो० शारदा-शंकर जी के चाचा श्री रमाशंकर शुक्ल जी से औदीच्य-संदेश परिवार पूरी तरह से परिचित है। अपनी पारिवारिक ज्ञान-विज्ञान की थाती को इन्होंने केवल बचाकर ही नहीं रखा है, इनके परिवार की शिष्य-परम्परा उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश में भी फैली हुई है और समय-समय पर

इनसे प्रेरणा पाती रहती है। मूलतः यह शुक्ल परिवार मथुरा का निवासी था, किन्तु बाद में यह लखनऊ में बस गया। स्व० पण्डित गौरीशंकर जी शुक्ल आसपास के विस्तृत क्षेत्र के राज-परिवारों के राजगुरु रहे हैं और औदीच्य महासभा के किसी अधिवेशन के अध्यक्ष भी।

उक्त विवाह के सकुशल सम्पन्न हो जाने के उपरान्त हमें वापस लखनऊ तथा काशी लौटना था। अजमेर, आगरा या दिल्ली के रास्ते से तो आना-जाना लगा ही रहता था। इस बार हमने चित्तौड़, इन्दौर, भोपाल के रास्ते यात्रा करने का विचार किया। इसी यात्रा में भगवान् महाकाल और ओंकारेश्वर ज्योतिर्लिंगों के दर्शन का सौभाग्य हमें मिल सका। यात्रा का पहला पड़ाव चित्तौड़गढ़ था। नीचे से नीबू और चीनी साथ लेकर हम लोग ऊपर पहुँचे। मैं पहले भी एक बार यहाँ की यात्रा कर चुका था। ऊपर पहुँच कर सबसे पहले हमने गोमुख से गिरते हुए पवित्र स्वच्छ जल से सिकंजी बना कर अपनी यात्रा की थकान को मिटाया। राणा सांगा के विजय-स्तम्भ के अतिरिक्त यहाँ कृष्ण के रंग में रची-पची भक्त मीराबाई का भव्य मन्दिर, रानी पद्मिनी के महलों के अवशेष और वह पवित्र स्थान भी है, जहाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिये भारतीय नारियों ने सामूहिक रूप से अग्नि में प्रवेश कर लिया था। इतिहास के पन्नों में जौहर के नाम से स्वर्णाक्षरों में यह घटना अंकित है। भगवान् शिव के लिंग-विग्रह के तो सर्वत्र दर्शन होते हैं। यहाँ के एक मन्दिर में भगवान् का बेरस्वरूप पूरा विग्रह स्थापित है। भगवान् शिव की ऐसी भव्य मूर्ति अन्यत्र दुर्लभ है।

२. ओङ्कारममलेश्वरे, ३. उज्जयिन्यां महाकालम्

चित्तौड़ से चलकर हम लोग इन्दौर पहुँचे और इन्दौर के दर्शनीय स्थानों का अवलोकन करने के बाद इन्दौर से खण्डवा की ओर जाने वाली गाड़ी से चलकर मोरटक्का स्टेशन पर उतर गये। यहाँ से ओंकारेश्वर, अमलेश्वर अथवा ओंकारेश्वर-मान्धाता पहुँचा जाता है। यहाँ नर्मदा नदी दो धाराओं में बँटकर मान्धाता पर्वत को टापू का रूप दे देती है। इस टापू पर ही ओंकारेश्वर ज्योतिर्लिंग प्रतिष्ठित है। नाव पर चढ़ कर यहाँ पहुँचा जाता है। नर्मदा नदी का जल यहाँ इतना निर्मल है कि उन पर चढ़ाया गया सिक्का बहुत दूर तक धीरे-धीरे नीचे तल की तरफ उतरता दिखाई देता है और वहाँ तैर रहे बच्चे डुबकी लगाकर आसानी से इसको पकड़ लेते हैं। नर्मदा जी के इसी तट पर अमलेश्वर भगवान् का मन्दिर है और यहाँ पूरा महिम्नस्तोत्र उत्कीर्ण किया हुआ है। यह स्तोत्र यहाँ एक हजार वर्ष पहले उत्कीर्ण हुआ, ऐसा माना जाता

है। हमारे घर पर पारिवारिक संग्रह में आठवीं सदी की लिखी महिम्नस्तव की पोथी थी। उस पारिवारिक पुस्तकालय में ख्यालों (राजस्थानी संगीत-नाटक) का भी एक बड़ा संग्रह था। हमारे प्रपितामह पण्डित श्री रूपशंकर जी दवे अच्छे ख्याल गायक थे और इन्होंने स्वयं भी अनेक ख्यालों की रचना की थी। लीथो प्रेस में ये ख्याल छपे थे। हमने अपने बचपन में इनके बारे में सुना था कि इनकी आवाज इतनी बुलन्द थी कि रात्रि के दूसरे पहर में गाये इनके ख्यालों की गूंज दूर-दूर तक छा जाती थी। एक अग्निकाण्ड में इन्होंने कोटा के राजपरिवार की रक्षा की थी और इस साहसपूर्ण कार्य के लिये इनको सिरोपा के साथ कण्ठहार और स्वर्णखचित कटार पुरस्कार में मिली थी। दुःख है कि हमारा परिवार इस धरोहर की रक्षा न कर सका।

भगवान् ओंकारेश्वर का दर्शन करने के बाद हम लोगों ने उज्जयिनी के लिये प्रस्थान किया और वहाँ पुण्यसलिला क्षिप्रा नदी में स्नान करने के उपरान्त भगवान् महाकाल के दर्शन किये। महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य के पूर्व भाग में भगवान् महाकाल और उनकी नगरी उज्जयिनी का बड़ा ही मनोहारी भव्य वर्णन किया है। इस यात्रा में हमने "ताल तो भोपाल ताल" वचन से प्रेरित हो भोपाल की यात्रा की, भोपाल के पास ही स्थित सांची के भव्य स्तूप को देखा और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की रंग-स्थली झांसी के किले की शोभा बढ़ा रही उस तोप को भी देखा, जो कभी अपनी धमक से दुश्मनों के दिलों को दहला देती थी। शायद इस यात्रा ने मेरी मनोभूमि में द्वादश ज्योतिर्लिंगों की यात्रा करने के बीज बो दिये थे।

संयोग से मुझे काशी के सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय में पथिकजनपातकचिन्तनस्मृति नामक ग्रन्थ की पांडुलिपि मिली। इस पुस्तकालय में एक लाख से ऊपर हस्तलिखित पोथियों का संग्रह है। इनमें दुर्गासप्तशती का गुजराती अनुवाद, नरसी जी नूं माहेरो, उषा-अनिरुद्ध जैसे देवनागरी लिपि में लिखे गुजराती भाषा के ग्रन्थ भी हैं। उक्त ग्रन्थ के साथ स्मृति शब्द जुड़ा है, किन्तु वास्तव में है यह यात्रा वर्णन का ग्रन्थ। इसके रचयिता महेश्वर भट्ट हैं। ग्रन्थकार ने अपना परिचय देते हुए बताया है कि काशी में नागर जाति के मन्त्रशास्त्री रामकृष्ण भट्ट एक प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं। उनके पुत्र देवकृष्ण, देवकृष्ण के हरिकृष्ण और उनका पुत्र महेश्वर है, जिसने अपनी यात्रा और युद्ध के अनुभवों को यहाँ लिपिबद्ध किया है। महेश्वर भट्ट नादिरशाह के कत्लेआम के समय दिल्ली में ही थे। इन्होंने नादिरशाह के दिल्ली आगमन की जो तिथि दी है, वह इतिहास की दृष्टि से

पूरी तरह सही है। यह ग्रन्थ एक अच्छी प्रस्तावना के साथ इस विश्वविद्यालय की त्रैमासिक अनुसन्धान पत्रिका के ७वें वर्ष के १ अंक में संवत् २००९ में प्रकाशित हो चुका है। 'तन्त्रयात्रा' में इसका अब पुनः प्रकाशन हो गया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन के साथ मेरी यात्रा-सम्बन्धी रुचि जाग उठी।

४. सेतुबन्धे तु रामेशम्

इसका पहला अवसर मिला सन् १९५५ में, जब कि संस्कृत विश्व परिषद् का चौथा अधिवेशन तिरुपति बालाजी में हुआ। इसकी स्थापना सोमनाथ मन्दिर के पुनरुद्धार के अवसर पर तत्कालीन राष्ट्रपति महामान्य राजेन्द्रप्रसाद तथा गुजराती के महान् साहित्यकार श्री क० मा० मुंशी के प्रयास से हुई थी। सन् १९५१ में मेरी नियुक्ति काशी के तत्कालीन राजकीय संस्कृत महाविद्यालय की त्रैमासिक संस्कृत अनुसन्धान पत्रिका के सहायक सम्पादक पद पर हुई थी। महाविद्यालय के प्राचार्य (प्रिंसिपल) इसके पदेन प्रधान सम्पादक होते थे। तत्कालीन प्राचार्य पं० श्री कुबेरनाथ शुक्ल व्यस्तता के कारण वहाँ जा न सके और अपने स्थान पर मेरा नाम उत्तरप्रदेश के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तावित किया था। उनके प्रस्ताव को प्रशासन ने स्वीकार कर लिया और इस प्रकार मुझे न केवल तिरुपति यात्रा का, अपितु भगवान् वेंकटेश्वर और सेतुबन्ध रामेश्वर के भी दर्शन कर लेने का सु-अवसर मिला।

हुआ यों कि उस अधिवेशन में संस्कृत पाठशालाओं के तत्कालीन निरीक्षक श्री रामनरेश मिश्र भी उत्तरप्रदेश के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे। मद्रास तिरुपति के पास ही है। वहाँ से रामेश्वर की दूरी ५०० माइल से ऊपर है। मिश्र जी का कहना था कि यहाँ से यह दूरी बहुत ज्यादा है। मैंने उनसे निवेदन किया कि पुनः काशी पहुँच जाने पर यह दूरी चौगुनी हो जायगी। बात उनको जँच गई और हम लोगों का तिरुपति स्थित भगवान् वेंकटेश्वर के दर्शन के साथ रामेश्वर यात्रा का भी कार्यक्रम बन गया।

अधिवेशन के बीच में ही एक दिन समय निकाल कर हम लोग भगवान् वेंकटेश्वर के दर्शन के लिये तिरुमलै चल पड़े। मद्रास की अनेक सांस्कृतिक संस्थाओं से जुड़े संस्कृत के विश्वप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वे० राघवन् और प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर हम लोगों के साथ थे। प्रोफेसर अय्यर बाद में लखनऊ विश्वविद्यालय और वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय के भी कुलपति बने थे। तिरुमलै स्थित भगवान् वेंकटेश्वर का देवालय भारत का एक मात्र ऐसा मन्दिर है, जो मैदान में तिरुपति और पहाड़ी पर स्थित तिरुमलै

की बस्ती में निवास, स्वास्थ्य और यातायात की यात्रियों की सुख-सुविधा की पूरी व्यवस्था का सुचारु संचालन करता है। वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, वेंकटेश्वर शोध संस्थान के साथ वैखानस (वैष्णव) आगम के साहित्य के प्रकाशन की पूरी व्यवस्था की भी देखरेख इस मन्दिर की निधि से ही होती है। वैखानस और पांचरात्र वैष्णव सम्प्रदाय की दो शाखाएँ हैं। भगवान् वेंकटेश्र के अर्चन, उत्सव आदि का आयोजन वैखानस पद्धति से और श्रीरंगम् में भगवान् रंगनायक के अर्चन, उत्सव आदि का संचालन पांचरात्र पद्धति से होता है।

अधिवेशन की समाप्ति के साथ हम लोग मद्रास के लिये चल पड़े। मार्ग में कांची नगरी के दर्शन हुए। हमारे अनेक साथी यहाँ उतरे। हम लोग मद्रास पहुँचकर सीधे रामेश्वर के लिये चल पड़े। पम्बन का पुल पार कर रामेश्वर टापू में पहुँचने के साथ-साथ भक्त जनों से यह जानकारी मिलने पर कि पहले धनुष्कोटि स्थित समुद्र में स्नान करने के बाद भगवान् रामेश्वर का दर्शन करना चाहिये, हम लोग रामेश्वर स्टेशन पर न उतर सीधे धनुष्कोटि चले गये। उस समय यह स्थान पूर्ण सुरक्षित था। कहा जाता है कि यहाँ भगवान् राम ने समुद्र के अपनी प्रार्थना न सुनने पर धनुष पर प्रत्यंचा चढाई थी। बाद में कुछ वर्षों बाद यह पढ़ने को मिला कि एक भीषण समुद्री तूफान में पम्बन पुल और यह स्थान तहस-नहस हो गये। यहाँ समुद्र में स्नान करते समय संकल्प-वाक्य में "रत्नाकर-महोदधिसंगमे" कहा जाता है। वस्तुतः रत्नाकर और महोदधि का संगम कन्याकुमारी में होता है, जहाँ कि बंगाल की खाड़ी और अरब की खाड़ी हिन्द महासागर में आ मिलती है।

धनुष्कोटि में स्नान करने के उपरान्त हम लोग रामेश्वर आ पहुँचे और एक धर्मशाला में रात्रि का विश्राम किया। प्रातःकाल स्नान आदि से निवृत्त होकर हम लोग भगवान् रामेश्वर के दर्शन को निकले। दक्षिण भारत के अधिकांश मन्दिर इस्लाम के आक्रमण से बचे रहे हैं और उनकी भव्यता एवं विशालता आज भी श्रद्धालु दर्शकों के ही नहीं, सामान्य नागरिकों के मन को भी मोह लेती है। दक्षिण भारत के मन्दिरों के गर्भगृह में प्रवेश वर्जित है। श्रद्धालु भक्तों की पूजा-सामग्री मन्दिर के पुजारी भगवान् को समर्पित करते हैं। मैंने वहाँ भगवान् को महिम्नस्तव सुनाया। औदीच्यों की परम्परा में पहले रुद्राष्टाध्यायी, महिम्नस्तव, शक्रादिस्तुति और शान्तिपाठ (आ नो भद्रा) कण्ठस्थ कराया जाता था। अध्ययन काल में दुर्गासप्तशती का पाठ वर्जित था। आज सब उलट-पलट हो गया है।

काल की गति विचित्र है। अब तो हम लोग गुजराती बोलना भी छोड़ते जा रहे हैं और आश्चर्य इस बात का है कि महाराष्ट्र या बंगाल से आये तीर्थयात्री अपने बन्धु-बान्धवों से अपनी ही भाषा में बोलते हैं, किन्तु जब गुजरात से कोई यात्री यहाँ आता है, तो वह अपनों से हिन्दी में बोलता है। क्या यह सैकड़ों वर्षों से अपनी भाषा को न छोड़ने वालों का अपमान नहीं है? क्या इन गुजरातियों की भाषा पर ही स्थानीय प्रभाव पड़ा है, मराठी या बंगला भाषा पर नहीं? क्या भाषा में आई इस विकृति के वे स्वयं भी दोषी नहीं हैं, जो इनसे गुजराती में बोलना नहीं चाहते? मध्यप्रदेश की यह समस्या नहीं है, क्योंकि वहाँ के औदीच्यों ने गुजराती बोलना कभी का छोड़ दिया है। गुजराती बोलना ही नहीं छोड़ा है, दवे अवटंक वाले अब अपने को दुबे लिखने में गौरव का अनुभव करते हैं। देखना है यह विकृति कहाँ तक चली जाती है। तिलक और दहेज ने तो राजस्थान और उत्तरप्रदेश में भी दस्तक दे ही दी है। अस्तु,

भगवान् रामेश्वर की यात्रा के बाद हमने मदुरा में भगवती मीनाक्षी देवी का तथा श्रीरंगम् में पवित्र कावेरी नदी में स्नान के उपरान्त भगवान् रंगनायक विष्णु का दर्शन किया। अत्यधिक व्यस्ततावश पं० श्री रामनरेश मिश्र जी यहाँ से वाराणसी चले गये और तब मैं अकेला ही तंजावुर और चिदम्बरम् की यात्रा पर निकल पड़ा। तंजावुर में भगवान् बृहदीश्वर शिव का और चिदम्बरम् में नटराज शिव का मन्दिर है। तंजावुर में यह एकमात्र उत्तरभारत की शिखर शैली का मन्दिर है। इसका विशाल शिखर एक ही शिलाखण्ड को तराश कर बनाया गया है। इतना विशाल शिखर इतनी ऊँचाई तक कैसे पहुँचाया जा सका, भारतीय स्थापत्य का यह एक अनोखा नमूना है। यहाँ का सरस्वती महल पुस्तकालय और संग्रहालय अपने ढंग का है। अब यहाँ से संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन भी होने लगा है। चिदम्बरम् ताण्डव नृत्यरत भगवान् शिव की मूर्ति के लिये प्रसिद्ध है। यहीं अन्नमलाई विश्वविद्यालय भी है। मेरी इस पहली दक्षिण भारत की यात्रा का तथा अन्य यात्राओं का विवरण अब 'तन्त्रयात्रा' में प्रकाशित हो चुका है। इसमें मेरे सन् १९७२ से पहले लिखे गये संस्कृत के ३० अनुसन्धानात्मक निबन्धों और ५० संपादकीय टिप्पणियों का संग्रह भी है। संस्कृत की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनका पहले प्रकाशन हो चुका था। यहाँ तन्त्रसम्बन्धी निबन्ध प्रारम्भ में और यात्रापरक निबन्ध अन्त में संगृहीत हैं। काशी से सुदूर दक्षिण स्थित रामेश्वर ज्योतिर्लिंग की इस यात्रा के साथ ही मेरी शेष ज्योतिर्लिंगों की यात्रारूपी वांछालता अंकुरित हो उठी।

५. त्र्यम्बकं गौतमीतटे, ६. घुश्मेशं च शिवालये

काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो जाने पर मेरी नियुक्ति प्रकाशन अधिकारी के पद पर हुई थी। इस पद पर काम करते समय मुझे सरस्वती भवन में सुरक्षित आनन्द-नाथ नामान्त पुण्यानन्दनाथ, अमृतानन्दनाथ जैसे आचार्यों के ग्रन्थों को देखने की इच्छा हुई और ऐसा करते समय मुझे शिवानन्दनाथ विरचित ऋजुविमर्शिनी का एक हस्तलेख प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ की चर्चा तो अनेकों स्थलों पर हुई थी, किन्तु कोई पांडुलिपि अब तक प्राप्त नहीं हुई थी। ये सभी आचार्य भगवती त्रिपुरा के उपासक हैं। इस ग्रन्थ की उपलब्धि की सूचना मैंने अपने श्रद्धेय गुरुदेव श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी को दी। उस दिन उन्होंने अपना वरद हस्त मेरे शिर पर रखा और आज तक जो कुछ मैं कर सका हूँ, वह सब उस आशीर्वाद का ही प्रतिफल है। सन् १९६८ में ऋजुविमर्शिनी और अर्थरत्नावली नाम की दो टीकाओं और अन्य छः लघु ग्रन्थों के साथ नित्याषोड-शिकार्णव का जो पहला संस्करण निकला, उसने मुझे कालिदास पुरस्कार तो दिलाया ही, इस विषय के यूरोपीय विद्वानों के बीच भी मुझे प्रतिष्ठित किया और अन्ततः मेरी हालैण्ड एवं इंग्लैण्ड यात्रा का कारण बना। इस संस्करण को निकालने में ५० से अधिक पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया था और ये सब केरल से कलकत्ता तक के पुस्तकालयों से इकट्ठी की गई थीं। इसके लिये मैंने अपनी पहली अध्ययन यात्रा की और इसी प्रसंग में त्र्यम्बकेश्वर और घुश्मेश्वर ज्योतिर्लिंग के दर्शनों का सौभाग्य भी मुझे मिला।

सन् १९६४ में की गई इस यात्रा में मैं जयपुर, अहमदाबाद, बड़ोदरा, बम्बई और पूना गया। बड़ोदरा, बम्बई और पूना में अनेक ग्रन्थों की उपलब्धि के साथ अपने-अपने क्षेत्र के विशिष्ट विद्वानों से विचार-विमर्श का भी अवसर मिला। अध्ययन यात्रा पूरी होने के साथ मेरी धार्मिक और सांस्कृतिक यात्रा प्रारम्भ हुई। इसका पहला पड़ाव नासिक था। मैं पूना से बस द्वारा सीधे नासिक पहुँचा। यहाँ से भगवान् त्र्यम्बकेश्वर का स्थान बहुत दूर नहीं है। मन्दिर परिसर में स्थित कुण्ड में स्नान के उपरान्त भगवान् त्र्यम्बकेश्वर के दर्शन का लाभ उठा मै ब्रह्मगिरि के उस स्थान की यात्रा के लिये चल पड़ा, जहाँ से गोदावरी अवतरित होती है। गोदावरी नदी में स्नान मैं नासिक में ही कर चुका था। यहाँ मैं ठीक गोदावरी नदी के किनारे बने घड़ियाल वाले मठ में ठहरा था।

यहाँ मुझे बताया गया था कि एलोरा की गुफाओं के पास ही घुश्मेश्वर ज्योतिर्लिंग का मन्दिर है। वहाँ जाने के लिये मैं नासिक से मनमाड़ और मनमाड़ से औरंगाबाद ट्रेन से पहुँचा। औरंगाबाद स्टेशन से अजन्ता और एलोरा की गुफाओं के लिये बसे प्रातःकाल चलकर सायंकाल वापस आ जाती हैं। पहले मैंने भगवान् घुश्मेश्वर के दर्शन के लिये एलोरा वाली बस पकड़ी। एलोरा का प्राचीन नाम एलापुर है। शैव और शाक्त सम्प्रदाय का यह एक प्रसिद्ध स्थान है। आजकल एलोरा अपने गुहा-मन्दिरों के लिये प्रख्यात है। पूरे भारत में लगभग १२०० गुहा-मन्दिर हैं। ऐसे पहले गुहा-मन्दिर का दर्शन मैंने इसी यात्रा में बम्बई में किया था। बम्बई के ताजमहल होटल के पास स्थित अपोलो बन्दरगाह के सामने स्थित एक छोटे टापू में हाथी गुम्फा (एलीफेण्टा की गुफा) स्थित है। यहाँ अर्धनारीश्वर शिव, त्रिमूर्ति शिव, अन्धकासुरवधरत शिव, ताण्डवनृत्यरत शिव, द्यूतरत शिव, कैलाश पर्वत को उठाने वाले रावण का मानमर्दन करते हुए शिव की और उनकी बारात की मूर्तियां संसार भर में प्रसिद्ध हैं तथा इनको देखने के लिये यात्रियों की भीड़ लगी रहती है। एलोरा की गुफाओं में भी ये सब मूर्तियां विद्यमान हैं। यहाँ शैवों के अतिरिक्त बौद्धों और जैनों के भी मन्दिर हैं। इन सबकी विशेषता यह है कि पहाड़ियों को काटकर उनको गुफाओं के आकार के मन्दिरों का रूप दे दिया गया है। यहाँ का कैलाश मन्दिर इन सबमें उत्कृष्ट है। यहाँ की सप्तमातृकाओं की मूर्तियाँ भी अतिप्राचीन मानी जाती हैं।

औरंगाबाद से बस द्वारा एलोरा जाने के रास्ते में औरंगजेब की मजार पड़ती है। उसका यहीं अवसान हुआ था। दिल्ली से दौलताबाद की कहावत में प्रसिद्ध दौलताबाद का किला भी रास्ते में पड़ता है। किलों को शत्रु के आक्रमण से किस तरह सुरक्षित रखा जाता था, दौलताबाद का किला उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। किले के ऊपर एक छोटी सी गुफा में जनार्दन स्वामी की समाधि है। ये एकनाथ, नामदेव, ज्ञानदेव आदि मराठी सन्तों के गुरु थे। एलोरा मन्दिरों को दिखाने के बाद बस मध्याह्न में यहाँ से उतर कर घुश्मेश्वर पहुँच जाती है। वहाँ यात्रियों को भोजन, विश्राम आदि के लिये पर्याप्त समय मिलता है। मैंने इस समय का उपयोग भगवान् घुश्मेश्वर को रुद्राष्टाध्यायी सुना कर किया। दूसरे दिन मैं अजन्ता पहुँचा। अजन्ता की गुफाएँ अपने भित्तिचित्रों के लिये विश्वविख्यात हैं। यहाँ के चित्रों को देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु यहाँ कुछ ऐसे भी चित्र हैं, जो अन्धेरा होने पर अपने आप चमक उठते हैं।

७. वैद्यनाथं चिताभूमौ, ८ श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्

मेरी दूसरी अध्ययन यात्रा सन् १९६८ में हुई। पहली यात्रा प्रमुखतः नित्याषोडशिकार्णव के संस्करण के लिये की गई थी और इस यात्रा का प्रयोजन सात्वतसंहिता का सभाष्य संस्करण था। इस प्रसंग में मैं कलकत्ता, तिरुपति, मद्रास, तंजावुर, त्रिवेन्द्रम् और मैसूर के ग्रन्थागारों में गया और साथ ही वैद्यनाथ धाम और मल्लिकार्जुन ज्योतिर्लिगों के भी दर्शन कर सका। वाराणसी-कलकत्ता रेलपथ पर जसोडीह स्टेशन से उतर कर देवघर पहुँचा जाता है। यहीं है भगवान् वैद्यनाथ का धाम। एक सुन्दर विशाल सरोवर भी यहाँ है। काशी की तरह यहाँ भी पंडे कुछ ज्यादा ही यात्रियों को परेशान करते हैं। वैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग के विषय में शास्त्रों में दो तरह के वचन मिलते हैं—"वैद्यनाथं चिताभूमौ" तथा "परल्यां वैद्यनाथं च"। परली वैद्यनाथ की यात्रा का विवरण हम पूर्व निबन्ध में दे चुके हैं और आगे भी देंगे। देवघर वाला वैद्यनाथ धाम ही चिताभूमि के नाम से शास्त्रों में वर्णित है।

कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी का तथा संस्कृत कालेज का ग्रन्थागार अतिप्राचीन हस्तलेखों के संग्रह के लिये प्रसिद्ध है। कलकत्ता में मैं मुखिया हर्षनाथ जी के यहाँ ठहरा था। ये हमारे सम्बन्धी हैं। हमारे अन्य बन्धु श्री अमरनाथ जी दवे के सहयोग से मैं कलकत्ता के सभी दर्शनीय स्थानों को देख सका। कलकत्ता से चलकर मैं भुवनेश्वर पहुँचा। भुवनेश्वर अपने कलात्मक शताधिक मन्दिरों के लिये प्रसिद्ध है। इनमें लिंगराज मन्दिर प्रधान है। उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाएँ भी यहीं हैं। इन्हीं में खारवेल का प्राचीनतम शिलालेख भी उत्कीर्ण है। इन सबको देखकर मैं जगन्नाथ पुरी पहुँचा और वहाँ समुद्र स्नान के साथ कृष्ण, बलदेव और सुभद्रा की त्रिमूर्ति का दर्शन कर अपने को कृतार्थ मान सका। यहाँ से मैं कोणार्क के सूर्यमन्दिर को भी देखने गया। भारतीय स्थापत्यकला का यह उत्कृष्टतम नमूना है।

पुरी के शंकराचार्य मठ में मेरी अतर्कित भेंट अपने मीमांसाशास्त्र के गुरु पद्मभूषण पं० पट्टाभिराम शास्त्री जी से हो गई। उन्होंने मुझे बताया कि दक्षिण भारत के किसी भी नगर में वहाँ के शांकर मठ में संस्कृत भाषा-भाषी को ठहरने की सुविधा मिल जाती है। इससे मेरी दक्षिण भारत की यात्रा सरस, सरल और सुखद हो गई। पुरी से रेलमार्ग द्वारा मैं सीधा वेजवाड़ा पहुँचा। यहीं से बस द्वारा श्रीशैल पहुँचा जाता है। रास्ते में विशाखापत्तनम् के पास सिंहाचल तीर्थ है। यह भगवान् नृसिंह का पवित्र तीर्थ है। राजमहेन्द्री विद्यातीर्थ है। इन दोनों ही स्थानों पर मैं रुक न सका। वेजवाड़ा में मैं शांकर

मठ में उतरा और वहाँ काशी के श्रृंगेरी मठ के पूर्वपरिचित स्वामी जी के दर्शन हो गये। इन्हीं के साथ मैंने प्रातःकाल पवित्र कृष्णा नदी में स्नान किया और पास की पहाड़ी पर स्थित भगवती कनकदुर्गा के दर्शन किये।

वेजवाड़ा से श्रीशैल की सीधी बससेवा न मिल पाने के कारण मैं पहले गुन्टूर पहुँचा और वहाँ पहुँचने तक आगे की बस छूट गई। वहाँ बस स्टेशन पर सामान रखने की सुविधा उपलब्ध थी। मैंने वहाँ सामान रखा और चल पड़ा अमरावती के लिये। सामान की चिन्ता करने वाला यात्रा का आनन्द नहीं उठा पाता, अतः इस तरह की यात्राओं में व्यक्ति को कम से कम सामान रखना चाहिये। अमरावती धान्यकटक के नाम से प्रसिद्ध रही है और कभी यहाँ का बौद्ध स्तूप अपने कलावैभव के कारण सांची के स्तूप के समान ही आकर्षण का केन्द्र रहा है। यह स्तूप अब पूरी तरह उजड़ गया है और यहाँ की सारी सामग्री पास के संग्रहालय में रख दी गई है। इस स्तूप से अनतिदूर कृष्णा नदी बहती है। सायंकाल मैं वापस गुन्टूर चला आया और रात्रि की बस में बैठकर प्रातःकाल ४ बजे श्रीशैल जा पहुँचा।

श्रीशैल में भी शांकर मठ है। वहीं मैं ठहरा और नित्य कर्म से निवृत्त हो सहस्राधिक सीढ़ियाँ उतर कर कृष्णा नदी में दुबारा डुबकी लगाई। वापस आकर मैंने भगवान् मल्लिकार्जुन के दर्शन किये। सिंहद्वार पर निरन्तर जल के बहते रहने से प्रत्येक भक्त को यहाँ एक अनोखी पवित्रता का अनुभव होता है। प्रातःस्मरण के श्रुतिमधुर संगीत से वह भावविभोर हो उठता है। सायंकाल मैं यहाँ से तिरुपति के लिये चल पड़ा। सीधी बस के न मिल पाने से पहले मैं नन्द्याल और वहाँ से मध्यरात्रि में दूसरी बस पकड़ तिरुपति पहुँचा। नन्द्याल के पास महानन्दो तीर्थ है। यहाँ स्थित गोमुख का जल अतिनिर्मल है। मैं वहाँ जा न सका। यह मेरी तिरुपति की दूसरी यात्रा थी।

अब यहाँ संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना हो चुकी थी और यहाँ के पुस्तकालय में अनेक पांचरात्र संहिताओं का संग्रह हो चुका था। मुझे वहाँ सात्वतसंहिता अथवा उसके भाष्य की कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई। वेंकटेश्वर शोधसंस्थान में स्थित पांडुलिपि को मैं प्राप्त कर न सका। वहाँ के अधिकारियों का कहना था कि हम लोग स्वयं इसका प्रकाशन करेंगे, किन्तु ऐसा वे कर न सके और कुछ वर्ष बाद अपनी तीसरी तिरुपति यात्रा के अवसर पर इस संस्थान के तत्कालीन निदेशक डॉ॰ शंकर नारायणन् की अनुमति और सहयोग से मैं वहाँ की पांडुलिपि के पाठों का संकलन और उनका प्रकाशन परिशिष्ट के रूप में कर सका।

पांच भूतलिंग

दक्षिण भारत में भगवान् शिव के पांच भूतलिंगों को अधिक मान्यता प्राप्त है। तिरुपति के पास ही स्वर्णमुखी नदी के तट पर स्थित कालहस्ति तीर्थ में वायुलिंग के रूप में कालहस्तीश्वर की आराधना होती है। सिद्धान्तकौमुदी व्याकरण का अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके लेखक भट्टोजी दीक्षित के पूर्वज यहीं निवास करते थे। परवर्ती काल में वे वाराणसी में आकर बस गये और उक्त ग्रन्थ की रचना यहीं हुई। 'कालहस्तीश्वरसुप्रभातम्' में पांच भूतलिंगों को इस प्रकार स्मरण किया गया है—

मृल्लिङ्गरूपमभवत् शिव आम्रनाथः
अब्लिङ्गरूपमभवत् खलु जम्बुकेशः।
लिङ्गं च तैजसमभूत् त्वरुणाचलेशः
श्रीकालहस्त्यधिपतिः खलु वायुलिङ्गम्॥
आकाशलिङ्गमभवत् स चिदम्बरेशः

आकाश लिंग भगवान् चिदम्बर की यात्रा का वर्णन पहले आ चुका है। वायुलिंग कालहस्तीश्वर के दर्शन करने के बाद मैं कांचीपुरी स्थित पृथ्वीलिंग भगवान् आम्रनाथ के दर्शन के लिये चल पड़ा। द्वादश ज्योतिर्लिंगों की यात्रा का वर्णन इस लेख का मुख्य विषय है। प्रसंगवश यहाँ पांच भूतलिंगों की भी चर्चा आ गई है। अपनी इस यात्रा में मैंने रत्नाकर, महोदधि और हिन्दमहासागर की संगमस्थली पर भगवती कन्याकुमारी का, त्रिवेन्द्रम् में भगवान् पद्मनाभ का, समुद्रतटीय गोकर्ण तीर्थ में भगवान् महाबलेश्वर का, परशुराम की निवासस्थली सह्याद्रि की तलहटी में रेणुका भगवती (येलम्मा) का, कोल्हापुर स्थित महालक्ष्मी का और पण्ढरपुर स्थित रुक्मिणीजानि भगवान् पुण्डरीक विट्ठल का दर्शन किया। दर्शन करने से पहले मैं चन्द्रभागा में स्नान करना नहीं भूला। मद्रास के पास के महाबलिपुरम् के समुद्रतटीय शिलाखण्डों को तरास कर बनाये गये शिल्पवैभवों को, मैसूर के वृन्दावन उद्यान को, भारत के सबसे ऊँचे जलप्रपात जोग फाल को, कालामुख सम्प्रदाय की प्राचीन नगरी हुली के ध्वंसावशेषों को और बीजापुर के गोल गुम्बज को भी मैं देख सका और तंजावुर नगर की वीथियों में भ्रमण करते हुए गरुड़ महोत्सव की झांकियों का भी अवलोकन कर सका। कन्याकुमारी के मन्दिर के सामने विवेकानन्द शिला पर नये मन्दिर का निर्माण चल रहा था।

परली वैद्यनाथ : औंढा नागनाथ

तिरुपति क्षेत्र की तीसरी यात्रा करने का अवसर मुझे सन् १९७९ में मिला। योग की प्रायोगिक शिक्षा का पाठ्यक्रम तैयार करने के लिये तिरुपति के वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय ने एक समिति बनाई थी। उसमें दो सदस्य काशी के थे। इसका कार्य पूरा होने के उपरान्त मैंने वेंकटेश्ववर शोध संस्थान स्थित सात्वतसंहिताभाष्य के पाठों का संकलन किया और उसके बाद हैदराबाद के लिये चल पड़ा। उस समय के आन्ध्रप्रदेश के मुख्यमन्त्री डॉ० चेन्ना रेड्डी उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रह चुके थे। भाषानुवाद के साथ प्रकाशित हुए विज्ञान-भैरव के संस्करण को मैंने उन्हीं को समर्पित किया था। शब्दों के द्वारा तो यह समर्पित हो चुका था, किन्तु मैंने सोचा कि अब चलकर उनको यह ग्रन्थ साक्षात् समर्पित कर दिया जाय। मैं हैदराबाद में संस्कृत शिक्षा के निदेशक एवं विद्वान् पं० के० लक्ष्मण शास्त्री के यहाँ ठहरा था। यहाँ पता चला कि दो दिन के लिये महामान्य राष्ट्रपति के साथ वे समुद्री तूफान से पीड़ित क्षेत्रों का निरीक्षण करने चले गये हैं। इन दो दिनों का उपयोग मैंने दो वैकल्पिक ज्योतिर्लिंगों के दर्शन में और हैदराबाद के आसपास के चारमीनार, गोलकुण्डा आदि दर्शनीय स्थलों के अवलोकन में किया।

मैं पहले बता चुका हूँ कि वैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग के लिये शास्त्रों में दो प्रकार के वचन मिलते हैं। बिहार के चिताभूमिस्थित वैद्यनाथ धाम की यात्रा मैं कर चुका था। परली वैद्यनाथ हैदराबाद के पास ही है। हैदराबाद से यहाँ सीधी गाड़ी जाती है। पण्ढरपुर से भी बस द्वारा यहाँ आया जा सकता है। परली वैद्यनाथ से अनतिदूर स्थित औंढा नागनाथ को भी ज्योतिर्लिंग की मान्यता प्राप्त है। पक्षान्तर से दारुकवन (द्वारकापुरी के पास) स्थित नागनाथ को यह मान्यता मिली है। पवित्र पर्व प्रदोष के दिन इन ज्योतिर्लिंगों का दर्शन कर मैंने अपने जन्म को कृतार्थ माना। यह संयोग ही कहा जायगा कि गोकर्ण स्थित महाबलेश्वर जैसे दिव्य लिंगों का दर्शन मैं प्रदोष व्रत की शुभ वेला में कर सका। कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में देवर्षि नारद की महोदधि के उपकण्ठ में स्थित गोकर्ण क्षेत्र की यात्रा का उल्लेख है।

९. सौराष्ट्रे सोमनाथं च, १० नागेशं दारुकावने

मेरी चौथी पुत्री का विवाह सिद्धपुर (गुजराज) के प्रसिद्ध समाजसेवी और साहित्यकार श्री अरुणप्रसाद वि० त्रिवेदी के द्वितीय पुत्र श्री सुधीर अ० त्रिवेदी के साथ सन् १९८१ में हुआ था। सन् १९८१ में ही विवाह के बाद मैं

उधर गया और अहमदाबाद से वेरावल ट्रेन द्वारा जाकर भगवान् सोमनाथ के प्रभास क्षेत्र में जा पहुँचा। गुजरात में प्रायः प्रत्येक स्थान पर बस स्टैंड या रेलवे स्टेशन के पास पथिकाश्रम बने हुए हैं। इनमें ठहरने की अच्छी व्यवस्था है। मैं भगवान् सोमनाथ के मन्दिर के पास स्थित ऐसे ही पथिकाश्रम में ठहरा और स्नान-सन्ध्या से निवृत्त हो भारत सरकार के यशस्वी गृहमन्त्री और भारतीय एकता के प्रतीक सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रयत्न से बने नये भव्य मन्दिर में भगवान् सोमनाथ के दर्शन किये। मन्दिर के ठीक नीचे समुद्र अपने गंभीर गर्जन के साथ हिलोरें मारता रहता है। मन्दिर प्राकृतिक रूप से खड़े एक ऊँचे टीले पर बना है। द्वारका नगरी के मन्दिर की शैली पर ही इस मन्दिर का निर्माण कराया गया है। प्राचीन शिल्पशास्त्र की वंशपरम्परा अब केवल गुजरात, उड़ीसा और तमिलनाडु में बची है। भगवान् सोमनाथ के दर्शन के बाद मैं समुद्र के किनारे लहरों की अठखेलियों को देखने लगा। मैं काफी दूर बैठा हुआ था, जहाँ लहरों के आने की कोई संभावना नहीं थी, किन्तु थोड़ी ही देर में लहरों का एक बड़ा झौंका आया और भागने की कोशिश करते-करते भी वह अकल्पित रूप में मेरे कपड़ों को भिगोता हुआ वापस लौट गया। प्रसिद्ध गुजराती साहित्यकार श्री क० मा० मुंशी ने भगवान् सोमनाथ के लिये लिखा है कि इस भूखण्ड के सामने दक्षिण में हिन्दमहासागर के अथाह जल के अतिरिक्त कोई दूसरा भूखण्ड नहीं है।

यहाँ समुद्र में दो नदियाँ अलग-अलग मिलती हैं। पहली नदी के किनारे वल्लभाचार्य महाप्रभु जी की बैठक के पास वह स्थान है, जहां बाण से आहत हो भगवान् कृष्ण ने अपना कलेवर छोड़ा था। मैंने दूसरे दिन नदी में स्नान कर उस स्थान का भी दर्शन किया। समुद्र के कारण नदी का जल भी खारा था। मैंने पुनः भगवान् सोमनाथ का दर्शन किया और उस प्राचीन स्थल का भी दर्शन करने गया, जहाँ गर्भगृह के नीचे एक गुफा में सीढियाँ उतर कर अहल्याबाई द्वारा स्थापित शिवलिंग विद्यमान है।

गुजरात राज्य की बसों पर एकवाक्य लिखा रहता है—"झड़प थी यात्रा माटे जी० टी० सी० वापरो"। इस वाक्य की सच्चाई का अनुभव मुझे सोमनाथ से आगे की यात्रा में हुआ। बस स्टेशन जाते ही मुझे तुरन्त पोरबन्दर की बस मिल गई। सोमनाथ से द्वारकापुरी तक का बस मार्ग प्रायः समुद्र के किनारे-किनारे जाता है, किन्तु यहाँ का समुद्रतट दक्षिण के समान हरा-भरा नहीं है। नारियल के पेड़ भी यहाँ नहीं दिखाई पड़े। पोरबन्दर सुदामा की नगरी है। महात्मा गांधी का जन्म भी यहीं हुआ। आगे की बस तुरन्त मिल

जाने से मैं वहाँ रुक न सका। मुझे हरसिद्धि देवी का दर्शन करना था। अब तो एक मन्दिर नीचे मैदान में भी बन गया है, किन्तु मूल मन्दिर पहाड़ी के शिखर पर है। उतनी देर बस रुकती नहीं, अतः मैं वहीं उतर गया और पहाड़ी पर विद्यमान भगवती हरसिद्धि देवी का दर्शन किया। पहाड़ी के सामने ही समुद्र अठखेलियाँ कर रहा था। नीचे बने नये मन्दिर में भगवती का दर्शन करने वाले समुद्र की इस सुषमा को देखने से वंचित रह जाते हैं। यहाँ से दूसरी बस में बैठ मैं सायंकाल तक द्वारकाजी जा पहुँचा और वहाँ मन्दिर के पिछवाड़े स्थित शंकराचार्य मठ में ठहर गया। यहाँ भी मन्दिर के नीचे से बहती हुई एक नदी समुद्र में मिलती है। प्रातःकाल उसीमें स्नान कर मैंने भगवान् द्वारकाधीश के दर्शन किये और तुरन्त ही भगवान् नागेश ज्योतिर्लिंग के दर्शन के लिये निकल पड़ा। भगवान् नागेश के मन्दिर के पास ही महाप्रभुजी की बैठक है। बस वहाँ तक जाती है, किन्तु आते-जाते वह यहाँ रुकती है। इस प्रकार इस यात्रा में भगवान् सोमनाथ और नागेश ज्योतिर्लिंग के दर्शन कर मैं अपने इस जन्म को धन्य कर सका।

यहाँ से वापस द्वारकापुरी लौटकर मैं बिना मठ में गये सीधे बेठ-द्वारका के लिये चल पड़ा। बेठद्वारका समुद्र के बीच में है। द्वारका से ओखा तक रेल अथवा बस से जाया जाता है। ओखा से बेठद्वारिका जाने के लिये पाल वाली नौकाएँ ज्यादातर मिलती हैं। पाल वाली नौका का आनन्द लेने के लिये मैं उसी में बैठ गया। बच्चों के लिये यह यात्रा डरावनी होती है, अतः इस नाव से यात्रा करने वाले बच्चों को किनारे ही छोड़ जाते हैं। यह नाव हवा के सहारे चलती है और बहुत डगमगाती है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि नाव उलट जायगी। यन्त्रचालित नौकाओं की यात्रा अधिक निरापद है। बेठद्वारका स्थित मन्दिर में भगवान् द्वारकाधीश के अतिरिक्त भगवान् गोविन्द और माधव की अलग-अलग मूर्तियाँ हैं। इस विषय में हम पहले लिख चुके हैं।

द्वारका से मैं श्रीनाथद्वारा जाने वाली बस में बैठा। सीट का आरक्षण पहले से ही करा लिया था। मैं बढवाण (सुरेन्द्रनगर) उतर गया। यहाँ हमारे काशी के सहपाठी श्री छेलशंकर नर्मदाशंकर शुक्ल रहते हैं। ये हमारे निवास-स्थान केकड़ी (अजमेर) आ चुके थे। मैं इनके घर नहीं जा सका था, सो इस अवसर का लाभ उठाकर मैं इनके यहाँ जा पहुँचा। ३५ वर्ष बाद उनसे मिलना हो रहा था। ये मूलतः ध्रांगध्रा के निवासी हैं। अब इन्होंने सुरेन्द्रनगर में अपना मकान बना लिया है। ये मेरी गुजराती बोली के परिष्कारक भी

रहे हैं। सौभाग्य से इस साल वे सपरिवार काशी यात्रा के लिये आये और उनसे पुनः मिलाप हो सका।

माता बहुचरा हम लोगों की कुलदेवी हैं। मैं सायंकाल उनके दर्शन के लिये निकल पड़ा। वीरमगांव होता हुआ मैं बहुचराजी जा पहुँचा। रात्रि में धर्मशाला में विश्राम किया और प्रातःकाल स्नान-सन्ध्या आदि से निवृत्त हो भगवती के दर्शन कर आगे की यात्रा आरम्भ की। अब यात्रा का मुख्य लक्ष्य था—मोढेरा का सूर्यमन्दिर। सूर्य भगवान् के अब इने-गिने मन्दिर रह गये हैं। कभी भगवान् सूर्य की प्रातःकालीन पूजा पुरी के पास के कोणार्क मन्दिर में, मध्याह्न काल की उपासना यमुनातट स्थित कालपी के सूर्यमन्दिर में और सायंकालीन आराधना मुलतान (अब यह पाकिस्तान में चला गया है) के मन्दिर में होती थी। मोढेरा का सूर्यमन्दिर प्राचीनतम मन्दिरों में से एक है। थोड़ी ही देर में मैं वहाँ जा पहुँचा। मोढेरा के मन्दिर की स्थापत्यकला उड़ीसा के मन्दिरों की स्थापत्यकला से प्रभावित होते हुए भी अपने में निराली है। अब यह स्थान निर्जन एकान्त में पड़ गया है। इस मन्दिर की और इसके परिसर में स्थित कुण्डनुमा पोखरे (छोटा तालाब) की निर्माणशैली बरवश देखने वालों का मन आकृष्ट कर लेती है। यहाँ से मैं सायंकाल तक महेसाणा जा पहुँचा। वहाँ हमारे वेवाई साहब श्री अरुणप्रसाद जी अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री जनार्दन भाई के यहाँ मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने उनको बताया कि मेरी यह यात्रा बड़ी झड़प से हुई।

११. केदारं हिमवत्पृष्ठे

अब भगवान् केदारेश्वर और भीमशंकर की यात्रा बची थी। पूना से नासिक जाते समय बस में पता चला था कि भीमशंकर जाने का मार्ग यहाँ से अलग होता है और वह स्थान यहाँ से बहुत दूर नहीं है, किन्तु पहले से पूरी जानकारी न होने से मैं उस समय वहाँ जा न सका। एक बार दिल्ली में जहाँ मैं ठहरा, वहाँ से जोशीमठ को एक स्टेशन वैगन खाली जा रही थी। पहले से दूसरी जगह का कार्यक्रम निश्चित होने से मैं उस अवसर का भी लाभ न उठा सका। मुझे ऐसा लग रहा था कि विघ्न आ जाने से शायद इन दोनों स्थानों की यात्रा मैं अब कर नहीं सकूँगा। किन्तु केदारनाथ जाने का एक अतर्कित प्रस्ताव मेरे सामने आया।

आन्ध्रप्रदेश में वैखानस, तमिलनाडु में पांचरात्र और द्वैतवादी शैव-सिद्धान्त के समान कर्णाटक राज्य में वीरशैव सिद्धान्त और मध्वाचार्य का द्वैतवादी वैष्णव मत अधिक प्रचलित है। वीरशैव सम्प्रदाय के पूरे देश में

पाँच मठ अतिप्रसिद्ध हैं, उनमें जंगमवाड़ी मठ काशी में है। उखीमठ बाबा केदारनाथ का शीतकाल का निवासस्थान है, वैसे ही जैसे बदरीनाथ का चलविग्रह शीतकाल में जोशीमठ में आ जाता है। उसी मठ के नये महास्वामीजो का पट्टाभिषेक होने वाला था और उनको अभिषिक्त करने के लिये जंगमवाड़ी के जगद्गुरु श्री १००८ विश्वेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी जाने वाले थे। उन्होंने अपने शिष्य डॉ० चन्द्रशेखर शर्मा हिरेमठ द्वारा मुझे संदेश भिजवाया कि क्या मैं उखीमठ की यात्रा करना चाहता हूँ। मैंने इस अकल्पित प्रस्ताव को तुरन्त सादर स्वीकार कर लिया। डॉ० चन्द्रशेखर शर्मा कर्णाटक के गुलेदगुड्ड स्थान के अमरेश्वर मठ के अधिपति हैं। काशी में रह कर वेदान्ताचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद वे आजकल अनुसन्धान और अध्यापन कार्य में लगे हुए हैं। विद्यावारिधि (पीएच० डी०) की उपाधि प्राप्त कर इन्होंने अब वाचस्पति (डी० लिट्०) उपाधि के लिये महानिबन्ध (थीसिस) तैयार किया है।

संस्कृत में एक श्लोक है—"एकस्तपो द्विरध्यायी त्रिभिर्गानं चतुष्पथः"। तप अकेले करना चाहिये, अध्ययन दो व्यक्ति मिल कर करें, गाने में तीन व्यक्तियों का साथ जरूरी है और यात्रा कम से कम चार व्यक्तियों को मिलकर करनी चाहिये। मेरा यह दुर्भाग्य रहा है कि सारी यात्राएँ अकेले ही हुई हैं। किन्तु सौभाग्य से इस दुर्गम यात्रा में हम लोग दस व्यक्ति थे। ये थे डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य के अतिरिक्त सर्वश्री एस० जी० नन्दी (सपत्नीक), सी० जी० सालीमठ (सपरिवार), इरेशप्पा तोड़करी, प्रभुलिंग पूलगेरो और रेवणय्या करसय्या स्वामी। ये सभी लोग कर्णाटक तथा महाराष्ट्र के विभिन्न भागों से आये थे। साथ के सभी व्यक्ति मेरी देखभाल में लगे रहते थे। भगवान् केदारनाथ की वापसी यात्रा में तो होटकी के श्रीरेवणय्या ने, जब मैं थक कर चूर-चूर हो गया था, एक-एक कर मेरा सारा सामन ले लिया था और छाया की तरह वे मेरे साथ चलते रहे।

वाराणसी से हरिद्वार और हरिद्वार से हृषीकेश पहुँच कर वहाँ से हम लोग सीधे भगवान् केदारनाथ के दर्शन के लिये चल पड़े। बस गौरीकुण्ड तक जाती है। हृषीकेश पहुँचते ही आगे की यात्रा के लिये बस में आरक्षण करा लिया गया था। यहाँ से बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री और यमुनोत्री के लिये अलग-अलग बसें जाती हैं। हम लोग केदारनाथ, उखीमठ और बदरीनाथ की यात्रा कर सके। सुबह हृषीकेश से चलकर हम लोग रात्रि में गौरीकुण्ड जा पहुँचे। गौरीकुण्ड में गरम पानी का सोता है। इस जल में स्नान करने से थकावट तुरन्त दूर हो जाती है। रात्रि में वहीं विश्राम कर हम लोग दूसरे

दिन प्रातःकाल पैदल ही बाबा केदारनाथ के दर्शन के लिये निकले। यात्रा सकुशल सम्पन्न हुई। हम लोग सायंकाल बाबा की शरण में जा पहुँचे। बदरीनाथ की अपेक्षा केदारनाथ की ऊँचाई अधिक है। वहाँ प्राण वायु की कमी है। पहुँच जाने के बाद थकावट और प्राण वायु की कमी के कारण कुछ लोगों की तबियत खराब हो गई और इन लोगों को वापसी यात्रा वाहन के सहारे करनी पड़ी। मध्य रात्रि में प्राण वायु की कमी के कारण मुझे भी साँस लेने में कुछ परेशानी होने लगी, किन्तु वापसी यात्रा भी मैंने पैदल ही पूरी की। यह भगवान् केदारनाथ का अनुग्रह ही था। वापस गौरीकुण्ड आ जाने के बाद उठने की सामर्थ्य नहीं रह गई थी। हिम्मत करके मैं उठा और गौरीकुण्ड के गरम जल में स्नान करने चल पड़ा। वहाँ मैंने गरम पानी में खड़े होकर शरीर की खूब मालिश की और यह भगवान् का अनुग्रह ही था कि मेरा सारा दर्द रफूचक्कर हो गया।

रात्रि में पुनः गौरीकुण्ड में ही विश्राम कर हम लोग दूसरे दिन प्रातः उखीमठ के लिये निकले और मध्याह्न तक वहाँ पहुँच गये। पट्टाभिषेक का कार्यक्रम पूरा हो जाने के बाद हम लोग बदरीनाथ की यात्रा को निकले। सीधी बस न मिलने से हम लोगों को घुमावदार रास्ता पकड़ना पड़ा। दो बसें बदल कर और अद्भुत प्राकृतिक सौन्दर्य से अपने नेत्रों को तृप्त करते हुए हम लोग रात्रि में बदरीनाथ पहुँच गये। रात्रि में ही हम लोगों ने भगवान् का दर्शन किया और वहाँ के तप्त कुण्डों के जल से अपने को पवित्र किया। दूसरे दिन प्रातःकाल हम लोग हृषीकेश के लिये लौट पड़े। बस में बैठे एक यात्री ने कुछ सुगन्धित पुष्प ले रखे थे। उसने बताया कि यहाँ के वनों में विचरण करने वाले कस्तूरी-मृगों का यह प्रिय भोजन है। बदरीनाथ से कुछ ही दूर माना चौकी से तिब्बत की सीमा प्रारंभ होती है। आजकल चीन ने इसको अपने कब्जे में कर लिया है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि भारतीय अखबार भी इसको तिब्बती सीमा न मान चीनी सीमा लिखते हैं। मानसरोवर पर भी हमने इनका अधिकार मान लिया है। भारतीय सेना ने यहाँ की ऊँची पहाड़ी चोटियों पर सुरक्षा चौकियाँ बना रखी हैं और इस पूरे क्षेत्र की चौकसी करने के लिये वायुसेना के हेलीकाप्टर अपनी उड़ानें भरते रहते हैं।

इस यात्रा के साथ ही मेरी चार धाम की यात्रा पूरी हो गई। पहले रामेश्वर, बाद में जगन्नाथपुरी और द्वारकापुरी की यात्रा का प्रसंगवश वर्णन यहाँ आ चुका है। इस चौथे धाम की यात्रा भी उखीमठ की यात्रा के प्रसंग में पूरी हुई। अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, कांची, अवन्तिका

(उज्जैन) और द्वारका के नाम से प्रसिद्ध सात पुरियों में से अयोध्या को छोड़ बाकी पुरियों की भी यात्रा में कर चुका हूँ, किन्तु अभी बारहवें ज्योतिर्लिंग की यात्रा बची थी। मेरे वाराणसी पहुँचने के साथ ही इस यात्रा का भी उपक्रम हो चुका था।

१२. डाकिन्यां भीमशङ्करम्

काशी से प्रकाशित होने वाले संस्कृत साप्ताहिक पत्र 'गाण्डीवम्' के सम्पादक-मण्डल में मेरा भी नाम चढ़ा हुआ है। मैसूर से 'सुधर्मा' नाम का संस्कृत का दैनिक पत्र प्रकाशित होता है। १५ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में वहाँ एक आयोजन था। उसका निमन्त्रण 'गाण्डीवम्' को मिल चुका था। हमारे सुहृद्वर, जो अब नहीं रहे, श्री जगन्नाथ उपाध्याय इस पत्र के संपादक और व्यवस्थापक थे। उन्होंने मेरी घुमन्तू प्रकृति को देख मेरे लिये इस निमन्त्रण को रोक रक्खा था और मेरी स्वीकृति मिल जाने पर उन्होंने 'सुधर्मा' के व्यवस्थापकों को मेरे आने की सूचना भेज दी। इस तरह से मेरी अन्तिम ज्योतिर्लिंग के दर्शन की अभिलाषा फलवती हो उठी। मैंने डॉ० चन्द्रशेखर शर्मा शिवाचार्य को मैसूर आने की सूचना भेज दी। अभी ऊपर मैंने बताया है कि मेरी केदारनाथ यात्रा इन्हीं की सहायता से हो सकी। वे उस समय अपने गाँव गुलेदगुड्ड के अमरेश्वर मठ में थे। मैंने अपने अन्य एक-दो शिष्यों को भी, जो अब कर्णाटक के विभिन्न स्थानों में मठाधीश हैं, पत्र लिख दिये।

बम्बई के रास्ते में बंगलोर पहुँचा और वहाँ स्टेशन के पास स्थित सर्प-भूषण मठ में रात्रि का विश्राम किया। इस मठ के अधिपति श्री शिवकुमार महास्वामी जी ने काशी में अध्ययन किया था और वे श्रद्धेय गुरुदेव श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी के यहाँ आते रहते थे। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि अब वे नहीं रहे। काल की गति अति विचित्र है। प्रातःकाल स्नान-सन्ध्या से निवृत्त हो मैं मैसूर के लिये चल पड़ा। संस्कृत पत्रकार सम्मेलन आदि की गतिविधियों से जब मैं निवृत्त हुआ, तो डॉ० चन्द्रशेखर शर्मा शिवाचार्य वहाँ आ पहुँचे थे। मैसूर की पहली यात्रा में मैं चामुण्डी देवी का दर्शन नहीं कर सका था। इस बार यह सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। मैसूर के पास की पहाड़ी पर भगवती का यह मन्दिर है और वहाँ जाने के लिये दिन भर निरन्तर बसें मिलती रहती हैं। देवी के भक्तों में ईसाई पादरियों और अपने मुसलमान भाइयों को भी देख मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। पूँछने पर पता चला कि यहीं नहीं, छत्रपति शिवाजी की आराध्या तुलजा भवानी के मन्दिर के

कपाट भी सबके लिये खुले हैं। अनेक मुसलमान परिवारों की वह कुल-देवी हैं।

डॉ० चन्द्रशेखर शर्मा शिवाचार्य के साथ रात्रि की बस से दूसरे दिन हम प्रातः हुबली और वहाँ उनके एक शिष्य के यहाँ स्नान-सन्ध्या आदि से निवृत्त हो रेल के रास्ते इनके गाँव गुलेदगुड्ड जा पहुँचे। मुझे आश्चर्य हुआ कि उस गाँव में राजस्थान के अनेक व्यापारी परिवार रोजी-रोटी के लिये बसे हुए हैं। दक्षिण में शैव और वैष्णव का भेद कुछ अधिक मुखर है। मैंने ललाट पर भस्म लगा रखी थी। एक वैष्णव मन्दिर में जब मैंने तुलसीदल और चरणामृत का प्रसाद लिया तो साथ के राजस्थानी बन्धु को कुछ आश्चर्य हुआ। औदीच्य शैव तो हैं, किन्तु वे पंचायतन पूजा के पुरोधा हैं। मुझे ऐसा लगता है कि पंचायतन पूजा के प्रवर्तक हमारे पूर्वज ही हैं।

दूसरे दिन पहले हमारे शिष्य, किन्तु अब अनेक मठों के अधिपति श्री संगम वसवदेव महास्वामी जी के प्रतिनिधि के रूप में श्री गुरुपाद स्वामी कार लेकर वहाँ आ गये। पहले हम शिवयोग मन्दिर पहुँचे, जहाँ आजकल स्वामी जी टिके हुए थे। वे यहाँ के व्यवस्थापकों में से एक हैं। रास्ते में कोटिलिंग तीर्थ का तथा वहाँ स्थित पुष्करिणी का दर्शन किया। शिवयोग मन्दिर मलप्रभा नदी के तट पर एक सुन्दर आश्रम है। वीरशैव सम्प्रदाय के बटुकों को यहाँ संस्कृत भाषा और स्व-सम्प्रदाय की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। यहाँ बनाये गये भस्म के गोले अति पवित्र माने जाते हैं। भस्म बनाने की सारी प्रक्रिया को मैंने बड़े मनोयोग से देखा।

हम लोग श्रावणी के दिन हेमाद्रि संकल्प पढ़ते हैं। यहाँ पवित्र नदियों के प्रसंग में घटप्रभा और मलप्रभा का भी उल्लेख है, इसका भान मुझे अगली श्रावणी के अवसर पर हुआ। ये दोनों नदियाँ कर्णाटक की भूमि को समृद्ध बनाती हैं। शिवयोग मन्दिर में थोड़ा विश्राम करने के बाद हम लोग बादामी की ऐतिहासिक गुफाओं को देखने चले गये। बीच में वनशंकरी देवी के पवित्र स्थान में रुक कर हम लोगों ने भगवती की आराधना की। हाथी-गुम्फा (एलीफेंटा), एलोरा और अजन्ता के समान बादामी में भी गुफा मन्दिर हैं। इनमें तीन डग में त्रिलोकी को नापती भगवान् वामन की अद्भुत मूर्ति के भी दर्शन हुए। शिवयोग मन्दिर के पास ही एक स्थान है - पट्टदकल। यहाँ भारत के अति प्राचीन मन्दिर अब भी पूरी तरह से सुरक्षित हैं। यह स्थान महाकवि भारवि की लीलास्थली रहा लगता है। उनके नाम का उल्लेख करने वाला शिलालेख यहाँ से कुछ ही दूरी पर स्थित एक प्राचीन बस्ती में मिला है। मैं वहाँ जा न सका।

दो दिन की इस चिरस्मरणीय यात्रा को पूरा कर मैं वापस गुलेदगुड्ड चला आया और वहाँ एक-दो दिन विश्राम करने के उपरान्त वहाँ से रेल मार्ग द्वारा बीजापुर जा पहुँचा। यहाँ मैं पहले भी आया था, किन्तु विलम्ब से पहुँचने के कारण हम लोग यहाँ की अनोखी इमारत 'गोल गुम्बद' को ऊपर चढ़ कर देख नहीं सके थे। यहाँ एक बार की गई ध्वनि सात बार प्रतिध्वनित होती है। सभी ने अनुभव किया होगा कि नदी या तालाब के किनारे कपड़ा धोते समय उसकी प्रतिध्वनि सामने किनारे सुनाई पड़ती है या पहाड़ की तलहटी में दी गई आवाज पहाड़ से टकरा कर वापस लौट आती है। ऐसा एक दो बार ही होता है, किन्तु इस इमारत की ऐसी बनावट है कि एक बार की गई आवाज हमें सात बार सुनाई पड़ती है। गोल गुम्बद के एक सिरे पर लगाई गई घड़ी की टिक-टिक आवाज उस पार सामने बैठे आदमी को साफ सुनाई पड़ती है। आप दीवाल के सहारे धीरे से कुछ बोलिये, दूसरी तरफ दीवाल पर कान लगाये बैठा व्यक्ति उसे साफ सुन लेगा और उसके दिये जवाब को आप साफ सुन लेंगे।

बीजापुर से मैं सोलापुर पहुँचा और यहाँ से बस द्वारा चल कर पहाड़ी पर बसे तुलजापुर में तुलजा भवानी के दर्शन किये। तुलजा भवानी से ही छत्रपति शिवाजी को वह तलवार मिली थी, जिसके सहारे उन्होंने औरंगजेब के छक्के छुड़ा दिये थे। सोलापुर में मैं श्री वसवराज शास्त्रीजी के यहाँ ठहरा था। दूसरे दिन सायंकाल यहाँ आकर मेरी केदार-बदरी यात्रा के साथी श्री सी० जी० सालीमठ मुझे अपने घर ले गये और उसी रात्रि को हम लोग मन्त्रालय में स्वामी राघवेन्द्र द्वारा स्थापित भगवान् राम और हनुमान् के विग्रह का दर्शन करने चल पड़े। तुंगभद्रा नदी के तट पर यह पवित्र तीर्थ स्थित है। मध्व सम्प्रदाय का मन्दिर होने पर भी इसे केवल कर्णाटक में ही नहीं, पूरे दक्षिण भारत में प्रसिद्धि मिली हुई है।

मैं फिर भटक गया। चला था भीमशंकर ज्योतिर्लिंग की यात्रा का परिचय देने, किन्तु मैं उल्टे रास्ते चल पड़ा। यह रास्ता तब सरल हुआ, जब हम लोग मन्त्रालय से वापस सोलापुर आकर पूने के लिये निकले। पूना हम लोग प्रातःकाल ही आ गये और फिर तुरन्त बस स्टेशन पहुँच कर भीमशंकर जाने वाली बस पर सवार हो गये। एक बार शिवरात्रि के अवसर पर मैं बम्बई में था और गणेशपुरी के सन्त स्वामी मुक्तानन्द जी का दर्शन करने वहाँ गया था। यहाँ भी वज्रेश्वरी के मन्दिर के पास तथा स्वामी नित्यानन्द जी की तपोभूमि के पास गरम पानी के सोते हैं। शिवरात्रि के दिन मैं भीमशंकर जाने की सोच रहा था, किन्तु जितने मुँह उतनी बात के अनुसार बम्बई से वहाँ

कैसे पहुँचा जा सकता है, इसके लिये अलग-अलग विवरण सुन कर मैं निराश हो गया और बम्बई के पास अम्बरनाथ स्थित भगवान् शिव का दर्शन करके मैंने सन्तोष कर लिया। अब पता चला कि बम्बई से प्रतिदिन प्रातःकाल भीमशंकर के लिये चल कर बस सायंकाल पूना पहुँच जाती है और पूना से इसी रास्ते चलकर बस बम्बई पहुँचती है। सालीमठ इस यात्रा में मेरे साथ थे और हमने भीमा नदी के उद्गम स्थल पर स्थित भगवान् भीमशंकर ज्योतिर्लिंग के दर्शन कर अपने जीवन को कृतार्थ किया। यह स्थल डाकिनी क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसी लिये "डाकिन्यां भीमशङ्करम्" कह कर इनका परिचय दिया गया है। इस प्रकार मेरी द्वादश ज्योतिर्लिंग की यह यात्रा सन् १९३६ से प्रारम्भ होकर पचास वर्ष बाद सन् १९८५ में पूरी हुई। "जीवन् नरो भद्र-शतानि पश्येत्" आदमी जीवित रह कर अनेक अच्छी बातें देखता है। किन्तु सचाई इतनी ही नहीं है। जीवित व्यक्ति को अनेक कड़वी घटनाओं का भी सामना करना पड़ता है। मुझे भी अपने चौथे जामाता श्री सुधीरकुमार अरुण-प्रसाद त्रिवेदी के सिद्धपुर के पास हुई सड़क दुर्घटना में कालकवलित हो जाने का हृदयविदारक समाचार सुनना पड़ा।

इस यात्रा का विवरण यहाँ शिवपुराण वर्णित क्रम से न देकर सम्पन्न हुई यात्रा के क्रम के अनुसार दिया गया है। पाठकों को मैंने बहुत उलझाये रखा। अब कुछ बातें और लिख कर मैं इसके लिये आपसे क्षमा माँगना चाहता हूँ, बिदा लेना चाहता हूँ।

मैंने कामरूप क्षेत्र (गोहाटी) स्थित कामाख्या देवी की, उदयपुर, जोधपुर और बीकानेर के पुस्तकालयों, राजमहलों, संग्रहालयों और अन्य दर्शनीय स्थानों की, उदयपुर के आसपास के प्रसिद्ध तीर्थों के अतिरिक्त वहाँ की प्रसिद्ध झीलों राजसमन्दर और जयसमन्दर की, बुद्ध की महापरिनिर्वाण-स्थली कुशीनगर की, होशियारपुर के वैदिक शोधसंस्थान के समृद्ध पुस्तकालय तथा उसके आसपास स्थित चिन्तपूर्णी देवी और भगवती ज्वालामुखी की, आजकल के नये तीर्थ भाकड़ा बांध की, वैष्णो देवी की और जम्मू स्थित रघुनाथ मन्दिर की, खजुराहो के शैव और जैन मन्दिरों की एवं मर्यादा पुरुषोत्तम राम की वनवास की विश्राम स्थली चित्रकूट की भी यात्रा की है। पुष्कर सरोवर की सीढ़ियों पर बने एक मकान में पूरे सप्ताह भर रहने का भी मुझे सु-अवसर मिला है। यह सब कैसे हो सका, मुझे स्वयं ही आश्चर्य लगता है।

मेरी किशोरावस्था के एक दो अंग्रेजीदां साथी मुझे बड़ा बेवक़ूफ समझते थे, शायद मैं ऐसा था भी। संस्कृत का पण्डित होने के नाते अब भी मेरे प्रति उसी मनोवृत्ति के कुछ सम्बन्धियों की वही दृष्टि हो सकती है, किन्तु

धार्मिक स्थलों के साथ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि से समृद्ध स्थानों की यात्रा करना और पवित्र नदियों में स्नान करना मेरी हावी रही है। हमारे वरिष्ठ सहयोगी पं० श्री रामनरेश मिश्र श्रीरंगम् में मात्र देवदर्शन कर चले जाना चाहते थे। यहाँ दक्षिण की पवित्रतम नदी कावेरी बहती है। मैं नदी में स्नान करने की पूरी तैयारी करके चला था। मेरे इस आग्रह को देख कर कि आपके साथ देवदर्शन कर मैं कावेरी में स्नान करने के उपरान्त पुनः देवदर्शन करूँगा, अन्ततः उन्होंने भी स्नान करने के उपरान्त ही देवदर्शन करना स्वीकार कर लिया था। ज्वालामुखी देवी के मन्दिर-परिसर में ऊपर पहाड़ से बह कर आते जलस्रोत से एक कुण्ड बन गया है। बस के एक साथी को देवी के दर्शन कर वापस जाने की जल्दी थी और मैंने कहा कि मैं तो इस कुण्ड में स्नान करने के उपरान्त ही देवी के दर्शन करूँगा। इस पर वह मेरा साथ छोड़ कर चला गया। किन्तु कुछ ही क्षणों में वह वापस आया और उसने कहा कि अभी तो देवी के कपाट बन्द हैं। जब हम स्नान करके वहाँ गये, तब देवी के मन्दिर के कपाट खुल चुके थे।

मैसूर के कृष्णसागर बाँध को देखते समय जो घटना घटी और जोग फाल से गोकर्ण जाते समय जब कार उलट गई, तब विचार किया था कि अब अकेले यात्रा नहीं करनी चाहिये। सोमनाथ से द्वारकापुरी जाते समय बस में बैठे एक बाबा ने मुझे पूँछा था कि पत्नी के रहते तुम अकेले यात्रा क्यों कर रहे हो, किन्तु अभी पिछले वर्ष जब मैं एक विचार-गोष्ठी में संमिलित होने कर्णाटक राज्य में गया, तो शिवरात्रि के अवसर पर हम्पी स्थित भगवान् विरूपाक्ष के दर्शन कर लेने से अपने को रोक न सका। हम्पी विजयनगर साम्राज्य की राजधानी रही है। सायणाचार्य ने वेदभाष्यों की रचना यहीं की थी और यहाँ के विरूपाक्ष शिव के मन्दिर में ही विद्यारण्य स्वामी की मूर्ति स्थापित है। तुंगभद्रा नदी के तट पर यह पवित्र स्थान स्थित है और इससे कुछ ही दूरी पर दुनियाँ के सबसे बड़े ध्वंसावशेषों में से एक विजयनगर साम्राज्य का वैभव दूर-दूर तक बिखरा पड़ा है। पम्पा सरोवर और शबरी का आश्रम यहाँ से बहुत दूर नहीं है।

सादर सस्नेह अभिवादन के साथ बिदा! बिदा!!

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां परस्परम्।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः॥

•

काष्ठमण्डप (काठमाण्डू) स्थित भगवान् पशुपतिनाथ

नेपाल की राजधानी का नाम काठमाण्डू इसलिये पड़ा कि वहाँ काष्ठ (लकड़ी) का एक पूरा विशाल मण्डप किसी एक ही वृक्ष की लकड़ी का बना है। यह मण्डप गोरक्षनाथ को समर्पित है। इस मण्डप के मध्य में गोरक्षनाथ और चारों कोनों में चार गणेश अवस्थित हैं। कनफटा नाथयोगी तान्त्रिक विधि से यहाँ उनकी पूजा करते हैं। इसी के आसपास मत्स्येन्द्रनाथ का भी मन्दिर है। श्वेत काली और रक्त काली की तरह यहाँ मत्स्येन्द्रनाथ के भी श्वेत और रक्त दो रूपों की अलग-अलग स्थानों पर उपासना होती है। आगे इनकी चर्चा होगी।

काठमाण्डू घाटी चारों तरफ पहाड़ों से घिरी हुई है। पहले इसमें चार विभिन्न राजवंश राज्य करते थे। आज भी काठमाण्डू, कीर्तिपुर, ललितपुर पाटन और भक्तपुर—ये चार नाम उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। कीर्तिपुर का अब काठमाण्डू में समावेश हो गया है। ललितपुर पाटन और भक्तपुर की अपनी अलग सत्ता और विशेषता अब भी पूर्ण रूप से सुरक्षित है। तीन अलग-अलग जनपदों (जिलों) के रूप में ये पहचाने जाते हैं। कुल मिला कर इन तीन जिलों में आठ संग्रहालय (म्यूजियम) हैं। भारतीय संस्कृति की विशेषता अनेकता में एकता और एकता में अनेकता के दर्शन यहाँ पद-पद पर होते हैं।

द्वादश ज्योतिर्लिंग की यात्रा का विवरण अभी आपने पढ़ा होगा। दक्षिण भारत में भगवान् शिव के पाँच भूतलिंग विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। "काल-हस्तीश्वरसुप्रभातम्" में उनका वर्णन इस प्रकार है—

मृल्लिङ्गरूपमभवत् शिव आम्रनाथः
अब्लिङ्गरूपमभवत् खलु जम्बुकेशः।
लिङ्गं च तैजसमभूत् त्वरुणाचलेशः
श्रीकालहस्त्यधिपतिः खलु वायुलिङ्गम् ॥
आकाशलिङ्गमभवत् स चिदम्बरेशः

इनमें से आम्रनाथ अथवा एकाम्रनाथ का मन्दिर कांची में, जम्बुकेश का मन्दिर त्रिचनापल्ली (श्रीरंगम्) के पास, कालहस्ति का मन्दिर तिरुपति (बालाजी) के पास और चिदम्बरम् में भगवान् नटराज का मन्दिर स्थित है।

'तन्त्रयात्रा' में हमने अपनी एकाम्रनाथ, कालहस्ति और चिदम्बरम् की यात्रा के प्रसंग में इनका उल्लेख किया है।

महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रारंभ में अष्टमूर्ति भगवान् शिव की स्तुति की है। इनमें ऊपर के पाँच भूतलिंगों के अतिरिक्त चन्द्र, सूर्य और यजमान मूर्तियों की गणना की जाती है। दक्षिण भारत में गोकर्ण स्थित शिवलिंग को ही यजमान मूर्ति की मान्यता प्राप्त है। यह अतिप्राचीन स्थान है। कालिदास के रघुवंश में इसका उल्लेख है। शिव की इन आठ मूर्तियों का परिचय 'कल्याण' के 'शिवांक' (पृ० ५६३-५६६) में देखा जा सकता है। वहाँ यजमान मूर्ति के रूप में नेपाल स्थित भगवान् पशुपतिनाथ का ही वर्णन है, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ के पुजारियों का मूल स्रोत गोकर्ण ही है।

पशुपतिनाथ का विग्रह उदयपुर के पास स्थित भगवान् शिव के एकलिंग विग्रह के समान ही पंचमुखी शिवलिंग है, चारों दिशाओं में चार और एक ऊर्ध्वमुख। शक्तिसंगम तन्त्र (१।८।१४१) में एकलिंग शब्द का विशेष अर्थ बताया गया है। पाशुपत मत और शैवागमों में इन मुखों के नाम ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव हैं। "ईशानः सर्वविद्यानाम्, तत्पुरुषाय विद्महे, अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यः, सद्योजातं प्रपद्यामि, वामदेवाय" इन पाँच मन्त्रों से शैव मत के अधिकांश अनुयायी परिचित होंगे। लकुलीश के पाशुपत सूत्र के पाँच अध्यायों में क्रमशः इनकी व्याख्या की गई है और कौण्डिन्य के पंचार्थ-भाष्य में इनका विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है। अनेक पुराणों में वर्णित २८ शैवाचार्यों में लकुलीश अन्तिम हैं। इनका आविर्भाव बड़ोदरा के पास कायावरोहण (कारवण) में हुआ था और इन्हीं की शिष्यपरम्परा में हारीत मुनि ने मेवाड़ के अधिष्ठाता के रूप में एकलिंग जी की स्थापना की थी। लकुलीश की शिष्यपरम्परा में उदिताचार्य ने मथुरा में शिवलिंग प्रतिष्ठित किया था। आगम और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में बताया गया है कि भगवान् शिव के इन पाँच मुखों से ही क्रमशः सिद्धान्त शैव, गारुड, भैरव (दक्षिण), भूत और वाम तन्त्रों का स्रोत प्रवाहित हुआ था।

इस पृष्ठभूमि में अब हम चले काठमाण्डू की यात्रा पर। वाराणसी से काठमाण्डू तक की हवाई उड़ान में कुल ४५ मिनट लगते हैं, किन्तु उन दिनों भारतीय हवाई कम्पनियों के जहाजों के कुवैत और इराक से लौट रहे तथाकथित भारतीयों को लाने में व्यस्त रहने के कारण हमें लगभग पूरा दिन वाराणसी के हवाई अडडे पर ही बिता देना पड़ा। आते समय इतनी खराब

हालत नहीं थी, तो भी हम निश्चित समय से चार-पाँच घण्टा देर से ही घर पहुँच सके। हम ३ अक्टूबर, सन् १९९० ई० को काशी से चले थे और १३ अक्टूबर को वापस आये। इन दिनों में हमने प्रायः प्रतिदिन नेपाल के राजकीय अभिलेखागार में संगृहीत हस्तलेखों (पोथियों) और उनके छाया चित्रों (माइक्रोफिल्म) का अवलोकन किया।

नेपाल हस्तलेखों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध राष्ट्र है। नेवारी लिपियों में लिखा आगम, तन्त्रशास्त्र और बौद्ध वाङ्मय का विपुल संग्रह यहाँ आज भी उपलब्ध है, जब कि अन्यत्र इनकी संख्या नहीं के बराबर है। नेवारी लिपि के रंजना, वर्तुल, भुजिमोल, रितुमोल आदि अनेक भेद हैं। रंजना और वर्तुल लिपि को मिलाकर ही तिब्बती लिपि बनाई गई थी। इन लिपियों का परिचय राजस्थान के महान् सपूत श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के ग्रन्थ "प्राचीन भारतीय लिपिमाला" से प्राप्त किया जा सकता है। इन लिपियों को पढ़ पाना अब धीरे-धीरे टेढ़ी खीर होता जा रहा है। प्राचीन बंगला और मैथिली लिपि की भी यही दशा है। इन सभी लिपियों को पढ़ने वाले विद्वान् पहले काशी में पर्याप्त मात्रा में मिल जाते थे। अब इनकी संख्या तेजी से घटती जा रही है। इतना सब होते हुए भी जापान, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में यहीं से ले जाई गई पाण्डुलिपियों के आधार पर आगम, तन्त्रशास्त्र और बौद्ध वाङ्मय पर गम्भीर अनुसन्धान कार्य चल रहे हैं और उन ग्रन्थों का रोमन लिपि में प्रकाशन हो रहा है। यूरोप के अनेक देशों में पहले वैदिक वाङ्मय और पालि त्रिपिटक पर कार्य होता रहा है। आजकल यूरोप के इन देशों के साथ जापान और अमेरिका में भी तन्त्रशास्त्र पर विशेष कार्य हो रहा है। वैदिक वाङ्मय देवनागरी लिपि में छपा, किन्तु अब देवनागरी का स्थान रोमन लिपि ने ले लिया है। क्या यह हमारे लिये चिन्ता की बात नहीं है ?

राजस्थान के निवासी जानते होंगे कि बहुरूपिया जब किसी बस्ती में पहुँचता है, तो वह कुम्हार के घर में ही डेरा डालता है और वहीं से नाना प्रकार के भेष बना कर प्रतिदिन अलग-अलग रूपों में निकलता है। कभी-कभी बहुरूपिया भेष बना कर निकला है, इसको पहचान पाना मुश्किल हो जाता है। तन्त्रशास्त्र का कुलालिकाम्नाय भी कुलाल (कुम्हार) नाम से जुड़ा है। ऐसा क्यों है ? इस विषय का शायद अभी अध्ययन नहीं हो पाया है। इस आम्नाय की देवी कुब्जिका है। ऊपर पाँच प्रकार के शैवागमों की चर्चा की गई है। इसी तरह से आम्नायों के भी पाँच अथवा छः भेद माने जाते हैं। इनकी गणना प्राय शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत की जाती है। भारत में कुलालिकाम्नाय के ग्रन्थ गिने-चुने ही मिलते हैं, किन्तु हालैण्ड की एक संस्था ने इस सम्प्रदाय

(पश्चिमाम्नाय) के लगभग सौ ग्रन्थों की अनेक मातृकाएँ इकट्ठी कर ली हैं और अब वे इनका प्रकाशन भी कर रहे हैं। कुब्जिकामत नामक ग्रन्थ के नेपाल और भारत में दो तरह के संस्करण उपलब्ध हैं। एक छः हजार श्लोक वाला और दूसरा साढे चार हजार श्लोक वाला। ये दोनों ग्रन्थ पूरे अथवा अधूरे रोमन लिपि में वहाँ से प्रकाशित हो चुके हैं।

जापान, अमेरिका और जर्मनी ने हस्तलेखों के संग्रह के लिये काठमाण्डू में अपने-अपने कार्यालय खोल लिये हैं। इनमें जर्मनी की संस्था सबसे समृद्ध और व्यवस्थित है। इस संस्था ने यहाँ के सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत संग्रहों में सुरक्षित हस्तलेखों के भी छाया-चित्र (माइक्रोफिल्म) तैयार कर लिये हैं और उनकी एक प्रति राजकीय अभिलेखागार में तथा दूसरी प्रति जर्मनी में सुरक्षित कर दी गई है। इनकी सहायता से कोई भी व्यक्ति अपने अभीष्ट ग्रन्थ की छाया-प्रति प्राप्त कर सकता है। हमारे फ्रांसीसी मित्र डॉ० आन्द्रे पादु के सहयोग से हमें जर्मनी से विद्यानन्दकृत ज्ञानदीपविमर्शिनी की दो जिराक्स प्रतियाँ और योगिनीहृदयदीपिका की भी दो प्रतियाँ प्राप्त हो सकी हैं, जिनके आधार पर कि इन ग्रन्थों को प्रकाशित किया गया है अथवा किया जा रहा है। इसके लिये हम इनके आभारी हैं। जापान और अमेरिका ने भी यहाँ के हस्तलेखों का अच्छा संग्रह किया है और इनकी सूचियाँ भी छापी हैं। जर्मन संस्था ने तो अक्षर क्रम से इन सब ग्रन्थों के कार्ड भी बना रखे हैं। इससे अभीष्ट ग्रन्थ को खोजने में बड़ी सुविधा होती है।

हस्तलेखों की खोज में और वहाँ के विभिन्न विषयों के विशिष्ट विद्वानों के मिलने में ही अधिकांश समय बीत जाने के कारण हम काठमाण्डू घाटी के सभी प्राचीन राज्यों की यात्रा न कर सके। केवल काठमाण्डू और ललितपुर पाटन के ही विशिष्ट देवस्थानों की यात्रा हो पाई। "एकस्तपो द्विरध्यायी त्रिभिर्गानं चतुष्पथः" इस शास्त्रवचन के अनुसार इस यात्रा में हम पाँच व्यक्ति सम्मिलित थे। इनमें से एक थे भारतीय लिपियों के विशेषज्ञ पं० जनार्दन शास्त्री पाण्डेय। ये मेरे साथ सिद्धपुर की भी यात्रा कर आये हैं और वहाँ साहित्य वर्तुल में हमारे संमान्य श्री अरुणप्रसाद वि० त्रिवेदी जी के आग्रह पर भारतीय लिपियों पर एक व्याख्वान भी दे चुके हैं। अन्य व्यक्ति थे श्री पाण्डेय जी की सुपुत्री डॉ० सुषमा पाण्डेय और दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध-योजना के सदस्य डॉ० बनारसी लाल एवं श्री विजयराज वज्राचार्य। चार नेपाली नागरिक भी, जिन्होंने काशी में आकर हमसे विद्याध्ययन किया था अथवा कर रहे हैं, इस प्रवास में हमारे सहायक थे।

हम लोग अवकाश के दिन प्रातःकाल ही भगवान् पशुपतिनाथ के दर्शन के लिये चल पड़े। यहाँ यह स्मरणीय है कि नेपाल में साप्ताहिक अवकाश रविवार को न होकर शनिवार को रहता है। देवदर्शन से पहले यदि वहाँ कोई नदी है, तो उसमें स्नान अवश्य करना, यह अपना कुछ नियम सा बन गया है। यहाँ भी वागमती नदी में स्नान कर सबसे पहले हमने भगवती गुह्येश्वरी का दर्शन किया। वागमती नदी पशुपतिनाथ के मन्दिर के पास से ही होकर बहती है, किन्तु यहाँ की अपेक्षा गुह्येश्वरी के मन्दिर के निकट इसका जल अधिक निर्मल है। गुह्येश्वरी और भगवान् पशुपतिनाथ के मन्दिरों के बीच एक पहाड़ी है। मृगस्थली के नाम से यह प्रसिद्ध है। इस पहाड़ी की बगल से भी पशुपतिनाथ जाने का रास्ता है, किन्तु इस पहाड़ी पर मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि नाथ-योगियों के स्थानों के अतिरिक्त भगवान् विश्वरूप का भी एक प्राचीन मन्दिर है। अतः हम लोगों ने इन सब देवस्थानों का दर्शन करने के उपरान्त ही भगवान् पशुपतिनाथ के दर्शन का मन बनाया। भगवान् विश्वरूप के स्वरूप की चर्चा कश्मीर से प्रकाशित नेत्रतन्त्र में मिलती है। यहाँ की मूर्ति नेत्रतन्त्र में वर्णित ध्यान से बहुत कुछ मिलती हुई सी है।

ध्यान देने की बात यह है कि काठमाण्डू घाटी में वैदिक धर्म की अपेक्षा तान्त्रिक धर्म अधिक मुखर है और जनता के जीवन के साथ भी यह घुला-मिला है। बौद्ध धर्म का और शैव-शाक्त उपासना पद्धति का अनुसरण करने वाली प्रजा सभी देवस्थानों में समान श्रद्धा से दर्शन करने जाती है। स्वयंभूनाथ और गुह्येश्वरी मन्दिर में यह प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। मांस और मदिरा का यहाँ खुल कर उपयोग होता है। शाक-सब्जियों की तरह यहाँ बकरियों का भी बाजार लगता है। महार्थमंजरी के लेखक महेश्वरानन्द ने विधि और निषेध की अपनी अलग व्याख्या प्रस्तुत की थी। उसका स्वरूप यहाँ देखने को मिलता है। एक वैष्णव के लिये प्याज, लहसुन आदि पदार्थ निषिद्ध हैं, किन्तु यहाँ उसका उलटा है। यहाँ बिना लहसुन-प्याज के तरकारी बनाने वाले को पाप का भागी माना जाता है। कैसी विचित्र है, यह पाप की परिभाषा। यहाँ रोटी का उपयोग नहीं के बराबर होता है। हमें चकला, बेलन और तवा जुटाने में लगभग २४ घंटे का समय लगा था। दूध-दही का हमें वहाँ अभाव ही नजर आया। तब एक सौ भारतीय रूपयों की कीमत १६८ नेपाली रु० के बराबर थी और वहाँ के पाँच रुपये का दही काशी के एक रुपये में मिले दही की बराबरी का नहीं था।

स्नान-सन्ध्या और भगवती गुह्येश्वरी एवं मृगस्थली स्थित देवमन्दिरों के दर्शन के उपरान्त जब हम भगवान् पशुपतिनाथ के मन्दिर में पहुँचे, तब वह समय हो गया था, जब देव-दर्शन के लिये मन्दिर के चारों द्वार खुल जाते हैं। अत्यधिक भीड़ के कारण हम केवल दो द्वारों से भगवान् के वामदेव (उत्तर) और सद्योजात (पश्चिम) मुख का दर्शन कर सके। मन्दिर परिसर में अन्य अनेक देवमूर्तियों के अतिरिक्त भगवान् भैरव की भी एक अद्भुत मूर्ति है।

स्वयम्भूनाथ का मन्दिर एक पहाड़ी पर स्थित है। वस्तुतः यह एक बौद्ध स्तूप है। तन्त्रशास्त्र में परलिंग के साथ भगवान् शिव के स्वयंभू, बाण और इतर लिंग भी प्रसिद्ध हैं। स्वयम्भू पुराण में स्वयम्भूनाथ की अपार महिमा गाई गई है। काठमाण्डू घाटी के प्रतिष्ठापक और रक्षक ये ही माने जाते हैं। कहा जाता है कि यह पूरी घाटी पहले जलमय थी। कमल-पुष्प पर विराजमान स्वयम्भूनाथ यहाँ स्वयं प्रकट हुए और उन्होंने इस पूरी घाटी के जल को अपने वज्र के प्रहार से बाहर कर इसे सुन्दर घाटी का रूप दे दिया। बौद्ध धर्म के अनुयायी इन्हें आदिबुद्ध महामंजुश्री का अवतार मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण में जल को भी वज्र कहा गया है। वज्र की ही तरह जल की भी शक्ति अनोखी होती है। राजस्थान में टोडा रायसिंह के पास बनास नदी के तट पर गोकर्णनाथ महादेव का प्राचीन स्थान है। यहाँ बनास नदी ने दो जगहों पर पूरे पहाड़ को काट कर अपना रास्ता बनाया है। इन दोनों ही जगहों पर अथाह पानी के ह्रद (दह) बन गये हैं। यह आश्चर्य की ही बात है कि भगवान् गोकर्णनाथ के सामने वाले दह में कभी मगर नहीं आते और उससे थोड़ी ही दूर स्थित दह में उनकी भरमार है। राजस्थान के अजमेर शहर के लिये पानी यहीं से उपलब्ध कराया जाता है। अब रास्ते के केकड़ी, नसीराबाद आदि कश्बे भी उससे लाभान्वित हो रहे हैं।

स्वयम्भूनाथ का मन्दिर जिस पहाड़ी पर स्थित है, उसके नीचे थोड़ी ही दूर पर छावनी का मैदान है। इसीके पास काठमाण्डू राज्य का एक भव्य संग्रहालय विद्यमान है। काठमाण्डू घाटी में स्थित आठ संग्रहालयों में से यह एक है। नेपाल में प्रचलित तान्त्रिक धर्म के उपादानों—मूर्तियों, चित्रों और पूजा के उपकरणों के संग्रह से यह अतिसमृद्ध है। अन्य संग्रहालयों को हम देख न सके। हालैण्ड (यूरोप) की एक घटना के बाद हमें अब यह भी कहने का साहस नहीं हो पा रहा है कि एक चावल को देखकर जैसे सारे चावल पक गये हैं या नहीं, इस बात का सहज अनुमान हो जाता है, उसी तरह से किसी

देश से एक संग्रहालय को देखकर अन्य संग्रहालयों के विषय में भी जानकारी मिल जाती है। अनायास ऊपर के दृष्टान्त के आधार पर मेरे मुँह से निकली इस बात का हालैण्ड के उच्छ्रेष्ट विश्वविद्यालय में कार्यरत हमारे मित्र प्रोफेसर डॉ० तून गान्द्रियान ने प्रतिवाद किया कि चावल के दाने के उदाहरण से आप संग्रहालयों की समृद्धि का अन्दाजा नहीं लगा सकते। मुझे उनकी यह बात सही लगी। चावल एक सरीखे पकाये जाते हैं। उनके उदाहरण से हम अनेक विविधताओं से भरे संग्रहालयों की एक से एक अद्भुत सामग्रियों का अनुमान नहीं लगा सकते।

मैंने इंग्लैण्ड की एक हजार वर्ष पुरानी आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी की नगरी के म्यूजियम का और लन्दन नगरी में स्थित ब्रिटिश म्यूजियम का भी अवलोकन किया है। इन दोनों के आकार में ही नहीं, सामग्री की विविधता में भी भारी अन्तर था। यह भी सही है कि कुछ सामान्य बातें भी थीं, किन्तु इस समानता के आधार पर हम सारी विशेषताओं का मूल्यांकन नहीं कर सकते। ब्रिटिश म्यूजियम की यह विशेषता है कि यहाँ भारत, यूनान, मिस्र, मैसोपोटामिया, चीन आदि विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों की प्राचीन संस्कृति को उजागर करने वाली सामग्री अलग-अलग खण्डों में संगृहीत है। हम लोग तीन घंटों में केवल यूनान और मिस्र की समृद्ध संस्कृति के ही दर्शन कर सके। इस परिप्रेक्ष्य में हमारे मित्र डॉ० तून गान्द्रियान की उक्ति हमें सही लगी।

उनको इस बात का दुःख था कि वे हालैण्ड की औद्योगिक नगरी एम्स्टर्डम में, जो कि पूरे विश्व के साथ हवाई यातायात द्वारा जुड़ी हुई है, स्थित संग्रहालय और एक भव्य गिरिजाघर को अवकाश का दिन होने के कारण दिखला न सके। हालैण्ड में डम नाम वाले अनेक शहर हैं। इस देश का नाम नीदरलैण्ड भी है। यह नाम इस लिये है कि इस देश की भूमि की सतह अनेक जगहों पर समुद्र की सतह से नीची है। ऐसी जगहों पर बड़े-बड़े बाँध बाँध दिये गये हैं और ऐसी व्यवस्था कर दी गई है कि आवश्यकता से अधिक पानी हो जाने पर उसे पम्पों की सहायता से समुद्र में फेंक दिया जाता है। बाढ़ से बचाव के लिये पूरे देश में नहरों का जाल बिछा दिया गया है और नदियों के पूर (बाढ़) को उस तरफ मोड़ दिया जाता है, जहाँ पानी की कमी है। अन्ततः मात्रा से अधिक सारा पानी समुद्र में पहुँचा दिया जाता है। यूरोप की कुछ नदियाँ हालैण्ड में आकर समुद्र में मिलती हैं। किन्तु वहाँ का इतिहास बताता है कि इस व्यवस्था के चलते वहाँ विगत ७५ वर्षों में कोई बाढ़ नहीं आई है।

काठमाण्डू से मैं आप लोगों को यूरोप ले गया। अब वापस काठमाण्डू आ जाना चाहिये।

काष्ठमण्डप की हमने प्रारम्भ में ही चर्चा की है। इसके आस-पास का क्षेत्र धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अतिसमृद्ध है और यह हनुमान ढौका के नाम से प्रसिद्ध है। इसी के एक तरफ इन्द्र चौक और दूसरी तरफ वसन्तपुर है। वसन्तपुर में नेपाल के संस्कृत विश्वविद्यालय का कार्यालय है। यहाँ हमारी विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा अन्य अधिकारियों से मुलाकात हुई। उसी से लगा है कुमारी मन्दिर। यहाँ शास्त्रीय पद्धति से अभिषिक्त कुमारी कन्या निवास करती है। निश्चित अवसरों पर नेपालनरेश यहाँ आकर देवी के रूप में इनकी पूजा करते हैं। इस कुमारी मन्दिर के सामने नेपाली शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने के रूप में कुछ भवन बने हुए हैं। एक भवन के झरोखे से झाँकते हुए भगवान् शिव और जगन्माता पार्वती को अंकित किया गया है। इन्द्र चौक में भगवान् इन्द्र का मन्दिर है। भाद्र शुक्ल पक्ष में यहाँ इन्द्र की यात्रा निकलती है। यहीं श्वेत मत्स्येन्द्रनाथ का मन्दिर है। रक्त मत्स्येन्द्रनाथ का मन्दिर ललितपुर पाटन में है। छः मास तक ये मत्स्येन्द्रनाथ और छः मास तक मीननाथ (अवलोकितेश्वर) के रूप में पूजे जाते हैं। इनकी यात्रा का भी यहाँ विशेष धूमधाम से आयोजन होता है।

हनुमान ढौका अपने अन्य अति अद्भुत मन्दिरों के लिये भी प्रसिद्ध है। इनमें से कुछ मन्दिरों में साल में केवल एक-दो दिन ही देवविग्रह के सार्वजनिक दर्शन होते हैं। तुलजा भवानी शिवाजी महाराज की आराध्या देवी थी। इस विषय की चर्चा हम अपनी द्वादश ज्योतिलिंग यात्रा में भी कर चुके हैं। यहाँ भी तुलजा (तलेजू) देवी का मन्दिर है। नवरात्र की अष्टमी और नवमी को ही इनका दर्शन हो सकता है। तारा मन्दिर सामान्य जनता के लिये प्रायः अगम्य ही रहता है। यहाँ आकाशभैरव, आनन्दभैरव, आनन्दभैरवी आदि के भी मन्दिर हैं। इनके भी मूल विग्रह का दर्शन कुछ विशिष्ट अवसरों पर ही होता है। हनुमान ढौका को भीमसेन थान भी कहते हैं। नेपाल दरबार का प्राचीन स्थान यहीं था।

ललितपुर पाटन हम दो-तीन बार गये। अधिकांश समय हमने विद्वानों से सम्पर्क बनाने में ही बिताया। इनमें लिपिविशेषज्ञ, तन्त्रागम शास्त्र के निष्णात विद्वान् और नेपाल में उपलब्ध समस्त शिलालेखों के उद्धारक विद्वान् भी थे। सार्वजनिक पुस्तकालयों के अतिरिक्त व्यक्तिगत संग्रहों के लिये भी नेपाल, विशेष कर काठमाण्डू घाटी अतिसमृद्ध है। इन सब विद्वानों के पास

अपने-अपने समृद्ध संग्रह हैं। काठमाण्डू घाटी में जिन विद्वानों से हम मिले, उनमें वाराणसी में साधोलाल स्कालरशिप पाकर हमारे साथ शोधकार्य में व्यापृत और नेपाल के राष्ट्रीय अभिलेखागार के पूर्व अधिकारी पं० श्री बुद्धिसागर परांजुली, वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीनयराज पन्त, श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य, श्री हेमराज शाक्य, डॉ० धनवज्र वज्राचार्य और श्री आशा काजी वज्राचार्य प्रमुख थे।

एक दिन समय निकाल कर हमने ललितपुर पाटन के ऐतिहासिक और धार्मिक स्थलों का निरीक्षण किया। पाटन का राजदरबार अपनी समृद्धि तथा कलाकौशल के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ राजदरबार के एक कक्ष को अब संग्रहालय का रूप दे दिया गया है। संग्रहालय के अवलोकन के लिये निर्धारित समय-सीमा के बीत जाने के कारण हम इसको देख न सके। राजदरबार के सामने ही कृष्णमन्दिर और भीमसेन मन्दिर अपनी भव्य शोभा को बिखेरते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस राजदरबार परिसर से अनतिदूर हिरण्यवर्ण महाविहार स्थित है। नाम के अनुरूप यह बौद्ध विहार स्वर्णजटित है। यह भी नेपाली कला का एक उत्कृष्ट नमूना है।

१३ अक्टूबर को हमें वाराणसी वापस लौटना था। १२ ता० को केसर पुस्तकालय के बचे कार्य को निपटाने के बाद भक्तपुर जाने का विचार किया था, किन्तु वापसी हवाई यात्रा में उत्पन्न विघ्न-बाधा को दूर करने में ही सारा दिन बीत गया और इस प्रकार हम काठमाण्डू घाटी की इस प्राचीन नगरी का अवलोकन न कर सके॥

—: ० :—

निगमागम संस्कृति :: विषयानुक्रमणी

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

परिवर्धन एवं संशोधन

पृष्ठ पंक्ति

२ २६ स्वच्छन्दतन्त्र के निम्न वचन में भी इन ३६३ दृष्टियों का उल्लेख इस प्रकार है—"इत्येवंवादिनां तेषां वादानां तु शतत्रयम् । त्रिषष्टिरधिकाश्चान्ये" (१०। ६८०-६८१)।

४ २२ इस न्याय के विपरीत एक दूसरा न्याय भी संस्कृत साहित्य में मिलता है—"नहि करिणि प्रत्यक्षे चीत्कारेण तदनुमानम्" ।

५ ९ नवीन भारतीय दर्शन के उद्भव के विषय में "आगम और तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित 'भारतीय चिन्तन-परम्परा में नये दर्शनों की संभावनाएँ" (पृ० १८१-१८४) शीर्षक निबन्ध में हमने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। यहाँ पृ० १८५, पं० १८ पर अंकित विषय भी इसी से संबद्ध है।

६ ८ शैव-शाक्त आगमों में सांख्यसंमत २५ तत्त्वों के स्थान पर ३६ तत्त्वों को मान्यता मिली है। वहाँ सांख्यसमत २५ तत्त्वों के स्वरूप में भी थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त की रचना तन्त्रालोक का नवाँ आह्निक देखा जा सकता है।

२६ १ बड़ोदरा (गुजरात) की किसी संस्था के लिये लिखा गया यह निबन्ध कई वर्ष बीत जाने के बाद भी वहाँ से प्रकाशित न हो सका। उस संस्था के द्वारा विभिन्न भारतीय दर्शनों में जीवात्मा के स्वरूप पर निबन्ध आहूत हुए थे।

२७ ४ लकुलीश पाशुपत मत की दृष्टि से जीवात्मा का स्वरूप तिब्बती संस्थान सारनाथ, वाराणसी में सम्पन्न हुई भारतीय तन्त्रशास्त्र सम्बन्धी कार्यशाला में पढ़े गये हमारे "पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत" शीर्षक निबन्ध में देखा जा सकता है।

२८ ६ सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० ६५) में शास्त्रविहित कर्म का आचरण तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्म का वर्जन, यही चर्या का लक्षण बताया गया है। इसकी पुष्टि मृगेन्द्रागम चर्यापाद के इस वचन से होती है—"अतोऽन्ये समयाचाराः शैवे वर्त्मनि तिष्ठताम् । चर्यापादेऽभिधास्यन्ते चर्या वै चरणं यतः ॥" (८।१७३-१७४)। शैवागमों में इसी लक्षण का अनुवर्तन किया

पृष्ठ पंक्ति

गया है, किन्तु पांचरात्र आगम की पाद्मसंहिता के क्रियापाद में—"कर्षणादिप्रतिष्ठान्तं क्रियाविधिमतः शृणु" (१।६) इस वचन के अनुसार भूमिकर्षण से प्रतिष्ठा पर्यन्त विषय वर्णित हैं और दीक्षा का समावेश चर्यापाद में किया गया है। साथ ही उत्सव, व्रत आदि का विधान भी इसी पाद में प्रदर्शित है। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित क्रिया-चर्या तन्त्रों के विषयों की स्थिति भी अभी अस्पष्ट है। वस्तुतः आगमों के इन पादविभागों के पुरोधा शैवाचार्य ही हैं, अतः इन शब्दों का प्रधान अर्थ उनके द्वारा प्रदर्शित ही माना जाना चाहिये। अन्य अर्थों में इनका प्रयोग गौण या लाक्षणिक पद्धति से ही स्वीकार्य होगा।

२८ १४ नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ० ५६-५७) में चतुष्पीठ विभाग का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। मुद्रा, मण्डल, मन्त्र और विद्या नामक इस पीठ विभाग के अन्तर्गत आने वाले तन्त्रों में प्रधानतः इन्हीं विषयों का निरूपण किया गया होगा। सिद्धा और मालिनी को विद्यापीठप्रधान तन्त्र माना गया है। योगिनीहृदय (२।७८) में विद्यापीठ-निबन्धों की चर्चा है। स्वच्छन्दतन्त्र (१।५) स्वयं अपने को चतुष्पीठ महातन्त्र कहता है। प्राचीन भैरवागम विशेष कर ब्रह्मयामल आदि यामल तन्त्रों के प्रकाशन के उपरान्त ही यह विषय अधिक स्पष्ट हो सकता है।

३८ १ "तन्त्रशास्त्राणां सामयिक उपयोगः" इस संस्कृत निबन्ध में तथा "युटिलिटी आफ तन्त्राज" शीर्षक से किये गये इसके अंग्रेजी अनुवाद में यह विषय अधिक विस्तार से प्रतिपादित है।

५० ८ गन्धर्वनगर, मृगमरीचिका, रज्जुसर्प, केशोण्ड्रक के समान भ्रान्ति के १२ आधारों का वर्णन आर्यदेवकृत बौद्ध ग्रन्थ स्वाधिष्ठानप्रभेद में इस प्रकार मिलता है—"मायामरीचिर्गन्धर्वनगरः शक्रकार्मुकम्। दर्पणः प्रतिबिम्बश्चोदकचन्द्रः प्रतिध्वनिः॥ स्वप्नमायाऽभ्रपटलं विद्युद् बुद्बुद-संज्ञिता। माया द्वादशदृष्टान्तैर्विस्तरा चैकलक्षणा॥" (धीः, अं० १०, पृ० २२)। यहाँ केशोण्ड्रक का उल्लेख नहीं है, जो कि धर्मकीर्ति आदि दार्शनिकों का अत्यन्त प्रिय उदाहरण है।

६५ १३ लिंगपुराण में १४ वायुओं के नाम इस प्रकार हैं—"वायवो नाडिमध्यस्था वाहकाश्च चतुर्दश। प्राणो व्यानस्त्वपानश्च उदानश्च समानकः। वैरम्भश्च तथा मुख्यो ह्यन्तर्यामः प्रभञ्जनः। कूर्मकश्च तथा श्येनः श्वेतः कृष्णस्तथातिकः॥ नाग इत्येव कथिता वायवश्च चतुर्दश॥"

पृष्ठ पंक्ति

(१।८५।८१-८३)। हमें स्मरण रखना है कि पुराणों के संस्करण अभी ठीक से नहीं हुए हैं। इसीलिये इन नामों का सही विश्लेषण हम अभी नहीं कर सकते।

६६ ३० नेत्रतन्त्र (७।१) में वर्णित छः चक्र इनसे नितान्त भिन्न हैं। वहाँ इनके स्थानों और नामों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—"जन्म-नाभि-हृत्-तालु-बिन्दु-नादस्थानानि नाडि-माया-योग-भेदन-दीप्ति-शान्ताख्यानि.... चक्राणि" (नेत्रोद्योत, ७।१) इनके स्वरूप-विवेचन के लिये अभी और प्रयत्न अपेक्षित है। पुराणों में भी इनका स्वरूप मिल सकता है।

७५ १२ गुह्यसमाज के चार व्याख्या-तन्त्रों का उल्लेख "सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान" नाम से तिब्बती संस्थान, सारनाथ में सम्पन्न कार्यशाला के विवरण में प्रकाशित निबन्ध में मिलता है (पृ० १६४)। उनके नाम ये हैं–सन्ध्याव्याकरण, वज्रमाला, चतुर्देवीपरिपृच्छा और वज्रज्ञानसमुच्चय। वस्तुतः समाजोत्तर की भी गणना व्याख्या-तन्त्रों में ही होती है और इस प्रकार गुह्यसमाज से संबद्ध व्याख्या-तन्त्र पाँच हैं। लुप्त बौद्ध वचन संग्रह के प्रथम भाग का उपोद्घात (पृ० २४) देखिये।

७७ २ बौद्ध तन्त्र ज्ञानोदय के प्रारंभ में गिरिगुहा, महोदधि, वृक्षमूल, मातृका-गृह, शिवालय, विहार और चैत्यालय की भी इन स्थानों में गणना की गई है। कौलज्ञाननिर्णय में प्रकाशित ज्ञानकारिका में इनका उल्लेख इस प्रकार है—"एकलिङ्गे श्मशाने वा नदीनां संगमेषु च॥ शून्यागारे गुहावासे वृक्षमूले च चत्वरे। महोदधितटे चैव त्रिपथे वापि साधकः॥" (३।४-५)। वहाँ आगे इन पदों का आध्यात्मिक अर्थ बताया गया है। एकलिंग पद का विशिष्ट अर्थ शक्तिसंगमतन्त्र (१।८।११०-१११) में दिया गया है। इस प्रसंग में ऋग्वेद और यजुर्वेद का यह मन्त्र भी अवलोकनीय है—"उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥" (ऋ० ८।६।२८)। संगथेषु के स्थान पर यजुर्वेद (२६।१५) में संगमेषु पाठ है।

७८ १४ अभी जापान से गुह्यसमाज का एक नया संस्करण प्रकाशित हुआ है, किन्तु वहाँ भी ये पाठ पूर्ववत् टिप्पणियों में ही रखे गये हैं।

९४ ९ इस त्रुटि की ओर एक अन्य व्यक्ति ने भी इंगित किया है, किन्तु वह डॉ० रस्तोगी से उधार लिया हुआ है।

पृष्ठ पंक्ति

९७ १५ अतिमार्ग शब्द की हम कूर्मपुराण स्थित अत्याश्रमी शब्द से तुलना कर सकते हैं। वहाँ प्रायः पाशुपतों के प्रसंग में यह शब्द प्रयुक्त है।

१२० ८ मुहम्मदशाह से संबद्ध काव्य का नाम क्या था ? तथा वह आज उपलब्ध है या नहीं ? इसकी खोज होनी चाहिये । "न्यू कैटलागस कैटलॉगरम्" में तो कभी के छपे हुए 'पथिकजनपातकचिन्तनस्मृति' नामक इनके ग्रन्थ का भी नाम नहीं है।

१६३ २२ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सबसे अधिक विकृति असम में फैली है। आज इस राज्य के अनेक टुकड़े हो गये हैं और वहाँ भारतीय संस्कृति की अपेक्षा विदेशीय विकृति का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

१६५ १८ हिन्दी के प्रायः सभी आचार्य इस कमजोरी के शिकार हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी आँख मूंद कर इस बात को मान लिया है।

१६६ ५ हिन्दी साहित्यकारों का गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ विषयक अध्ययन भी पूरी तरह से अनेक भ्रान्तियों से भरा हुआ है।

१६८ ७ सिद्धों और नाथों के दृष्टिकोण कहाँ तक भिन्न या अभिन्न हैं, इसके लिये अभी बौद्ध तन्त्रों और प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में गहरे अनुशीलन की अपेक्षा है।

१८८ ३२ 'भी' के स्थान पर 'ही' पढिये।

१९३ ३२ महायान बौद्ध धर्म में वर्णित त्रिकायवाद के समान शैवागमों में शिव की लय, भोग और अधिकार मूर्तियों की चर्चा है। धर्म, संभोग और निर्माण कायों से क्रमशः इनकी तुलना की जा सकती है। तुलना के लिये मतंग पारमेश्वरागम के विद्यापाद के तृतीय और चतुर्थ पटल देखिये। हमें यहाँ स्मरण रखना है कि संभोगकाय का अभिप्राय भी भोगकाय से ही है। आज कल जिस अर्थ में इसका प्रयोग किया जा रहा है, उससे नहीं।

२२४ ३१ "श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" यहाँ प्रयुक्त भोग शब्द का भी ऐहिक ऐश्वर्य का उपभोग ही अर्थ होना चाहिये, किन्तु व्यवहार में ऐसा है नहीं। आज कल यह "संभोग से समाधि" जैसे शीर्षकों का प्रेरणास्रोत बन गया है। इसको हम शुद्ध मठीय संस्कृति की देन कह सकते हैं। इसके साथ बौद्ध विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

पृष्ठ	पंक्ति	
२७७	२	भगवती हरसिद्धि देवी का मूल मन्दिर उज्जयिनी में माना जाता है। भक्तों के कल्याण के लिये वहाँ से वे काठियावाड़ पहुँचीं। भगवान् महाकाल की द्वितीय यात्रा के समय सन् १९९० में अपने ज्येष्ठ सुहृद्वर श्री जनार्दन पाण्डेय जी के साथ उज्जयिनी स्थित भगवती हरसिद्धि देवी का भी मैं दर्शन कर सका।
२७७	२५	भगवान् गोविन्द और माधव की मूर्तियाँ सिद्धपुर स्थित गोविन्द-माधव मन्दिर में भी अलग-अलग ही स्थापित हैं। महेसाणा आदि के मन्दिरों की भी ऐसी ही स्थिति है।
२७७	२९	अभी-अभी हमें पता चला है कि सुहृद्वर श्री छेलशंकर जी शुक्ल अब नहीं रहे। काल की कराल दंष्ट्रा से भला कौन बच सका है। इस अवसर पर हम पूरी कृतज्ञता के साथ उनके उपकारों का स्मरण करते हैं।
२७९	१३	डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य अब 'डी. लिट्.' की उपाधि से तो विभूषित हो ही चुके हैं, आज कल काशी के ज्ञानसिंहासन (जंगमवाड़ी मठ) पर जगद्गुरु श्री १००८ विश्वेश्वर शिवाचार्य जी महाराज के उत्तराधिकारी के रूप में भी वे ही विराजमान हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन इन्हीं के आशीर्वाद से हो रहा है।

—: ० :—



Jauhari Printers